उपनिषद् का उपदेश ।

तृतीय खण्ड ।

(ईश, केन, प्रश्न, माण्डूक्य ऐतरेय और तैत्तिरीय)

विस्तृत अवतरणिका सहित शङ्करभाष्य

का

स्वतन्त्र अनुवाद ।

मूल लेखक—

श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्य एम० ए०

अनुवादक—

श्री पं० नन्दकिशोर जी शुक्ल

प्रकाशक—

ब्रह्मप्रेस इटावा.

प्रथमवार १५००	सं० १९८० सन् १९२४	मूल्य १॥)

Printed by P. Vednidhi Misra at the
Brahma Press Etawah.

समर्पणम् ।
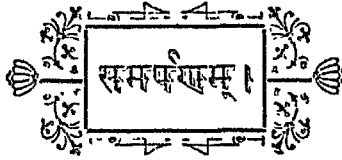
अद्वैतवादमुकुरः किल शङ्करस्य,
गाढं कुतर्करजसा बहुलावकीर्णः ।
तस्यैव भाष्यमवलम्ब्य मया कृतोऽस्मिन्,
कामं मलापनयनाय महान् प्रयत्नः ।

परिचिन्तितमत्र तत्पदं ग्रथिता ब्रह्मकथा पुरातनी।
इदमद्य करे समर्प्यते भवतः सादरमात्मतुष्टये ॥

श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्यः--

विषयानुक्रमाणिका.

प्रथम अध्याय।

द्वितीय अध्याय।

तृतीय अध्याय।

चतुर्थ अध्याय।

पंचम अध्याय।

इस विषयानुक्रमणिका में हमने अवतरणिका के अन्तर्गत विषयों की सूची नहीं दी है यह अवतरणिका बहुत विस्तृत है और उसमे वैदिक देवतावाद की अति सुगहन मीमांसा की गई है पाठक उसका आनन्द स्वयं अध्ययन कर के ही लाभ करें। इसमें लगभग १५० पृष्ठ हैं।

ग्रन्थवर्णनम्।

श्रुति का गूढ़ रहस्य शास्त्र अद्वैत कहाता।
दर्पण के सम रूप ब्रह्म का जो दिखलाता॥
कर शङ्कायें दूर मुक्ति का मार्ग बताता।
सृष्टितत्त्व का वर्णन इसमें पाया जाता॥

शङ्कर स्वामी ने उसे विस्तृत कर दिखला दिया।
उपनिषदों का भाष्यकर ब्रह्मतत्त्व समझा दिया॥

शङ्कर का अद्वैतवाद वह छिपा हुआ था।
संस्कृत के दुर्भेद्य दुर्ग में रुद्ध हुआ था॥
करके घोर प्रयत्न उसे बाहर कर डाला।
बोधगम्य भाषा में उसका किया उजाला॥

कोकिल(१)के इस गानसे रसिक भ्रमर सब मस्त हों।
वाणीभूषण(२) की मधुर भाषा पढ़ आश्वस्त हों॥

नामरूप हैं असत्, सत्य कारणसत्ता है।
जो कुछ है यह दृश्य जगत उसकी सत्ता है॥
करो कर्म फिर चढ़ो ज्ञान की निःश्रेणी पर।
दर्शन कर लो सूक्ष्म तत्त्व का भीतर बाहर॥

क्या हैं वैदिक देव सब यहां तत्त्व उपदिष्ट है।
कहो कौन सी बात है जो न यहां आदिष्ट है॥

प्रकाशक—

---

(१) मूल ग्रन्थ लेखक श्री पं० कोकिलेश्वर भट्टाचार्य (२) अनुवादक पं० नन्दकिशोर शुक्ल।

प्राक्कथन।

परमपिता परमात्मा की कृपासे आज हम उपनिषद्का उपदेश (तृतीयखण्ड) लेकर पाठकों की सेवा में उपस्थित होते हैं। इसके प्रथम खण्ड का अनुवाद लगभग १० वर्ष पहिले प्रकाशित हुआ था और उसके बाद आज इसका तृतीय खण्ड प्रकाशित होता है। इस तरह सन्देह नहीं कि इसके छपनेमें बहुत समय लग गया। परन्तु धैर्यका फल मीठा होता है इस नियमानुसार काम बहुत सुन्दर हुआ है पहले खण्ड में छान्दोग्य और बृहदारण्यक द्वितीय खण्ड में कठ और मुण्डक और प्रस्तुत तृतीय खंड में ईश केन प्रश्न ऐतरेय और तैत्तिरीय नामक पांच उपनिषदों का अनुवाद दिया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भाष्य स्वा० शङ्कराचार्य के भाष्य के आधार पर है। माण्डूक्य उपनिषद् के शङ्करभाष्य में जो कुछ ज्ञातव्य तत्व है उसको भी इस खण्ड के तीसरे अध्याय के अन्तिम परिच्छेद के तीसरे अंश में ग्रथित कर दिया गया है। इस तरह स्वा० शङ्कराचार्य के दसों उपनिषद् भाष्यों का यह सुन्दर अनुवाद तैयार होगया।

उपनिषदों के भाष्य यद्यपि अन्य भी कई प्रेसों में मुद्रित हुए हैं परन्तु उनमें अधिकतर तो साम्प्रदायिक भावों से युक्त हैं और किन्हीं २ में केवल साधारण अर्थ कर दिया गया है। श्रुति के दार्शनिक तत्वों की आलोचना का इन सब भाष्यों में प्रायः अभाव सा है। दूसरी बात यह है कि इधर पिछले समय में स्वा० शङ्कराचार्य सदृश कोई दिग्गज पण्डित भी नहीं हुआ जो दार्शनिक ग्रन्थियों की कठिनता को सुलझा सकता। भारतवर्ष के सिवाय यूरोप आदि देशों के दार्शनिक विद्वानों की भी यही सम्मति है कि भारतवर्ष के उन धार्मिक आचार्यों में जिन्होंने उपनिषद्विद्या का तत्व सर्वसाधारण के सम्मुख रक्खा है स्वा० शङ्कराचार्य का महत्व सर्वोपरि है। समस्त संसार उनकी फिलासफी को आदर दे रहा है और उस पर हृदय से मुग्ध है।

परन्तु यह कितने खेद की बात है कि स्वा० शङ्कराचार्यकी यह फिलासफी अभी तक सर्वसाधारण के हृदय का हार न बन सकी। इसका कारण यही है कि स्वामी शंकराचार्य ने अपने भाष्य संस्कृत में लिखे थे जिसका प्रचार क्रमशः घटता गया और केवल कुछ इने गिने विद्वानों को ही उसके आस्वादन का सौभाग्य मिला और शेष जन उससे वञ्चित रहे। यूरोप आदि देशों के तत्वान्वेषी विद्वानों ने अं-

ग्रेज़ी आदि भाषाओं में स्वा० शंकराचार्य के भाष्य के अनुवाद भी प्रकाशित किये गए भारत के विद्वानों ने उपनिषदों का यदि हिन्दी भाष्य भी लिखा तो वह स्वतन्त्र रीति से, स्वा० शंकराचार्य के गहन दार्शनिक सिद्धान्तोंका रसास्वादन केवल हिंदी पढ़ी लिखी जनता को कराने का प्रयत्न किसी ने न किया।

यह तो सभी जानते हैं कि नये मकान बनाने की अपेक्षा पुराने दृढ़ मकान की मरम्मत करना कहीं अच्छा है सो जब उपनिषदों पर स्वा० शंकराचार्य का भाष्य मौजूद है और उससे उत्तम भाष्य आधुनिक समय के विद्वानों को लिखना सम्भव नहीं तो क्यों न उसी भाष्य को सर्वसाधारण की सम्पत्ति बनाया जाय इसी विचार से पुस्तक के मूल लेखक श्री कोकिलेश्वर भट्टाचार्य विद्यारत्न एम० ए० ने यह प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। बङ्गभाषामें ऐसा सुन्दर ग्रन्थ लिखनेके कारण भट्टाचार्यजीका जितना अभिनन्दन किया जाय थोड़ा है।

मूल पुस्तक के सिवाय इस पुस्तक की जो विशेषता है वह इसकी अवतरणिका में है। अवतरणिका में अनेक ज्ञातव्य विषयों की आलोचना की गई है और अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त पर उठने वाले नाना आक्षेपों का सुन्दर समाधान किया गया है। वैदिक देवतावाद एक बड़ा जटिल विषय है। पाश्चात्य लोगों ने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ अपने ग्रन्थों में लिखा है और एक तरह से अपनी पुस्तकों में ऋषियों की यह हँसी उड़ाई है कि वे अनेक भौतिक जड़ देवताओं के पूजक थे और किसी भी आश्चर्यजनक बात को देखकर विस्मयाभिभूत हो जाते थे। प्रस्तुत अवतरणिका में इसका बड़ा सुन्दर समाधान किया गया है।

पुस्तक का अनुवाद श्री पं० नन्दकिशोर जी शुक्ल वाणीभूषण ने किया है। अनुवाद के विषय में हमें कुछ वक्तव्य नहीं, पाठक स्वयं देख सकते हैं कि कैसा सुन्दर और रोचक इसका अनुवाद हुआ है। प्रथम और द्वितीय खण्ड के अनुवाद की प्रशंसा अनेक विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की है।

इस पुस्तक के प्रकाशित होने में बहुत विलम्ब हुआ, कई वर्ष हुए तब इस का छपना प्रारम्भ हुआ था पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार इस में विलम्ब ही होता गया, हमें इसका खेद है और आशा है पाठक क्षमा करेंगे।

समय २ पर बाहर रहने के कारण और दृष्टिदोष से इस पुस्तक में कतिपय अशुद्धियाँ हो गयी हैं। वेदमन्त्रों के जो पते इस में दिये गये हैं वे भी सम्भव है ठीक न हों, पर वेदों की अनुक्रमणिका से उनका पता लग सकता है। अशुद्धियों के लिये शुद्धाशुद्ध पत्र लगाना हमने उचित नहीं समझा। पाठक प्रसङ्गानुसार समझ कर पढ़ें यही प्रार्थना है।

निवेदक—ब्रह्मदेव शास्त्री,

उपनिषद् का उपदेश ।

अवतरणिका ।

ग्रन्थ-प्रकाशके उद्देश्य आदि ।

१। उपनिषदों के उपदेश का यह तृतीय खण्ड भी प्रकाशित होगया। इसमें ईश, केन, प्रश्न, ऐतरेय और तैत्तिरीय नामक पांच प्राचीन एवं प्रामाणिक उपनिषदों का अनुवाद है। साथ में पांचों का शङ्कर भाष्य भी यथायथ भाव से अनूदित और विस्तृतरूप से व्याख्यात हुआ है भारत के उपनिषद् ग्रन्थों में जो ऊंची ब्रह्म-विद्या उपदिष्ट हुई है वह समस्त संसार के लिये अमूल्य सम्पत्ति है। कालचक्र के प्रभाववश पृथिवी के अन्य सब पदार्थ नष्ट होसकते हैं पर उपनिषदों की यह ब्रह्म-विद्या कभी लुप्त होने वाली नहीं, यह हमारा दृढ विश्वास है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य महाराज ने उपनिषदों का जो सुन्दर भाष्य बनाया है, वह भी भारत देश की एक अमूल्य सम्पद् है। श्री शङ्कर-भाष्य न होता तो उपनिषदोंके भिन्न २ स्थानों में अनेक प्रकार से बिखरे पड़े हुए तत्त्वों की एक धारावाहिक दार्शनिक श्रृङ्खला हमारे हृदयङ्गम न होसकती थी, एवं जो "अद्वैत-वाद" भारतवर्ष में इतना प्रसिद्ध हुआ है, वह भी समझ में न आता। किन्तु शङ्कर-भाष्य बड़ा कठिन है प्रत्येक स्थान पर भाष्यकार के सुगम्भीर मन्तव्यों का तात्पर्य निकाल लेना भी बहुत कठिन बात है।

इस महामूल्य मणिके अधिकारी होकर भी स्वदेश के साधारण जनगण इसके व्यवहार से वञ्चित हैं। इसका कारण उपनिषदों एवं भाष्यों का संस्कृत-भाषा में निबद्ध होना एवं विविध दार्शनिक जटिल तत्वों से परिपूर्ण रहना है। ये ग्रन्थ साधारण पाठकों के एक प्रकार अगम्य ही हैं। अपने देशके इसी गुरुतर अभाव को जानकर हम उपनिषदों के अनुवाद तथा प्रचार में प्रवृत्त हुए हैं। एवं भाष्यकार भगवान् के अभिप्रायों को राष्ट्रभाषा हिन्दी में फैलाने का उद्योग कर रहे हैं। परमात्मा की दया से प्रथम खण्डमें दो द्वितीय खण्डमें दो और इस तृतीय खण्डमें पांच उपनिषदों का इस प्रकार नव उपनिषदों का तात्पर्य तथा उनके भाष्य का अनुवाद प्रकाशित होगया। दशवें माण्डूक्य उपनिषद् के शङ्कर-भाष्य में जो कुछ प्रासंगिक ज्ञातव्य तत्त्व है उसको भी हमने इस खण्ड के तीसरे अध्याय के अन्तिम परिच्छेद

में ग्रथित कर दिया है। सुतरां सभी मुख्य माननीय उपनिषदों का शास्त्रीय सिद्धान्त प्रकाशित होगया। *

शङ्कर-भाष्य भली भांति समझ में आजावे, इसी उद्देश्य को लेकर हम इन ग्रन्थों के प्रचार में व्रती हुए हैं, यह बात हमारे पाठक महोदयों को अवश्य ही ज्ञात है। इस देशके लिये यह प्रणाली सर्वथा नवीन है। प्रथम और द्वितीय खण्ड की भांति इस खण्ड में भी हम एक 'अवतरणिका, लिखते हैं। यद्यपि मूलग्रन्थ में शंकर मत को विस्तृतरूप से व्याख्या करने का सुप्रयत्न पूर्ण चेष्टा के साथ किया गया है तथापि उपनिषदों में विक्षिप्त रूप से उपदिष्ट दार्शनिक मत तथा धर्म-मत की एक धारावाहिक एवं शृङ्खलाबद्ध भूमिका बिना, मूल और भाष्य के विभिन्न स्थलों में विप्रकीर्ण विषयों के सरलता से हृदयङ्गम होने की सम्भावना नहीं। यही विचार कर प्रथम खण्ड की अवतरणिका में उपनिषदों के दार्शनिक और धर्म मत की एक संक्षिप्त आलोचना हमने लिख दी थी। किन्तु श्रीशंकराचार्य जिस अद्वैतवाद की व्याख्या और पुष्टि करके जगद्विख्यात हुए हैं, भारत से प्रकाशित जो अद्वैतवाद धीरे २ यूरोप की विद्वन्मंडली में भी सादर उच्च स्थान पाने लगा है, उस अद्वैतवाद और मायावाद का यथार्थ तात्पर्य निर्णय एवं विस्तृत व्याख्या प्रदान करना अतीव आवश्यक होने से दूसरे खण्ड की अवतरणिका में हमने बड़े विस्तार से विचार करने की पूरी पूरी चेष्टा की है। हर्ष की बात है कि हमारी व्याख्या—प्रणाली विद्वानों द्वारा अनुमोदित और विशेषरूप से प्रशंसित हुई है। भारतके सभी सुशिक्षित सज्जन हमारे कार्य से सन्तुष्ट हुए हैं। द्वितीय खण्ड की अवतरणिका में शङ्करावलम्बित अद्वैतवाद और माया-वाद की व्याख्या करते हुए हमने शङ्कर-मत के सम्बन्ध में जो अनेक अनुचित विचार प्रचलित हो पड़े हैं एवं भाष्यकार के ऊपर मायावादका जो कलंक आरोपित हुआ है, उनसब मिथ्या विचारों या अयोग्य आक्षेपों का भ्रम दिखलाने में भी यथेष्ट चेष्टा की है।

किन्तु विचारने की एक बात और है। वह यह कि श्रीशंकराचार्यजी ने जिस

* श्वेताश्वतर उपनिषद् का भी शङ्कर-भाष्य मिलता है। यह उपनिषद् वेदान्तदर्शन में बारम्बार उल्लिखित या उद्धृत हुआ है। किन्तु इस भाष्य की भाषा शङ्कर-कृत है किम्वा नहीं इस विषय में सन्देह करने के कतिपय कारण हैं। अतएव इस उपनिषद् और भाष्य को परिशिष्ट रूप से एक पृथक् ग्रन्थ में प्रकाशित करने की हमारी इच्छा है।

उपनिषदों के उपदेशका मूल कहां है ?

अद्वैतवाद का व्याख्यान लिखा है, उसका वास्तविक मूल कहां है? कहां से ये सब सिद्धान्त लिये गये हैं? यह मूल-निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता है। उपनिषदों और वेदान्त दर्शन में जो उन्नत, वैज्ञानिक सृष्टितत्त्व देखा जाता है, उस सृष्टितत्त्व का मूल ऋग्वेद के मध्य में ही निहित है, यह बात हम द्वितीय खण्ड की अवतरणिका में दिखा चुके हैं। किन्तु अद्वैतवाद और मायावाद का मूल कहां है एवं साधन-प्रणाली का मूल कहां है, इस गूढ़ विषय की स्पष्ट आलोचना इस अवतरणिका में की जायगी। इस मूल निर्णय के होजाने से एक बड़े लाभ की सम्भावना है। जो लोग समझे विना भाष्यकार पर जगत् को मायामय कहकर उड़ा देने का एवं निर्गुण ब्रह्म के नाम से एक प्रकार शून्यवाद स्थापित करने का मिथ्या दोष लगाते हैं, उनकी धारणा ठीक नहीं, यह बात और भी अच्छी रीति से खुल जायगी। इस लिये मायावाद के मूल की खोज करलेना नितान्त आवश्यक हो पड़ा है।

और भी एक बड़ा कारण इस मूल निर्णय करने में आवश्यक जान पड़ता है। अनेक प्रतिष्ठित पण्डित भी कहने लगे हैं कि, ऋग्वेद में जो "देवतत्त्व" उपदिष्ट है—अग्नि, सोम, इन्द्र प्रभृति देवताओं के उद्देश्य से जो सब सूक्त हैं—वे सब जड़ पदार्थों के प्रति विस्मय प्रकाशक मात्र हैं !। प्रकृति के विस्मयकर कार्यों और सुन्दर दृश्यों के दर्शन से मुग्ध होकर आदिम मनुष्य अपने मनोंमें जो भाव लाते हैं, उन्हीं भावों से परिचालित वैदिक ऋषियों के मुख से भीति विह्वल और विस्मय प्रकाशक जो सब स्तुति-गाथा उच्चारित हुई थी, उसी से ऋग्वेद भरा पड़ा है: कार्य कारण का सम्बन्ध-निर्णय, शक्तिका मौलिक एकत्व, ब्रह्म-चैतन्य के एकत्व की परिस्फुट धारणा-ये सब समुन्नत तत्त्व वैदिक युग के आदि में आविष्कृत नहीं हुए! वे कहते हैं कि, जड़-प्रकृति की जड़ीयदृश्यावली को ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र "देवता" मानकर वैदिक ऋषिगण स्तुति-उच्चारण करते थे। बहुत वर्षोंतक इसी प्रकार देवोपासना करते करते-बहुत काल बीत जानेपर अरण्यचारी कतिपय ऋषियों के चित्त में कहीं कुछ कुछ ब्रह्म विद्या का तत्त्व स्फुरित होने लगा था। उपनिषद् उसी ब्रह्म विद्याके ग्रंथ हैं। आगे चलकर वेदान्तदर्शन में ब्रह्मविद्या की अधिक आलोचना हुई है ?

२। परन्तु बहुत वर्षोंतक ऋग्वेद का स्वाध्यायकर हम अन्य प्रकार का ही

अद्वैतवाद और मायावादका मूल ऋग्वेद में है।

सिद्धान्त समझ सके हैं। हमारी यही धारणा दृढ़ हुई है कि भारत का अद्वैतवाद और मायावाद अति प्राचीन है, और इसका मूल ऋग्वेद है ऋग्वेद में अद्वैतवाद का स्पष्ट दर्शन होता है। उपनिषदों तथा वेदान्त दर्शन में जिस मायावाद और साधन प्रणाली को देख कर हम विस्मित होते हैं—चमत्कृत होते हैं वह ऋग्वेद से ही लिया गया है। वह ऋग्वेद का ही आविष्कार है—वह ऋग्वेद की ही सम्पत्ति है। हां श्रीशङ्कराचार्यजी ने उस का प्राञ्जल और सुविस्तृत व्याख्यान कर जगत् में उसका पूर्ण प्रचार अवश्य कर दिया है। उन्होंने कोई नवीन मत नहीं कल्पित किया। अद्वैतवाद और साधन प्रणाली का मूल ऋग्वेद में कहां किस प्रकार है इसी विषय का निर्णय इस अवतरणिका में किया जायगा।

उपनिषद् ग्रंथों में जगत् का जो कार्य कारणतत्त्व आलोचित हुआ है एवं कार्य कारणवाद का अवलम्बन कर जिस ब्रह्मतत्त्व के मूल तक उपनिषद् ग्रन्थ पहुंचे हैं। वह ऋग्वेद का ही आविष्कृत तत्त्व है। मनुष्य की चित्त वृत्तियों के विकाश के तारतम्यवश उपास्यवस्तुकी धारणामें भी भिन्नता हुआ करती है। ऋग्वेदने—उसी उपास्य वस्तु एवं उपास्य वस्तु की साधना को प्रणाली के भेद का अवलम्बन करके जिन तत्त्वोंको केवल साधन-प्रणाली के भीतर ही आबद्ध रक्खा था उन तत्त्वों को उपनिषदोंने दो भागों में विभक्त कर लिया है। जो ऋग्वेद में केवल साधन-प्रणाली में कहा गया है उपनिषदों में वही दो भागोंमें वर्णित हुआ है। ऋग्वेद की साधन प्रणाली के भीतर से—एक शृंखलाबद्ध दार्शनिक मत एवं दूसरा शृंखलाबद्ध धर्ममत निकाल कर उपनिषद् ग्रन्थोंमें उक्त दोनों मतों के सम्बन्ध में पृथक् पृथक् उपदेश दिया गया है। ऋग्वेद और उपनिषदों में यही पार्थक्य है। इसके विरुद्ध यह कहना कि ऋग्वेद में ब्रह्मतत्त्व और कार्यकारणतत्व नहीं;—उसमें दार्शनिक तत्व नहीं मिलता—वह तो केवल भौतिक कार्यावली के उद्देश्यसे प्रयुक्त हुई स्तुतिगीतियोंका ग्रंथ मात्र है;—ऐसा विचार करना सर्वथा अयुक्त है। इन सब बातों को हम आगे २ क्रमशः स्पष्टतया समझाने की पूरी चेष्टा करेंगे। किन किन प्रमाणों और युक्तियों के बलसे हम अपने उपर्युक्त सिद्धान्त को ही सत्य सिद्धान्त मानते हैं सो सब क्रमशः प्रकाशित किया जायगा।

उपनिषदोंके दार्शनिक और धर्म मतका संक्षिप्त विवरण।

३। किन्तु इस मूल अन्वेषण के पहले पाठकों की सुविधा के लिये उपनिषदोंके प्रतिपाद्य समुन्नत दार्शनिक मत एवं धर्म मत तथा दोनों की वर्णन शैली को संक्षेप में लिख देना हम यहां पर उचित समझते हैं।

(१) कार्य कारण-तत्त्व ही दर्शन-शास्त्रों की मूलभित्ति है। कार्य और कारण के सम्बन्ध विचार से ही दर्शन शास्त्रों की उत्पत्ति हुआ करती है। वेदान्त दर्शन में जो कार्य-कारण-वाद निर्णीत हुआ है उसका नाम "सत्कार्यवाद" है। इन्द्रियग्राह्य यह विशाल विश्व एक सद्वस्तु से ही अभिव्यक्त हुआ है*। एकान्त असत् वा शून्य किसी का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि कार्यों में कारण सत्ता अनुस्यूत—अनुगत होकर रहती है। यदि असत् ही कारण हो, तो कार्यों के भीतर असत् ही अनुस्यूत हो पड़े एवं ऐसी दशा में यह जगत् असदन्वित है, यही प्रतीति होती †। पर ऐसी प्रतीति आजतक कभी किसी को नहीं हुई और न हो सकेगी। जो असत् या शून्य है-अर्थात् जो कुछ है ही नहीं, वह किसी वस्तु का कारण नहीं हो सकता, वह किसी पदार्थ में अनु-स्यूत नहीं हो सकता। इस लिये निश्चय मानिये कि, एक सत् वस्तु ही विश्वके मूल में अवस्थित है, यही विश्व का उपादान है, यही संसार के समस्त पदार्थों में अनुस्यूत होकर विराजमान है ‡। यह उपादान सत्ता ही अनेक प्रकार के नामों और रूपों से अभिव्यक्त हुई है और यही उपादान सत्ता उन सबों के भीतर गुथी पड़ी है। सृष्टि का अर्थ क्या है? सृष्टि का अर्थ है-आधिक्य। जो कुछ पहले था उससे कुछ अधिक हो गया,

दार्शनिक मत।

कार्य और कारण का सम्बन्ध-निर्णय।

---

* प्रागुत्पत्तेः-आत्मैक शब्द-प्रत्ययगोचरं जगत्। इदानीमात्मैकशब्द-प्रत्ययगोचरं अनेकशब्द-प्रत्ययगोचरञ्चेति विशेषः।-ऐतरेय-भाष्य।"सर्वत्र द्वे बुद्धी सर्वैरुपलभ्येते समानाधिकरणे।... सन् घटः सन् पटः सन् हस्ती इत्येव सर्वत्र। तयोर्बुद्ध्योर्घटादिबुद्धिर्व्यभिचरति...नतु'सद्बुद्धिः, ।...तथाच 'सतश्च, आत्मनः अविद्यमानता न विद्यते, सर्वत्र अव्यभिचारात्।...येन सर्वमिदं जगत् व्याप्तं सदाख्येन ब्रह्मणा...नैतत्सदाख्यं ब्रह्म स्वेन रूपेण व्यभिचरति"-गीता-भाष्य २। १६॥ "कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु 'सत्त्वं, न व्यभिचरति, एकञ्च पुनः सत्यं"—वेदान्त-भाष्य, २। १। १६। "नाम रूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती" तैत्तिरीय भाष्य, २। ६। २।

† "असतश्चेत् कार्यं गृह्यमाणमपि असदन्वित एवस्यात्, नचैवं तस्मादस्तिब्रह्म" "सत्तोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते। यस्माद्यज्जायते किञ्चित् तदस्तीति दृष्टं लोके, घटाङ्कुरादिकारणं मृद्बीजादि। तस्मादाकाशादिकारणादस्ति ब्रह्म"।-तैत्तिरीय-भाष्य २। ६। २। यदि हि असतामेव जन्म स्यात् ब्रह्मणोव्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराऽभावात् असत्त्वप्रसङ्गः, माण्डूक्यकारिका शङ्करभाष्य, १। ६। * *"शून्यजत्वे नाम शून्यं रूपं शून्यमितीदृशः। शून्यानुवेधो भासेत सद्वेधस्त्ववभासते"। विद्यारण्यकृत 'अनुभूतिप्रकाश, २,। ३७।

‡ 'नच असतो अधिष्ठानत्वं आरोपितानुवंधाभावात्। तदनुवेधात्तु 'सतो,ऽ-

आगे चल कर और बढ़ गया—इसी का नाम है सृष्टि * । सृष्टि के पूर्व एक मात्र ब्रह्मसत्ता थी । उसीका अवलम्बन कर सृष्टि में कितने एक नामों तथा रूपों की अभिव्यक्ति हुई है । सुतरां ब्रह्मसत्ता एवं उसी सत्ता के आश्रय में अनेक नाम व रूप हैं,—इसी का नाम है सृष्टि । जैसे प्राणवायु का निरोध कर के कुंभक प्राणायाम करने पर, केवल जीवनकी क्रिया होती रहती है किन्तु शारीरिक हस्त-पद विक्षेपादि क्रिया उस समय नहीं होती, किन्तु कुम्भक छोड़ देने पर जीवन क्रिया के ऊपर अन्य हस्त-पद-विक्षेपादि कितनी ही अधिक क्रियाएं भी हुआ करती हैं † ; इसी प्रकार सृष्टि से पूर्व केवल ब्रह्मसत्ता रहती है, सृष्टि के होने पर उसी सत्ता को आश्रय कर अनेक नाम और रूप व्यक्त होजाते हैं ‡ । इन नाम रूपों को लेकर ही जगत् है । जगत् में जितने पदार्थ हैं, उन सबों का कोई न कोई नाम है । कोई न कोई रूप है । ये सारे नाम और रूप ब्रह्म-सत्ताके ही आश्रित हैं इनकी निजी कोई सत्ता नहीं । ब्रह्मसत्ता ही जब इन नाम-रूपों में अनुप्रविष्ट-अनुस्यूत हो रही है तब ब्रह्मसत्ता के ही द्वारा नाम रूप की सत्ता है । नाम रूपोंके भीतर भरी हुई सत्ता द्वारा ही हम ब्रह्मकी सत्ता

धिष्ठानत्वमेष्टव्यम् । तथाच प्राणादि भावानां"'सत्वेन व्यवहारसिद्धिः" । माण्डूक्यकारिका भाष्यव्याख्यायामानन्दगिरिः । ३ । ३२ "स्वाध्यस्तसकलविकारानुस्यूत-सत्तास्फूर्त्तिरूपः विकारोपमर्देन अनुसन्धेयः"—उपदेशसाहस्री १५ । १ । "सन्मूलाः सकलादेहाः इदानीञ्च सति स्थिताः । अन्ते सत्येव लीयन्ते विद्यात् सत्त्वमद्वयम्"—अनुभूतिप्रकाश २ ।१६॥ "नामरूपमसत्त्वं स्यात् 'सत्ताया, ब्रह्मरूपता"—अनुभूतिप्रकाश २।१६॥"सद्बुद्ध्यनुवृतेः सत्तानिवृत्तिरिति सत्वादिनां सत एव सदुत्पत्तिः सेत्स्यति" छान्दोग्यभाष्य ६ । २ । १ ।

* ''''''प्रकर्षेण जनिः (सृष्टिः) स्मृता । प्रकर्षोनाम पूर्वस्मादाधिक्यमधिका तु या । सा माया''" अनुभूतिप्रकाश २ । ४० ।

† यथा च लोके प्राणापानादिषु प्राणायामैर्निरुद्धेषु'''जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते, न आकुञ्चन-प्रसारणादिकं कार्यान्तरं, तेष्वेव प्राण-भेदेषु पुनःप्रवृत्तेषु जीवनादधिकमाकुञ्चन-प्रसारणादिकमपि कार्यान्तरं निर्वर्तते । वेदान्तदर्शन, शंकरभाष्यम् २ । १ । २० ॥

‡ "इदं जगत् नामरूपयुक्तमद्य सदीक्ष्यते । सृष्टेः पुरा सदेवासीत् नामरूप विवर्जितम् ॥ मृद्धेमलोहवस्तूनि विकारोत्पत्तितः पुरा । निर्विकाराण्युपादानमात्राण्यासन् यथा, तथा ॥ एकमेवाद्वितीयम् तत् सद्वस्त्विवत्यवगम्यताम्" । अनुभूतिप्रकाश, ३ । २६-३० ।

समझ पाते हैं। क्योंकि इनकी अपनी तो कोई सत्ता है नहीं ब्रह्म सत्तामें ही इनकी सत्ता है। इसी को कहते हैं कारण-सत्ता। यह सत्ता स्वीकार किये बिना ब्रह्म ही असत् होजायगा *

परमार्थ दृष्टि और व्यवहारिक दृष्टि

(ख) हम वेदान्तदर्शनमें सबसे पहले दो बातें देखते हैं। एक-परमार्थ दृष्टि; दूसरी-व्यवहारिक दृष्टि। भिन्न २ द्विविध अनुभव होने से यह दो प्रकार की दृष्टि की बात कही गई है। सुतरां इन दो प्रकार की दृष्टियोंके बीचमें वास्तविक कोई विरोध नहीं † अज्ञ या साधारण जन जिस भावसे इस जगत् का अनुभव करते हैं, उस का नाम 'व्यावहारिक दृष्टि, है। और तत्वज्ञानी दार्शनिक पण्डितगण जिस भाव से इस जगत् को जानते मानते हैं, उसका नाम है 'परमार्थदृष्टि,। इस लिये इन दोनोंमें कोई विरोध नहीं। दोनों के बीच सामञ्जस्य स्पष्ट है।

तत्वज्ञ व्यक्ति, इस नाम रूपात्मक जगत् में केवल एक ब्रह्मसत्ता ही अनुस्यूत देखते हैं। सूर्य चन्द्र, तरु लता, कीट पतङ्ग देहेन्द्रियादि-विविध और असंख्य नाम-रूपात्मक पदार्थों से ही यह जगत् है। पर तत्वदर्शी महात्मा इन सब वस्तुओं में किसी की भी 'स्वतन्त्र,-स्वाधीन सत्ता का अनुभव नहीं कर पाते। वे देखते हैं कि सब पदार्थों में एक कारण सत्ता वा ब्रह्मसत्ता ही ओत प्रोत हो रही है। इस कारण

---

* "मृदो घटशरावाद्या विकारास्तत्तदाकृतिः।"'आधारो मृत्तिकाधेय आकार-श्चोभयं-घटः।' आकृत्याधारयोस्तुल्यं भागत्वं न मृदं विना। केवलाकृतिमात्रः सन् घटः क्वापि समीक्ष्यते"। अनुभूतिप्रकाश, ३। १। १०। "स्थाणावारोपितश्चौरः यथा मृदि घटस्तथा।"'द्विविधव्यवहारस्य सद्भावेऽपि विवेकिनः। सत्यायाम् मृदि तात्पर्यं नानृतेऽस्ति घटादिके। ३। १६। २०॥ रज्जुदैर्घ्यं यथा सर्पधारादिष्वनुगच्छति। ब्रह्मसत्वं तथा व्योमवाय्वादिष्वनुगच्छति। ३।१३॥ "कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत् कारणं परं ब्रह्म। तस्मात् कारणात् परमार्थतः व्यतिरेकेण अभावः कार्यस्यावगम्यते"। वेदान्तभाष्य,।२। १। १४।

† यथा पुरोवर्तिनिभुजगाभावमनुभवन् विवेकी—"नास्ति भुजंगोरज्जुरेषा कथं वृथैव बिभेषीति"—भ्रान्तमभिदधाति। भ्रान्तस्तुस्वकीयापराधादेव भुजङ्गं परिकल्प्य भीतः सन् पलायते; न च तत्र विवेकिनो वचनं मूढदृष्ट्या विरुध्यते। तथा परमात्मकूटस्थात्मदर्शनं व्यवहारिकजनादि वचनेन अविरुद्धम्।-माण्डूक्यकारिका-भाष्ये आनन्दगिरिः। ४।५७॥ तैः (द्वैतैः) सर्वानन्यत्वात् आत्मैकदर्शनपक्षो न विरुध्यते। माण्डूक्यकारिका भाष्य। ३। १७।

ब्रह्मसत्ता में ही कार्योंकी सत्ता है–या यों कह लीजिये कि, ब्रह्मसत्ता में ही नामों और रूपोंकी सत्ता है। उन में से किसी की भी कोई निजी स्वतन्त्र या स्वाधीन सत्ता नहीं है।

किन्तु, जो साधारण अज्ञानी जन हैं, वे इस रीति से जगत् का अनुभव करने में असमर्थ रहते हैं। वे तो प्रत्येक पदार्थको स्वतन्त्र स्वाधीन सत्ता–विशिष्ट ही मानते रहते हैं। उन के चित्त में भेद बुद्धि बड़ी प्रबल रहती है। विचारे कारण सत्ता का कुछ भी समाचार नहीं जानते; केवल कार्यों या नाम रूपात्मक अंशमें ही यावज्जीवन निमग्न रहते हैं। हम एक दृष्टान्त की सहायता से वक्तव्य को परिष्कृत कर लेते हैं। विचार कीजिये कि,–सुवर्ण से मुकुट, हार, कुण्डल, कंकण आदि आभूषण बना लिये गये। यहां पर सुवर्ण है 'कारण, या उपादान एवं मुकुट, हार आदि हैं 'कार्य, अच्छा, इन दोनों अर्थात् कारण और कार्य का सम्बन्ध कैसा है? कह दीजिये कि, कार्य–कारण की ही एक विशेष अवस्था, एक रूपान्तर या एक आकार विशेष है। मुकुट, हार, कुण्डल आदि कार्य अपने कारण सुवर्ण के ही रूपान्तर–एक विशेष-अवस्था अथवा आकार विशेष हैं।

(१) साधारण जन कहते हैं कि, "सुवर्ण ही तो मुकुट, कुंडल, हार आदि पदार्थों में परिणत हुआ है। मुकुट, कुंडल प्रभृति पदार्थ अवश्य ही परस्पर भिन्न पृथक् पृथक् स्वतंत्र पदार्थ हैं। जैसे मुकुट एक स्वाधीन वस्तु है, वैसे ही कुंडल भी एक स्वतंत्र पदार्थ है" इत्यादि। इन भाइयों की दृष्टि उधर जाती ही नहीं कि सुवर्ण सत्ता ही मुकुट आदिमें अनुप्रविष्ट है। इनको नहीं समझ पड़ता कि, मुकुट आदि आकार धारण करने पर भी सुवर्ण की सत्ता में कोई क्षति–वृद्धि नहीं हुई। वह ज्यों की त्यों दीख पड़ती है। तथापि अज्ञानी जन मुकुट आदि को स्वतन्त्र पदार्थ रूपसे ही समझते हैं। इसी को कहते हैं— 'व्यवहारिक दृष्टि,

(२) किन्तु जो तत्त्वज्ञ परमार्थदर्शी जन हैं वे कदापि ऐसे भ्रममें नहीं पड़ते। अर्थात् मुकुट कुंडलादि को स्वतन्त्र स्वाधीन वस्तु मानने की भूल नहीं करते। उक्त सभी आभूषणों को एक मात्र सुवर्ण–सत्ता के आकार विशेष रूप से ही समझते हैं सुवर्ण की ही सत्ता उनमें अनुस्यूत है। यही ज्ञानियों का सुदृढ सिद्धान्त है। आप सुवर्ण को अलग करदें, फिर देखें मुकुट कुंडल आदि सभी उड़ गए। सुवर्ण के हटते ही न मुकुट है न कुंडल, न हार है न कंकण, अब बतलाइये इनकी स्वतन्त्रता का कहीं पता है? कहीं भी नहीं, त्रिकालेऽपि नहीं। सुवर्ण ही वास्तविक पदार्थ है। सुवर्ण सत्ता ही सत्य सत्ता है। मुकुट आदि आकार ही एक 'आगन्तुक, अवस्था मात्र हैं।

इस अवस्था के कारण सुवर्ण सत्ता में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। वह पहले भी सुवर्ण सत्ता थी अब भी सुवर्ण सत्ता है भविष्य में भी सुवर्ण सत्ता ही बनी रहेगी * यही है ज्ञानियों की "परमार्थ दृष्टि"।

इस भांति हमने विचार किया कि पदार्थ मात्र के दो दो अंश हैं। एक नामरूपात्मक अंश है और दूसरा नाम रूपों में अनुस्यूत ब्रह्मसत्ता या कारण सत्ता का अंश है†। अज्ञानी लोग इस स्थूल विकारी नामरूपात्मक अंश में ही निमग्न रहते हैं। पर विवेकी सज्जन इस अंश को निरन्तर रूपान्तर शील चञ्चल, उत्पत्ति-विनाशविशिष्ट ही मानते हैं। उनके सुविचारमें इस अंशकी कोई निजी सत्ता नहीं,-अतएव यह अंश 'असत्य, या 'मिथ्या, है ‡। श्रीभाष्यकार भगवान् इसी प्रकार नामरूपात्मक अंश को 'मिथ्या, 'असत्य, बतलाते हैं। इसी भाव को लेकर भाष्यों में बार बार यह नामरूपात्मक जगत् इन्द्रजाल सा असत्य, गन्धर्वनगरकी भांति कल्पित, मरुमरीचिका जैसा आगन्तुक और आकाशपुष्पवत् मिथ्या बतलाया गया है। ये सब उक्तियां केवल नामरूपात्मक विकारी अंश को लक्ष्य करके ही प्रयुक्त हुई हैं। नाम रूपों में अनुस्यूत-विकारिवर्ग में अनुप्रविष्ट-ब्रह्मसत्ता को लक्ष्य करके नहीं कही गई हैं +। श्रीशङ्करस्वामी ने मीमांसा कर

नामरूप असत्य हैं कारणसत्ताहीसत्य है

* घटे मृदः पृथक् भूते कीदृक् तत्वमुदीर्यताम्। वाचैवारभ्यते तत्वं किञ्चिन्न स्यात् खपुष्पवत्॥ कारणव्यतिरेकेण वाचैवारभ्यते वृथा,-अनुभूतिप्रकाश। आकृत्याधारयोस्तुल्यं भागत्वं न मृदं विना, केवलाकृतिमात्रः सन् घटः क्वापि समीक्ष्यते। स्थाणावारोपितश्चौरो यथा मृदि घटस्तथा। आरोपात् पूर्वमूर्द्ध्वञ्च तदभावात् असत्यता,-सदेव संस्थानान्तरेण अवतिष्ठते" छान्दोग्योपनिषद् भाष्य ६। २। १।

†...विकारेऽनुस्यूतं जगत्कारणं ब्रह्म निर्दिष्टं-तदिदं सर्वमित्युच्यते। यथा सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति, कार्यञ्च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः। वेदान्तदर्शन१। १। २५

‡ "प्रपञ्चजातस्य दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्, स्वरूपेण तु अनुपाख्यत्वात्" वेदान्त भाष्य, २। १। १४। "कार्यवर्गस्य परस्परव्यभिचारितया दृष्टनष्टस्वरूपत्वं" उपदेश साहस्री १८। ६७। विकार सदा रूपान्तर ग्रहण करते हैं, एक रूप को छोड़कर सर्वदा दूसरा रूप धारण करते रहते हैं। अतएव ये दृष्टनष्ट स्वरूप" हैं॥ विवेकिभिर्दृष्टं विश्वं, तच्च अतीव चञ्चलं नाशप्रायं वर्तमानकालेऽपि तद् योग्यतासत्त्वात्...तच्च नाशग्रस्तं नाशादूर्ध्वमसत्त्वमेवोपगच्छति; न तस्य तर्हि परमार्थत्वम्" माण्डूक्यकारिकाभाष्ये आनन्दगिरिः। ३। ३२॥

+ "सर्वत्र द्वे बुद्धी सर्वैरुपलभ्येते समानाधिकरणे।...सन् घटः सन् पटः सन् हस्ती इत्येवं सर्वत्र। तयोर्बुद्ध्योः घटादिबुद्धिर्व्यभिचरति...नतुसद्बुद्धिः"। गीता भाष्य। २। १६।

दी है कि, 'नामरूप के द्वारा, आकार के द्वारा ही जगत् असत्य है, ब्रह्मसत्ता द्वारा जगत् सत्य है * । जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जो कारण सत्ता वा ब्रह्मसत्ता अनुप्रविष्ट होकर आरही है वह चिर-सिद्ध है, वह परमार्थतः सत्य है † । जगत् के क्रमोच्च विकाश में ‡ अनुस्यूत सत्ता ही यथार्थ में सत्य सत्ता है। मिथ्या हैं नाम और रूप, इनको ही अस्थिर, परिवर्तनशील असत्य कहा गया है। यदि आप केवल इन आकारों में ही उलझे पड़े हैं और आकारों में ओतप्रोत ब्रह्मसत्ता की स्वतन्त्रता को भूलते हैं तो बड़ी भारी भूल करते हैं। भ्रम का मुख्य बीज इसी स्थान में है। ब्रह्म की स्वाधीन सत्ता को भूल जाना ही भ्रान्ति में पड़ जाना है + ।

उपर्युक्त विचार से तात्पर्य यह निकला कि, मूर्ख और विद्वान् की दृष्टि में आकाश पाताल का प्रभेद है। अज्ञानियों की भावना से जगत् 'सत्य, नहीं कहा जासकता। जगत् निश्चय ही 'असत्य, है कल्पित है। कारण सत्ता के अतिरिक्त किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होसकती। यही श्रीशङ्कर का सिद्धान्त है। और यही है उपनिषदों का अद्वैतवाद। यह अद्वैतवाद अति प्राचीन वाद है इसका आविष्कार श्री शङ्कराचार्य ने ही नहीं किया। ऋग्वेद में भी यह अद्वैतवाद परिस्फुट है। ऋग्वेद में जो साधन प्रणाली है ऋग्वेद में जो यज्ञानुष्ठान की पद्धति है,—उस पद्धति के भीतर अति स्पष्टता से यह अद्वैतवाद दृष्टिगोचर होता है। परन्तु उसे दिखलाने के पहले

* "विशेषाकारमात्रं तु सर्वेषां मिथ्या, स्वतः सन्मात्ररूपतया च सत्यम्" छान्दोग्यभाष्य, ८। ७४॥

† "स्थावरादारभ्य 'उपर्युपरि, आविस्तरत्वमात्मनः···आत्मप्रकाशनाय" ऐतरेयारण्यक भाष्य, २। ३॥

‡ यत् प्रागेव सिद्धं···पश्चादप्यवशिष्यमाणं, तन्न 'कल्पितम्, किन्तु 'स्वतः सिद्धं तत् 'कल्पितम्,—उपदेश साहस्री। यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् 'सत्,। यद्विषया व्यभिचरति तत् 'असत्,···घटादिबुद्धिर्व्यभिचरति नतुसद्बुद्धिः-गीताभाष्य

+ "स्वरूपेण अकल्पितस्य संसृष्टरूपेण कल्पितत्वमिष्टम्"—माण्डूक्यकारिका आनन्दगिरि ३। ३२। "नहिकारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम वस्तुतोस्ति यतः कारणबुद्धिर्विनिवर्तेत"—तैत्तिरीयभाष्य ३। १। "सत एव द्वैतभेदेन अन्यथा गृह्यमाणत्वात् नासत्वं कस्यचिद्वस्तुनो वयं ब्रूमः" छान्दोग्य भाष्य ६। २। १। घट का अनुभव यथार्थ में मृत्तिका कहकर ही कर्तव्य है। किन्तु अज्ञानी लोग ऐसा न करके घटको मृत्तिका से 'स्वतन्त्र, एक वस्तु मान बैठते हैं यही भ्रम है ।

इस उपनिषदों में उपदिष्ट धर्ममत की प्रणाली को भी पाठकों की स्मृति में आरूढ़ करा देना चाहते हैं। आगे उपनिषदों के धर्ममत का संक्षिप्त विवरण देखिये।

धर्म-मत या साधनप्रणाली

(ग) सर्वदा सब समाजों में देखा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति के चित्त की धारणाशक्ति एकसी नहीं हुआ करती। सब सज्जन सहसा निर्गुण सर्वव्यापी, नित्य पर ब्रह्म के निर्विशेष स्वरूप को समझने में समर्थ नहीं होसकते। और न ऐसा ही हो सकता है कि सभी लोग केवल इन्द्रियसुखपरायण एवं दैहिक विषय विदग्ध होकर ही सारा जीवन बितादें। प्रत्येक समाज में ऐसे पुरुषों का होना असम्भव नहीं, जिनका चित्त इस भूलोक के चञ्चल शब्दस्पर्शादि विषयों की शृङ्खला तोड़कर ऊर्द्ध राज्य की चिन्ता में एकदम तत्पर हो जाता है। मनुष्य-चित्त के विकाश का यही स्वाभाविक इतिहास है।

समाजभुक्त अधिक मनुष्यों का चित्त तो इतना निकृष्ट होता है कि वे प्रकृति के अतीत राज्य में किसी प्रकार भी प्रवेश करनेका साहस नहीं कर सकते। ये लोग पूरे संसारमग्न स्वार्थपर या इहलोकसर्वस्व होते हैं। अपनी इन्द्रियतृप्ति को ही एक मात्र लक्ष्य समझते हैं एवं इसी लक्ष्य को सन्मुख रखकर यावज्जीवन सांसारिक कार्यों में निमज्जित रहते हैं। ऐसे मनुष्य स्वाभाविक अन्धप्रवृत्ति के वशीभूत होकर परपीड़ादि कार्योंमें निमग्न रहते हैं,इस पृथिवीको छोड़कर अन्य किसी उन्नतलोक या सुख की बात नहीं जानते—जानना भी नहीं चाहते * ऐसे स्वाभाविक प्रवृत्ति-परिचालित मूढ़ व्यक्तियों के मन में ईश्वरतत्व और परलोक की बात मुद्रित कर देने के लिये, वे जिन सब पदार्थों द्वारा निरन्तर घिरे रहते हैं, उन सब पदार्थों की सहायता

क्रमपर्याय

से ही एवं उनकी प्रिय स्वार्थसाधिका इन्द्रियतृप्तिकारिणी प्रणालीसे ही धीरे धीरे क्रम पूर्वक उन के चित्तमें इन सब गम्भीर तत्वोंको भर देने की चेष्टा की जाती है। उनके सन्मुख प्रथमतः मनुष्योचित गुण विशिष्ट उपास्य का आदर्श धर दिया जाता है। नहीं तो ऐसे जड़ जीवों के आगे हठात् आत्मसुख विसर्जन वा परार्थ-परता का गुण कीर्तन करनेसे और निर्विकार निर्गुण ब्रह्मतत्वका उपदेश देनेसे किसी सुफल की आशा करना दुराशा मात्र है। मनुष्य की चित्तवृत्ति का ऐसा तथ्य (Psychological) सर्वदा ही देखा जाता है। इन सब इहलोक स-

---

*"रागद्वेषादिकस्वाभाविकदोषप्रयुक्तः शास्त्रविहित-प्रतिषिद्धातिक्रमेण वर्तमानः अधर्मसंज्ञकानि कर्माणि च आचिनोति बाहुल्येन, स्वाभाविक दोषबलीयस्त्वात्।"'एतेषां स्थावरान्ता अधोगतिः स्यात्"-ऐतरेयारण्यक उपक्रमणिकाभाष्य "अयंलोको नास्तिपर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे"—कठोपनिषद्।

वैस व्यक्तियों के निमित्त सबसे प्रथम उपनिषदोंमें सकाम द्रव्यात्मक यज्ञ समुपदिष्ट हुआ है *। मनुष्यापेक्षा समधिक ज्ञान व शक्तिशाली अथच मनुष्योचित गुणविशिष्ट स्वतन्त्र सत्तावाले देवगणों को उपास्य रूपसे बतला कर † इस लोक में धनमानादि लाभ एवं जीवन के पश्चात् परलोक या स्वर्ग में बड़ा सुख मिलेगा—ऐसी आशा देकर, ऐसे जड़बुद्धि मनुष्यों के चित्त में संसारासक्तिके स्थानमें देवभक्ति, एवं इस लोक से स्वर्ग लोककी ओर इनके चित्त को लगानेके उद्देश्यसे, यज्ञादि बहुल सकाम क्रिया काण्डका उपदेश दिया गया है। इस प्रकार साधना करते करते क्रमशः इनको भी ब्रह्म की जिज्ञासा हो जाती है ‡।

कर्म और ज्ञानका समुच्चयकारी

जिनका चित्त समधिक उन्नत है जो अपेक्षाकृत उन्नत विषय की धारणा में समर्थ हैं, उनके पक्षमें ज्ञानकाण्ड उपदिष्ट हुआ है। किन्तु ज्ञान-काण्डके कई स्तर हैं। पहले एक बार ही निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म-तत्त्व न बतलाकर कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय वा योग कर लेने की व्यवस्था दी गई है ×। फिर क्रमशः यह बतलाया गया है कि, उपास्य देवता कोई स्वतन्त्र या स्वाधीन तत्त्व नहीं हैं, सब एक कारण सत्ता के ही विकाश मात्र हैं, उन

---

* "अनात्मज्ञतया आत्मग्रहणाशक्तस्य इदं (कर्मकाण्डं) उपदिशति शास्त्रम्" ईशभाष्य। "कयाचित् शास्त्रकृतबलीयस्त्वं, तेन बाहुल्येन उपचिनोति धर्माख्यम्। तच्च द्विविधम्—केवलं ज्ञानपूर्वकञ्च। केवलं पितृलोकफलम्"—ऐतरेयारण्यकभाष्य उपक्रमणिका।

† अथ योन्यांदेवतामुपास्ते अन्योसावन्योहमस्मीति न स वेद"—इत्यादि, वृहदारण्यक-भाष्य। "देवान् देवयजो यान्ति, मद्भक्ता यान्ति मामपि, गीता।

‡ "सर्वैर्हि यज्ञदानतपोभिः पुण्यैः कर्मभिः···आत्मज्ञानमुत्पाद्यम्"—ऐतरेयभाष्य। "कर्मणा अग्निहोत्रादिना स्वाभाविकं कर्म हित्वा विद्यया देवज्ञानेन देवात्मभावमश्नुते"—ईशभाष्य मंत्र ११।

× "कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति"—केनोपनिषद् उपक्रमणिका। "ब्रह्मविद्यायां काम्यैकदेशवर्जितं कृत्स्नं कर्मकाण्डं तादर्थ्येन विनियुज्यते"—वृहदारण्यक भाष्य, ६। ५। २४। "येषां नित्यानि संस्कारार्थानि क्रियन्ते, तेषां ज्ञानोत्पत्त्यर्थानि तानि। संस्कृतस्य तस्य इह वा जन्मान्तरे वा आत्मदर्शनमुत्पद्यते"—वृ० भा० ५। ३। १। "मुमुक्षूणां नित्यादिषु अधिकारो न काम्येषु,—आनन्दगिरि।"··· तच्च द्विविध केवलं ज्ञानपूर्वकञ्च। ००० ज्ञानपूर्वकं तु देवलोकादि-ब्रह्मलोकान्त फलम्"। ऐ० भा० उपक्रमणिका।

के भीतर एक ब्रह्मज्योति ही जगमगा रही है एवं ब्रह्मसत्ता में ही उनका अस्तित्व है। ब्रह्म से अतिरिक्त उन का कोई पृथक् स्वतन्त्र ऐश्वर्य नहीं है* । इस भांतिकी भावना करते करते कार्यवर्ग की ओर फिर चित्त आकृष्ट नहीं होता। कोई सांसारिक वस्तु स्वतन्त्र नहीं जान पड़ती । अब तो एक कारण सत्ता पर ही चित्त रम जाता है । और ऐसा सुयोग्य साधक देवताओं के मध्य में अनुप्रविष्ट एकमात्र ब्रह्मसत्ता का ही अनुसन्धान करता रहता है । इस के मन में फिर किसी भी दूसरे पदार्थ का स्वातन्त्र्य-ज्ञान नहीं ठहरने पाता । ज्ञानकाण्ड का जो अन्तिम लक्ष्य है-सर्वत्र एक ब्रह्मानन्द का अनुभव ——वही सुदृढ़ हो जाता है † ।

साधकों के चित्त विकाश के तारतम्यानुसार इस प्रकार हम उपनिषदों में दो अंशों—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड-का उपदेश पाते हैं । इसी कारण उपनिषदों में द्रव्यात्मक और भावनात्मक दो प्रकार के यज्ञ वर्णित हुए हैं । जिन के चित्त में ब्रह्म जिज्ञासा उपस्थित हुई है उन के लिये द्रव्यात्मक यज्ञ के मध्य में ही पहले भावनात्मक-यज्ञ की प्रणाली कथित हुई है । वे यज्ञ के अग्नि आदि में यज्ञीय उपकरण द्रव्य एवं यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रोंमें एक ब्रह्मसत्ता का ही दर्शन करेंगे। एतादृश अनुभवके उत्तरोत्तर प्रबल होनेपर भीतर बाहर सर्वत्र सब अवस्थाओंमें ब्रह्मज्योति का ही प्रकाश देखेंगे । तब देवताओंकी स्वतन्त्र सत्तावाली प्रतीति अन्तर्हित होकर, चित्तके सुमार्जित होनेपर फिर उनको द्रव्यात्मक यज्ञ की आवश्यकता नहीं रहेगी । किसी यज्ञानुष्ठान के अवलम्बन विना ही उन महात्माओं को भीतर बाहर सब वस्तुओंमें केवल कारण सत्ता वा चैतन्यज्योति ही ओतप्रोत दीख पड़ेगी । यही है 'भावनात्मक यज्ञ, ‡ ज्ञानी पुरुष

* "सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारं ००० परमार्थ सत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात्"-ईशभाष्य ।

† "स्वाभाविक्या अविद्यया ००० नामरूपोपाधिदृष्टिरेव भवति, स्वाभाविकी । तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तराऽस्तित्वव्यवहारोऽस्ति । अयं वस्त्वन्तरास्तित्वाभिनिवेशस्तु विवेकिनां नास्ति"-बृ० भा० २ । ४ । १३-१४ ॥

‡ सभी अवस्थाओं में भावनात्मक-यज्ञ होता है। जाग्रदवस्थामें शब्दस्पर्शादि विषयेन्धन के योग से प्रबुद्ध आत्माग्निमें इन्द्रियां होम करती है। ऐसी भावना की जाती है । सुषुप्ति में प्राणशक्ति आत्माग्निमें होम करती है । ऐसा भी उपदिष्ट हुआ है । क्या जागरण क्या निद्रा,—सब अवस्थाओं और क्रियाओंमें इसी प्रकार ब्रह्म सत्ताका अनुभव करते रहने से क्रमशः अद्वैतज्ञान गाढ़ होता और विषयासक्ति कम पड़ती जाती है । ऋग्वेदने जगत् सृष्टि-व्यापार को एक 'पुरुष मेध यज्ञ, में परिवर्तन करके भावना का उपदेश दिया है।

सकाम द्रव्यात्मक यज्ञ न कर के ब्रह्मके उद्देश से केवल भावनामय अन्तर्यज्ञ के अनुष्ठान में ही अनुरक्त रहते हैं। उस अवस्थामें नाम रूपात्मक अंशका अनुभव स्वतन्त्र रूपसे किञ्चित् भी नहीं होता। नामरूपादिक उस ब्रह्मसत्ता के ही ऐश्वर्य वा महिमा के परिचायक रूपसे रह जाते हैं *। इस साधना वा सर्वत्र ब्रह्मसत्तानुभवके अत्यन्त दृढ़ होनेपर अन्तमें भेदबुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है। तब ऐश्वर्य रूपसे भी वस्तु की अनुभूति नहीं होती। सर्वदा सर्वत्र सर्व प्रकार से ब्रह्म ही ब्रह्म 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ज्ञात हुआ करता है। इस प्रकार जो साधक ब्रह्म की नित्यता और परिपूर्णता का प्रतिक्षण अनुभव करता हुआ ब्रह्मानन्द में मग्न रहा करता है। वही भाग्यवान् महात्मा "केवलज्ञानी" कहा जाता है। उपनिषदोंमें उक्तरीत्या साधना का विभाग लक्षित होता है। श्रीशङ्कराचार्य जी ने उपर्युक्त प्रकार से कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्डका विरोध मिटा दिया है। दोनों का ठीक ठीक समन्वय करके सब विषयों की समुचित संगति लगादी है †।

केवलज्ञानी

(घ) प्रायः प्रत्येक उपनिषद् में ही इन दो प्रकार के यज्ञों—द्रव्यात्मक और भावनात्मक यज्ञ—का उल्लेख है। कुछ पण्डित जानते हैं कि ऋग्वेद में केवल पुत्र पशु स्वर्गादि कामनासे सकाम यज्ञ उपदिष्ट हुआ है एवं उपनिषदों में केवलमात्र घोरतर अद्वैत ब्रह्मज्ञान उल्लिखित है। पर

द्रव्यात्मक और भावनात्मक यज्ञ

---

*"तत्रा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिः परेण परेण भूयसी भवति"—वे० भा० १।३।१०। छान्दोग्य में है कि, ब्रह्मलोक में जाकर साधक जन माता पिता पुत्र भ्राता प्रभृति का संकल्प करते हैं तो उनको स्वतन्त्र वस्तु रूपसे नहीं, ब्रह्मसत्ताके ही ऐश्वर्यरूपसे जानते हुए ब्रह्मानन्द में ही मग्न रहते इस प्रकार के अनुभव से किसी भी वस्तु का स्वातन्त्र्य बोध या भेदज्ञान नहीं ...। सभी पदार्थ ब्रह्मानन्द के ऐश्वर्यरूप—परिचायक चिह्न रूपसे अनुभूत हुआ हैं। महात्मा विज्ञानभिक्षुजीने वेदान्तभाष्यमें कहा है कि सिद्धदशा में जगत् के ...। पदार्थ परब्रह्मके "विशेषणरूपसे" प्रतिभात, होते हैं। अर्थात् प्रत्येक वस्तुके ऊपर की स्वातन्त्र्य बुद्धि सर्वथा विलुप्त हो जाती है।

† "एवं कर्मकाण्डेन सहज्ञानस्य एकवाक्यतावगतिः"—बृहदारण्यकभाष्य। "विदुषो विद्यावस्थायाम् सर्वमात्ममात्रं नातिरिक्तमस्तीति; विद्याद्वारा द्वैतस्य आत्ममात्रत्वात्"—माण्डूक्य, २। भाष्यकार ने जैसे द्वैत के होते भी अद्वैत सिद्ध करके दोनों का विरोध भंजन कर दिया है, वैसे ही कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के बीच लक्षित विरोध को भी हटाकर सब श्रुतियों की एकवाक्यता करदी है।

उपनिषदों का मनोयोगपूर्वक स्वाध्याय करने पर यह धारणा भ्रमात्मक सिद्ध हो जाती है। उपनिषद् यदि केवल ब्रह्मज्ञान के ही ग्रन्थ होते, तो उनमें हमें द्रव्यात्मक यज्ञकी चर्चा न दीख पड़ती। छान्दोग्य का प्रायः अर्द्धांश और बृहदारण्यक का प्रथम अंश—इस द्रव्यात्मक यज्ञ के विवरण से ही परिपूर्ण है। ईशोपनिषद् के "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः" मन्त्र में द्रव्यात्मक यज्ञ ही निर्दिष्ट हुआ है। सभी उपनिषदों में पहले सकाम द्रव्यात्मक यज्ञ एवं इस सकाम द्रव्यात्मक यज्ञ का अवलम्बन कर क्रमसे भावनात्मक यज्ञ, अन्तमें ठेठ अद्वैतवाद समुपदिष्ट हुआ है। ऐसा क्यों हुआ? ऐसा होने का कारण यह है कि, यह साधन प्रणाली भारत की अति प्राचीन सम्पत्ति है, और इसका मूल है ऋग्वेद। सबसे प्रथम ऋग्वेदने ही द्रव्यात्मक और भावनात्मक यज्ञ का तत्व बतलाया है। वही उपनिषदों में अविकल विराजमान है।

उपनिषदों में किस रीति पर इन दोनों यज्ञों की प्रणाली एवं दोनों यज्ञानुष्ठानों का फल निर्देशित हुआ है, उसका संक्षिप्त वर्णन अपने पाठकों की सुविधा के लिये करके, तत्पश्चात् हम ऋग्वेद की आलोचना में प्रवृत्त होंगे। ऐतरेय आरण्यक भाष्य में श्रीशङ्कर स्वामी जी ने यज्ञ का विवरण इस प्रकार दिया है।

(१) जो लोग स्वाभविक प्रवृत्ति के वश परिचालित हैं, वे स्वाभाविक रागद्वेष द्वारा प्रेरित होकर अपने इन्द्रियतृप्तिकर कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। इन का कर्म प्रायः परपीड़ादि द्वारा आत्मसुखार्थ होता है। कभी शुभ कर्म भी कर डालते हैं। ये लोग सर्वथा संसारपरायण अधर्माचारी होते हैं।

(२) इनकी अपेक्षा उन्नतचित्त कतिपय व्यक्ति इस लोक में पुत्र-वित्त-मान-यश की आशा से वा परलोक में सुख मिलने की आशा से, याग-यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होते एवं देवताओं के स्वतन्त्र अस्तित्व और फलदातृत्व में विश्वास करते हैं। इस श्रेणी के सज्जन 'केवलकर्मी, कहे जाते हैं।

(३) इनकी अपेक्षा भी जो उन्नततर-चित्त व्यक्ति हैं, वे कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय कर लेते हैं। देववृन्द को स्वतन्त्र न समझ कर, देवता कारणसत्ता के ही विकाश हैं,—ऐसा ही अनुभव करते हैं। ऐसे लोग दो श्रेणीमें विभक्त होते हैं।—(क) द्रव्यात्मक यज्ञों के आचरण काल में, यज्ञ के मंत्रों तथा उपकरणों में साथ ही यज्ञों के उपास्य अग्नि आदि देवों में अनुस्यूत ब्रह्मसत्ता के अनुभव का अभ्यास करने वाले (ख) दूसरे कुछ व्यक्ति द्रव्यात्मक यज्ञोंका वर्जन करते हुए, भीतर और बाहर केवल भावनात्मक यज्ञों में लगे रहने वाले होते हैं। इनका एकमात्र लक्ष्य सर्वत्र ब्रह्मसत्ता का अनुभव करना होता है।

(४) इस भांति सर्वत्र ब्रह्मसत्ता की धारणा परिपक्व हो जाने पर, केवल एक अद्वैत तत्त्व ही सर्वथा जागरूक हुआ करता है। भेदज्ञान एकबार ही तिरोहित होता जाता है। इनको कहते हैं 'केवल ज्ञानी,।

आचार्यचरणों ने उक्त रीत्या साधन का श्रेणीविभाग कर साधन के फल का भी निर्देश किया है। केन उपनिषद् की अवतरणिका में हम साधन के श्रेणीभेद और साधन के फल सम्बन्ध में उल्लेख देखते हैं। वहां पर भाष्यकार कहते हैं,— जो लोग केवल मात्र स्वाभाविक प्रवृत्ति के परवश चलते हुए सांसारिक कर्मों में ही पचा करते हैं, अपने जीवन को पापाचरण में लगाये रहते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् अन्धतमसावृत स्थावर वा निकृष्ट पशु-पक्ष्यादि लोकों में अधः पतित होकर नाना प्रकार की यातना भोगते हैं।

देवयान और-पितृयान मार्ग

किन्तु जो 'केवलकर्मी, हैं—जो अभी तक देवता के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सके—जो स्वर्ग सुख की आशा से देवता को स्वतन्त्र वस्तु समझ कर यज्ञादि का अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् अभी तक कारणसत्ता का मनन नहीं कर सके, वे "पितृयान" पथ होकर निकृष्ट स्वर्ग में * जाते हैं। और जिन के मन में कारण सत्ता का तत्व सुप्रकाशित हो रहा है, जो देवताओं के भीतर भरी भवानी विभुसत्ता का ही अनुसन्धान करते हैं, यानी जिन के चित्त से देवों देवों का स्वातन्त्र्य बोध भाग गया है, सर्वत्र एक ब्रह्म ही ब्रह्म देखते हैं, वे 'देवयान, मार्ग होकर सूर्य मण्डल के भी ऊपर अवस्थित उन्नततर स्वर्ग लोकों में पहुंच जाते हैं। इन मुक्त महापुरुषों को पुनः लौट कर मृत्युलोक में नहीं आना पड़ता। साधन का सर्वोच्च फल यह ब्रह्मलोक-प्राप्ति ही है। ब्रह्मलोक में सर्वत्र ब्रह्म महिमा का ही अनुभव होता है। और जिन की भेद बुद्धि समूल उखड गई है—अद्वैतज्ञान समुज्वल हो उठा है—उन की गति किसी लोक विशेष में नहीं होती। ये सर्वदा ही जीवन्मुक्त रहते हैं †

* ये सब स्वर्ग ' लोक, सूर्यमण्डलके नीचे अवस्थित हैं।

† "यावद्धितन्नापनीयते, तावदयं कर्मफल-राग-द्वेषादिस्वाभाविकदोषप्रयुक्तः शास्त्रविहितप्रतिषिद्धातिक्रमेण वर्त्तमानः मनोवाक्कायैर्दृष्टादृष्टानिष्टसाधनानि अधर्मसंज्ञकानि कर्माणि उपचिनोति बाहुल्येन। स्वाभाविकदोषबलीयस्त्वात्। ततः स्थावरान्ता अधोगतिः। कदाचित् शास्त्रकृतसंस्कारबलीयस्त्वम्; ततोमनआदिभिरिष्टसाधनं बाहुल्येन उपचिनोति धर्माख्यम्। तद्द्विविधम्—(क) ज्ञानपूर्वकं (ख) केवलञ्च तत्र केवलं पितृलोकादिफलम्। ज्ञानपूर्वकन्तु देवलोकादिब्रह्मलोकान्तफलम् तथा च—आत्मयाजी श्रेयान् देवयाजी न"। इत्यादि, स्मृतिश्च द्विविधं कर्म वैदिकम् इ-

४। उपनिषदोंमें इसी प्रकार साधना और साधकोंका श्रेणीविभाग उल्लिखित हुआ है*। अब संक्षिप्त रूपसे देखना चाहिये कि, उपनिषदोंमें भावनात्मक यज्ञ किस प्रणाली पर विवृत हुआ है। अच्छा मन लगा कर विचार करिये कि भावनात्मक यज्ञ का क्या उद्देश्य है? जो विशाल कारणसत्ता इस ब्रह्माण्ड के अगणित कार्यों में नामों तथा रूपों में ओतप्रोत हो रही है उसका ज्वलन्त अनुभव करना ही भावनात्मक यज्ञ का एक मात्र उद्देश्य है। यही एक मात्र लक्ष्य है। मनुष्य जिससे पुत्र-पशु-वित्त-स्वर्गादि की कामना में प्रलुब्ध न होकर सब पदार्थोंमें ब्रह्म का अनुभव करे एवं सब क्रियाओंमें ब्रह्मकर्तृत्व को समझे सर्वदा जागृत होकर रह सके और सकाम द्रव्यात्मक यज्ञ निष्काम भावनात्मक यज्ञ में परिणत हो सके—यही इस भावनात्मक यज्ञका एक मात्र लक्ष्य है†। इस लक्ष्यके साधनार्थ उपनिषदों में बड़ी ही सुन्दर पद्धति अवलम्बित हुई है। छान्दोग्य उपनिषद् का

भावनात्मक यज्ञ की प्रणाली।

स्यादि च। साम्ये च धर्माधर्मयोर्मनुष्यत्वप्राप्तिः।''' देवतात्वलक्षणमपि संसार एवं। तस्मात् ज्ञानसंयुक्तादपि कर्मणो न आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिः। आत्मज्ञानादेव केवलात् संसारनिवृत्तिः। इत्यादि। ऐतरेयारण्यकभाष्य उपक्रमणिका।

कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति। सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्त्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तयेच भवन्ति। स्वाभाविक्यातु अशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ता अधोगतिःस्यात्। विशुद्धसत्त्वस्यतु'''विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा भवत्येव"। इत्यादि। ज्ञानविशिष्ट कर्मोपासना के दृष्टान्त रूप से इस स्थल पर आनन्दगिरि कहते हैं—"पाञ्चभक्तिकं साप्तभक्तिकं च साम, तद्विषयकानि उपासनानि पृथिव्यादिदृष्ट्या उक्तानि, प्राणदृष्ट्या गायत्रसामोपासनञ्च॥ भाष्यकार का लेख केनोपनिषद्की उपक्रमणिका में है। इस सम्बन्ध में छान्दोग्य देखो।

* "आश्रमिणो वर्णिनश्च 'कार्यब्रह्मोपासकाः,-हीनदृष्टयः। 'कारणब्रह्मोपासकाः,-मध्यमदृष्टयः। अद्वितीयब्रह्मदर्शनशीलास्तु-उत्तमदृष्टयः।—'''त्रिविधेषु मध्ये तेषां मन्दानां मध्यमानाञ्च उत्तमदृष्टिप्रवेशार्थं दयालुना वेदेन उपासना उपदिष्टा"-माण्डूक्यकारिकाभाष्यव्याख्यायामानन्दगिरिः, ३।१६।

† फलकामिनाम्'''अनुष्ठीयमानं कामित-फलाय भवति। फलानभिसन्धिना तु अनुष्ठीयमानं ब्रह्मविद्यार्थं भवति-तैत्तिरीयभाष्यव्याख्यायाम् ज्ञानामृतयतिः। "मनुष्यलोकपितृलोकदेवलोकसाधनत्वेन हि पुत्रादिसाधनानि श्रुतानि। न आत्मप्राप्तिसाधनत्वेन। न च ब्रह्मविदोऽभिहितानि काम्यत्वश्रवणात्। ब्रह्मविदश्च अकामत्वात्।—बृ० भा० ४।१। "आत्मनोऽन्यविषया विलक्षणा एषणा-। बृ० ५।५

प्रायः आधा भाग इस पद्धति के ही अनेक उदाहरणों से परिपूर्ण है बृहदारण्यक में भी यही बात है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक के इन सब स्थलों में, यज्ञ के उपास्य अग्नि आदि में यज्ञीय मन्त्रों में सामगान में और यज्ञ के अन्यान्य उपकरणोंमें सर्वत्र 'प्राणशक्ति, का अनुभव उपदिष्ट हुआ है। द्रव्यात्मक यज्ञों में पञ्चावयव तथा सप्तावयव विशिष्ट साम उच्चारित होता है। इन सब मंत्रों में पृथिव्यादि दृष्टि करनी पड़ेगी यही उपनिषदोंका उपदेश है। इस उपदेशका तात्पर्य क्या है? आकाश, अन्तरिक्ष, अग्नि, आदित्य, विद्युत् प्रभृति सब आधिदैविक, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन प्रभृति सब आध्यात्मिक पदार्थ एक प्राणशक्तिके स्पन्दनसे ही अभिव्यक्त हुए हैं, सामगान वा साममन्त्र भी उसी प्राणशक्ति की अभिव्यक्ति है। क्योंकि, प्राणशक्ति ही तालु, कंठ, जिह्वा प्रभृति अष्ट स्थानों में आघात पाकर वाक्य या स्वर रूप से प्रकट होती है। सामगान के मन्त्रों में पृथिवी सूर्यादिकी दृष्टि * का जो उपदेश छान्दोग्यमें दृष्टिगत होता है, उसका अभिप्राय यही है कि, साममन्त्रों में और पृथिवी प्रभृति में अभेददृष्टि हो उठेगी। आकाश, नक्षत्र, अन्तरिक्ष, विद्युन्निनाद, मेघगर्जन और वृष्टिधारा के वर्षण-शब्द में, सर्वत्र ही मानो एक सामगान ही हो रहा है। पशु-पक्षी-कीट-मनुष्य, मानो सर्वदा ग्रीष्म-वर्षा, शिशिर-हेमन्त में सामगान में ही मग्न हो रहे हैं। इस प्रकार यज्ञ के मन्त्र-सब पदार्थों की मौलिक एकता का बोध करा देते हैं। यज्ञके अग्नि सूर्यादि उपास्य देव भी उस मूल प्राणशक्ति की बात स्मरण करा देते हैं। क्या बाह्यिक, क्या आन्तरिक सभी वस्तुओं का मौलिक एकत्व बोध ही सब उपदेशों का उद्देश्य है। अन्य प्रकार से भी यह महान् तत्त्व उपदिष्ट हुआ है। ऋग्वेद के मन्त्र ही सामगान के मूलाधार हैं। वेही तान-लय-युक्त गीति में निबद्ध होकर साममन्त्ररूप में परिणत होते हैं। सुतरां साममन्त्र ऋग्वेद के ही आश्रित हैं। अतएव यज्ञ में साममन्त्र उच्चारित होते ही साधक के चित्त में यह तत्त्व उठना आवश्यक है कि, आकाश में सूर्य, अन्तरिक्षमें वायु, और पृथिवीमें अग्नि आश्रित वा प्रतिष्ठित है। और साम मन्त्र ऋक् मन्त्रोंमें आश्रित व प्रतिष्ठित हैं। सुतरां साममन्त्र के उच्चारित होते ही साधक के मन में मानों सूर्य वायु प्रभृतिके आकाशादिमें आश्रित रहने की बात उठने लगती है। यही उपदेश

* "आदित्यादिमतय एव उद्गीथादय उपास्याः। ...ऋगादिष्वपि पृथिव्यादि दृष्टिः कर्तव्या। ... एवं प्राणात्मना साम उपास्यम्। वेदान्त भाष्य ३। ३। ४२-५०। प्राण एव मन्त्रशब्दाकारेण परिणमते ...सूक्तादिरूपाः सर्वावाचः... प्राण एव। ऐ० आ० भाष्य॥

दिया गया है। तत्पश्चात् यह भी लिखा गया है कि, सूर्यमण्डलस्थ सत्ता एवं चक्षु-रादि इन्द्रिय-मण्डलस्थ-सत्ता एक ही है—भिन्न नहीं। सारांश यह है कि, साम मन्त्र का गान होने पर भीतर और बाहर, मूल प्राणशक्ति की बात तुरन्त उठ आती है। फिर हम ऐसा भी उपदेश देखते हैं कि, सूर्य, प्राण एवं अन्न ही—यज्ञ में उच्चारण किये गए 'प्रस्तावादि मन्त्रों, के देवता हैं। इसका भी तात्पर्य इतना ही है कि, प्राणशक्ति ने ही पहले सूर्य चन्द्रादि विशिष्ट सौर जगत् उत्पन्न किया है एवं प्राणशक्ति अन्न (matter) के आश्रय में सर्वत्र क्रियाशील है। यह प्राणशक्ति ही शरीर में वाक् चक्षुरादि इन्द्रिय-शक्तिरूप से क्रिया करती रहती है। यज्ञ में जो मन्त्र वाक्य द्वारा उच्चारित होते हैं, उस का भी मूल प्राणशक्ति ही है। अतएव प्राण ही यज्ञीय मन्त्रों की उपास्य देवता है। इस के द्वारा शक्ति के विकाश का एकत्व-बोध ही उपदिष्ट हुआ है। जिस प्राणशक्ति से सूर्य, वायु, अग्नि प्रभृति अभिव्यक्त हुये हैं, उस प्राणशक्तिकी क्रिया ही यज्ञमें उच्चारित सामगानात्मक स्तोत्रों में व्यक्त होती है।

"संवर्ग विद्या" में दिखलाया गया है कि, जैव प्राणशक्ति से ही चक्षु, स्तोत्र, वाक्, मन प्रभृति इन्द्रियां व्यक्त हुई हैं। और अन्त में सब की सब उसी में लीन हो जावेंगी। बाहर और भीतर एक ही प्राणस्पन्दन नाना प्रकार से क्रिया करता रहता है। इस भांति आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पदार्थों की मौलिक एकता बतलाई गई है। बृहदारण्यक की 'मधु विद्या, में एवं अन्तर्यामि ब्राह्मण में भी यही एकत्व उद्घोषित हुआ है। सूर्य, चन्द्रमा, वायु और अग्नि आदि में अनुप्रविष्ट सत्ता एवं चक्षु, प्राण; श्रोत्र, मन प्रभृति में व्यापक सत्ता—दोनों एक हैं -अभिन्न हैं। 'इन्द्रियों के कलह, एवं 'देवताओं के कलह, में भी बतलाया गया है कि प्राणशक्ति ही सब इ-न्द्रियों के मूल में अवस्थित है और प्राणशक्ति ही सब देवताओं के मूल में है। "वैश्वानर-विद्या" में भी अन्य रूप से यही उपदेश है। सूर्य, चन्द्र आकाशादि आ-धिदैविक पदार्थों को विराट् पुरुष चैतन्य के अवयव वा अङ्गरूप से कल्पना कर के भावना करने का उपदेश दिया गया है। इस कल्पना के फल से सूर्यादि पदार्थों को फिर स्वाधीन तत्व मान कर उपासना करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। सब देवतावर्ग पर ब्रह्म पुरुष चैतन्य के ही अङ्ग प्रत्यङ्ग भासित होने लगते हैं। और अपने चक्षु-कर्णादि आध्यात्मिक अङ्गों में इन सब सूर्य चन्द्रादि आधिदैविक पदार्थों का अभेद आरोपित करके भावना करने की भी आज्ञा दी गई है। इस भावना के प्रताप से व्यष्टिदेह अन्तर्हित होकर, उस के बदले विश्वरूप ही अपना शरीर हो जाता है।

विश्व भी विराट् चैतन्य का अङ्ग ज्ञात हो जाता है इस प्रकार सभी पदार्थों का स्वातन्त्र्य ज्ञान तिरोहित होजाता है *

बृहदारण्यक के देवासुर-संग्राम वाली आख्यायिका में इस प्राण सत्ता वा कारणसत्ता की अनुभूति सुदृढ़ कर दी गई है। एक प्राण शक्ति ही आधिदैविक सूर्य, अग्नि प्रभृति रूपों से प्रकट हुई है, वही फिर जीव शरीर में आध्यात्मिक प्राण, ऊष्मा, चक्षु, कर्ण प्रभृति रूपों से भी प्रकट हुई है। और भी सुन्दर एक भावना प्रणाली लिखी है। प्राण का यह जो इन्द्रियादि रूपों से आध्यात्मिक विकाश है, सो देहबद्ध, ससीम, परिच्छिन्न है। किन्तु प्राण का जो सूर्य, चन्द्रमादि रूपों से आधिदैविक विकाश है, सो विश्वव्याप्त, असीम, अपरिच्छिन्न है। क्योंकि तेज, आलोक, वायु प्रभृति स्पन्दनाकार से विश्वव्याप्त है। साधक यदि शरीर मध्यस्थ परिच्छिन्न प्राणादि वायु को-अपरिच्छिन्न विश्वव्याप्त आधिदैविक वायु के साथ अभिन्न मानकर भावना करेंगे, तो इसी का नाम होगा इन्द्रियादिका "देव-भाव"। जितने दिनों तक इन्द्रियां देहबद्ध रूप से, परिच्छिन्न क्रियात्मक रूप से, समझी जाती हैं, उतने दिनों तक ही इन्द्रियों का 'असुर-भाव, है। इसी रीति से इन्द्रियों में देवभाव लाने का उपदेश है। हम इस आख्यायिका का यही तात्पर्य या भावना मार्ग पाते हैं कि, देह मध्यस्थ सम्पूर्ण इन्द्रियशक्ति को बाहर की अपरिच्छिन्न सूर्य चन्द्रादि आधिदैविक शक्ति से मिलाकर एक व अभिन्न कर लेना चाहिये। ऐसी भावना का फल होगा, भीतर और बाहर सब पदार्थों के मूल में एक ही प्राणस्पन्दन वा कारणसत्ता विहित है एवं सभी पदार्थ इसी कारणसत्ता की अभिव्यक्ति हैं—ऐसा महान् एकत्व बोध माण्डूक्योपनिषद् में भी आधिदैविक वस्तुओंके सहित आध्यात्मिक वस्तुओं की अभेद भावना उपदिष्ट है। एवं उभयविध वस्तुओं के मूल में जो एक प्राणशक्ति वा कारणसत्ता अनुप्रविष्ट है अथच इस कारण सत्ता द्वारा ही उभयविध सब पदार्थ एक हैं-अभिन्न हैं—यह सुमहती शिक्षा ही, यह सुमहान् एकता ज्ञान ही उक्त समस्त उपदेशों का सुलक्ष्य है। हम अन्य दृष्टान्तों का उल्लेख करके ग्रंन्थ कलेवर नहीं बढ़ाना चाहते। उपनिषदों के पाठक मूल ग्रन्थों को देखकर अनेक दृष्टान्तों का संग्रह कर सकते हैं। अस्तु हमारे लिखे दृष्टान्तों से पाठकों को उपनिषदों में उपदिष्ट 'भावनात्मक यज्ञ, की प्रणाली का अवश्य ही बहुत बोध होजायगा।

---

* वेदान्तदर्शन में भी इसी प्रकार यह "वैश्वानर विद्या" व्याख्यात हुई है। १।२।२८—३२ सूत्र देखिये।

वेदान्तका प्रतीकोपासना।

५। वेदान्तदर्शन में यह भावनात्मक यज्ञ ही "प्रतीकोपासना" नाम से विख्यात है। प्रतीक शब्दका अर्थ है अंग वा अवयव। "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" प्रभृति सूत्रों में इस प्रतीकोपासना का तत्त्व स्पष्ट उल्लिखित है। निकृष्ट पदार्थ में उत्कृष्ट का आरोप करके उपासना की जाती है। सूर्य, अग्नि, वायु, आकाश आदि कार्योंमें अनुस्यूत ब्रह्म की उपासना बतलाई गई है। सूर्यादि कार्यों में ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने का ही नाम 'प्रतीकोपासना, है। इसके द्वारा कार्यों में अनुप्रविष्ट कारणसत्ता का अनुभव सुदृढ होजाता है। शरीर के 'पञ्चकोषों में, भी आत्मदृष्टि उपदिष्ट हुई है। अन्नमयादि पञ्चकोषों में क्रमशः स्थूल फिर सूक्ष्म भाव से ब्रह्मदृष्टि रखने का जो उपदेश उपनिषदों में मिलता है वह भी इस प्रतीकोपासना से भिन्न कुछ नहीं है *। एकबार ही सहसा निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्मके दर्शनका उपदेश न देकर, अभिव्यक्त पदार्थों का अवलंबन कर उन सब पदार्थों में अनुस्यूत सत्ता के प्रति चित्ताभिनिवेश का उपदेश वेदान्त शास्त्र में बड़ी सुन्दर शैली पर दिया गया है। ज्यों ज्यों भावनाकी दृढ़ता बढ़ती जाती है, त्योंत्यों बाह्य अवलंबन की आवश्यकता मिटती जाती है। उस समय धीरे धीरे अवलंबन तिरोहित होजाता है, उसके स्थान में एक ब्रह्म ही रह जाता है। इसी उद्देश्य से वेदान्तदर्शन ने प्रतीकोपासना का तत्व बतला दिया है। उपनिषदों के भावनात्मक यज्ञ में अनेक स्थलोंमें हम वेदान्त कथित प्रतीकोपासना का ही स्वरूप देखते हैं। किन्तु स्मरण रहे इस भावनात्मक यज्ञ और प्रतीकोपासना की जड़ ऋग्वेद में ही है। पर ऋग्वेद के भीतर से उस जड़को खोज लेने के पहले वेदान्तदर्शन के एक और सिद्धान्त का उल्लेख करना यहां प्रासंगिक हो पड़ा है अन्यथा हमारा सिद्धान्त अधूरा रह जायगा।

कार्यों में कारण सत्ताका अनुसन्धान ही भावनात्मक यज्ञ और प्रतीकोपासनाका लक्ष्य है।

इस वेदान्तदर्शन के प्रथमाध्याय के प्रथम पादमें २२ वें सूत्रसे लेकर इस पाद के अन्तपर्यन्त कई सूत्र पाते हैं। इन सूत्रों की रचनाका कारण क्या है? इन सूत्रोंमें किस तत्व की मीमांसा कीगई है? सो सब बतला देना इस स्थान में अति आवश्यक है।

---

* "निर्गुणज्ञानार्थं समारोपितप्रपञ्चमाश्रित्य तत्त्वफलार्थानि उपासनानि विधीयन्ते" रत्नप्रभा। "बालविशेषेषु अनात्मसु आत्मभाविता बुद्धिः अनालम्ब्य विशेषं कंचित्, सहसा अन्तरतमप्रत्यगात्मविषया निरालम्बना कर्तुमशक्येति, दृष्टशरीरात्मसामान्यकल्पनया (अन्नमयकोषालम्बनेन) शाखाचन्द्रनिदर्शनन्यायवत् अन्तः प्रवेशयन्नाह" शङ्कर-भाष्य ॥

आकाश, प्राण, आदित्य, ज्योतिः (सूर्य और अग्नि) गायत्री छन्द,—ये सब शब्द प्रायः प्रत्येक उपनिषद् में प्रचुररूप से व्यवहृत हुए हैं सब परिडत जानते हैं कि ये शब्द भौतिक जड़ सूर्य प्रभृति पदार्थों का ही बोध कराते हैं। किन्तु उपनिषदों के नाना स्थानों में इन सब शब्दों के साथ कुछ ऐसे विशेषण लगाए गये हैं, जो सब एक मात्र ब्रह्म चैतन्य के प्रति ही प्रयुक्त होसकते हैं, जिनका व्यवहार भौतिक जड़ पदार्थों में कदापि नहीं किया जासकता। अनेक श्रुतियों में ऐसा लिखा है:—

"आकाश से ही सब भूत उत्पन्न हुए हैं, आकाश में ही ठहरे हैं और प्रलय में आकाश में ही अस्तमित होंगे—विलयप्राप्त होंगे"। "पृथिवी, शरीर, वाक्य, मन प्रभृति सभी गायत्री के ही पाद वा अंश हैं, गायत्री ही यह जगत् है" "ये सब परि-दृश्यमान स्थूल भूत प्राणमें ही विलीन होजाते हैं एवं उत्पत्ति कालमें प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं" "यह जो आकाश में एक प्रदीप्त ज्योति देखी जाती है, यह ज्योति सब प्राणियों के ऊपर अवस्थित है और भूरादि लोकों के भी अतीत है"। "आकाश ही तावत् नामरूपों की अभिव्यक्ति का कर्ता है, वही ब्रह्म है"। इत्यादि॥

अब विचार यह कर्तव्य है कि ये सब विशेषण किस प्रकार जड़ आकाश प्रभृति पदार्थों के प्रति प्रयुक्त हुए हैं? क्या श्रुतियोंके आकाश, प्राण प्रभृति शब्द, सबके परिचित भौतिक पदार्थों का ज्ञान नहीं कराते हैं? इस गम्भीर सन्देह का ठीक समाधान होजाना चाहिये। इस बात की मीमांसा के लिये ही वेदान्तदर्शन में इतने सूत्र रचे गये हैं। इन सब सूत्रोंके भाष्यमें भाष्यकार जिस मीमांसा तक पहुंचे हैं, वह आगे संक्षेप से लिखी जाती है। उन्होंने कहा है कि प्राण आकाश आदिक शब्द अवश्य ही सबके सुपरिचित भौतिक आकाशादि पदार्थों को बतला रहे हैं, वे अन्य किसी वस्तु को नहीं बतलाते। किन्तु एक बात है। वह यही कि उनके लिये जो सब विशेषण प्रदत्त हुये हैं, तद्द्वारा आकाश, सूर्यज्योति, प्राण प्रभृति जड़वर्ग के भीतर गुंथी हुई ब्रह्मसत्ता ही समझ पड़ती है। कारण कि कारणसत्ता से पृथक् कार्यों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है *। किन्तु बात तो यह है कि, यदि अनुप्रविष्ट कारणसत्ताको लक्ष्य करके ही ये सब शब्द प्रयुक्त हुए हैं, तो ऐसा करने का ही कारण है? स्पष्ट ही कारणसत्ता न लिख कर, आकाश सूर्य प्रभृति भौतिक पदार्थ माला क्यों लिखी गई? इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है-किसी भी कार्यकी कारणसत्ता से व्यतिरिक्त 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं है"। अर्थात् तत्त्वदर्शियोंके निकट कार्यवर्ग-अपने

*"विकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म निर्दिष्टम्—तदिदं सर्वम्, इत्युच्यते यथा 'सर्वं खल्विदंब्रह्म इति। कार्यं च कारणादव्यतिरिक्तमिति वक्ष्यामः"। १। १। २५।

कारण से अलग कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। सुतराम् जब ये सब आकाशादि स्वतंत्र वस्तु हैं नहीं, तो इन सब शब्दोंके द्वारा कारणसत्ता वा ब्रह्मसत्ता समझी जायगी। पर ऐसा समझने का ही हेतु क्या है? यही कि, आकाशादि शब्दों में प्रचुर परिमाण में "ब्रह्मलिङ्ग" वा ब्रह्म का परिचायक चिह्न वर्तमान है। जिन सब पदार्थों में ब्रह्मलिङ्ग वा ब्रह्म परिचायक चिह्न रहता है, उन सब शब्दों द्वारा उन सब पदार्थों का ज्ञान न हो कर उनमें अनुस्यूत कारणसत्ता वा ब्रह्मसत्ताका।ही बोध होता है। भाष्यकारका यह मन्तव्य विशेष रूप से मनमें रखना चाहिये। "आकाश से सब भूत उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही लीन हो जाते हैं"। यह सब कथन तो ब्रह्मलिङ्ग वा ब्रह्म का ही परिचायक चिह्न है। निष्कर्ष यह कि, आकाशादि शब्द किसी भौतिक पदार्थको न बतला कर सर्वव्यापक कारणसत्ता या परब्रह्म का ही जय जय घोष कर रहे हैं। यही वेदान्तदर्शन की महती मीमांसा है। अब यह कहना पिष्टपेषण है कि, वेदान्त की इस मीमांसा का भी मूलग्रंथ हमारा ऋग्वेद ही है। हम ऋग्वेद के देवतावर्ग में भली भांति ब्रह्मलिङ्ग वा ब्रह्म परिचायक चिह्न देखते हैं। किन्तु वह सब विषय पीछे विचारा जायगा। पहले ऋग्वेद की कुछ आलोचाना हो जानी चाहिये।

ऋग्वेद के देवतत्त्व की आलोचना।

(६) अब हम ऋग्वेदकी आलोचना करने में अग्रसर होते हैं। इस आलोचनासे वेदान्तदर्शन और उपनिषदोंमें समालोचित अद्वैतवाद तथा मायावाद एवं द्रव्यात्मक तथा भावनात्मक यज्ञका आदि मूल ऋग्वेद में हैं—यह स्पष्ट समझमें आ जायगा, ऐसा दृढ़ विश्वास है, हम ऊपर कह आए हैं कि, उपनिषदों में दो भाग हैं—एक दार्शनिक अंश वा अद्वैतवाद दूसरा ब्रह्मोपासना वा साधनमार्ग। वेदान्तदर्शनमें दोनों अंशोंकी पृथक् २ व्याख्या मिलती है। पर ऋग्वेदमें ऐसा सुस्पष्ट विभाग नहीं है। ऋग्वेद में एक उपासना अथवा साधनप्रणाली ही निबद्ध हुई है। किन्तु इस साधन-प्रणाली के भीतर जैसे अति आश्चर्य कौशल के साथ द्रव्यात्मक व भावनात्मक यज्ञ—उभयविध यज्ञ भरा गया है, वैसे ही ततोऽधिक कौशल से कोरा ब्रह्मज्ञान वा अद्वैतवादतत्त्व भी स्पष्टतया प्रकटित हुआ है। ऋग्वेदके सूक्तोंको बहुत मन लगा कर—एकाग्रचित्त होकर—पढ़नेसे हमारा कथन दृढ़तासे हृदय में अंकित हो जाता है। वेदान्त के भाष्यकार श्रीशङ्कर भगवान् भी ऋग्वेदके सम्बन्ध में इसी विश्वास की पुष्टि करते हैं। हम भी उन्हीं के चरणोंका अनुसरण कर, उनके विश्वासानुयायी व्याख्यान को पाठकों के सन्मुख रखने का उद्योग कर रहे हैं। पर इस प्रसंग में एक बाधा खड़ी दीखती है।

पाश्चात्य देशोंके विद्वानोंने बहुकालव्यापक अक्लान्त परिश्रम कर बड़े भारी अध्य-

ऋग्वेदके सम्बन्धमें पाश्चात्य पण्डितों का सिद्धान्त

वसाय के साथ ऋग्वेदकी विपुल आलोचना व तत्त्वनिर्णय करने में अपना अधिक जीवन व्यतीत कर डाला है। ऐसा कहा जाता है। किन्तु आश्चर्य है कि, ऊपर कहा हुआ हमारा सर्यौक्तिक सिद्धान्त ऋग्वेद में उन विद्वानों को क्यों नहीं दीख पड़ा। उन्होंने ऋग्वेदकी जो समालोचना लिखी है एवं इसके फल से जिस सिद्धान्त पर पहुंचे हैं, वह भिन्न प्रकार का है। वे सोचते हैं कि, ऋग्वेद आदिमकाल के मानवसमाज का प्राथमिक ग्रंथ है। इसमें उस आदिम मानवसमाजके अति प्राचीनतर आदिम धर्म-विश्वासका अंकुरमात्र ही दृष्टिगोचर होता है। जड़ प्रकृतिकी जड़ीय कार्य परम्परा के दर्शन से विस्मित, भीत और चकित आदिम मनुष्यों के हृदयोंमें जो भीत विह्वल विस्मयगाथा उद्वेलित हो उठी थी, वही वाक्य द्वारा प्रकाशित होकर विविध मधुर पद्य-छन्दों में ऋग्वेद में ग्रथित हुई है। पूर्व गगनके रुद्ध द्वार का उद्घाटन कर, सुघटित अवयवसम्पत्ति से समुज्वला बालिका ऊषाने, जब सुललित आस्य से लोहित हास्यच्छटा विकीर्ण करती हुई लोकलोचन के सन्मुख आत्मसौन्दर्य-विकाश किया था, तब उस मनोहर व अद्भुत दृश्य से विमुग्धचित्त मानवमण्डली के सरल हृदय में जो भीतिविमिश्रित विस्मय का उद्रेक हुआ था, वही ऊषाके प्रति प्रयुक्त सूक्त रूपोंसे ऋग्वेदमें निबद्ध है। आदिम अर्द्ध-सभ्य युग में, आदिम ऋषिगण भारत की जड़ीय प्रकृति के एवंविध नियत परिवर्तनशील, विविध, विस्मयकर और भीषण-मधुर कार्य परम्परा के दर्शन में मुग्ध होगये थे। उन सरल प्राणों या भोले भाले लोगोंने सरलविश्वास से इस सब जड़ीय कार्यपरम्परा को ही स्वतन्त्र २ 'देवता, मान लिया था और वैदिक गाथा उच्चारण करते हुये हृदय की कृतज्ञता से उनके सन्मुख साञ्जलि प्रणत होपड़े थे ?।

सूर्यकी उदग्र रश्मिधारा वर्षा के विद्युत् व घन गर्जन, प्रबल झटिकाके समय वायुके गंभीर उन्माद ताण्डवनृत्य ने—सभीने असीम शक्तिशाली स्वतन्त्र २ देवता का स्थान ग्रहण किया है। और इन जड़ देवी देवों के उद्देश्य से उन सीधे सादे पुराने पुरुषों ने जो सब सरल व ललित कविता बनाई है, वही ऋग्वेद के सूक्त हैं। दो या ततोधिक शुष्क काष्ठोंके संघर्षण से अग्नि अकस्मात् जल उठा! इस अद्भुत दृश्यको देखकर वैदिक ऋषि चमक पड़े और बड़ी श्रद्धा से उसकी स्तुति करने लगे। अनेक पाश्चात्य पण्डितों की ऋग्वेद के सम्बन्धमें ऐसी ही धारणा है। उनका कथन है कि एक अद्वितीय पूर्ण परमेश्वर का ज्ञान, प्रकृति की भिन्न भिन्न दृश्य परम्परा के मध्य-गत एकत्व का विचार एक ही मूल शक्ति प्रतिक्षण विविध क्रियाओं के आकार से

आत्म-विकाश करती रहती है,-इत्यादि समुन्नत वैज्ञानिक रहस्यों का ज्ञान वैदिक ब्राह्मणों के चित्त में उस समय नहीं उठा था। प्रकृति के इस सब गम्भीर, सुन्दर, अथच भीषण दृश्यपट के अन्तराल में जो एक अनन्तपूर्ण महासौन्दर्य का "उत्स" (स्रोत) अवगलित हो रहा है एवं उस महान् उत्स से ही चतुर्दिक विक्षिप्त वारि-बिन्दुवत् ये सब भिन्न भिन्न बहुसंख्यक सुन्दर दृश्य बहिर्गत होते हैं, इस मौलिक एकत्व का समाचार-इस एक अद्वितीय परमेश्वर का ज्ञान-उस समय वैदिक ऋषि-गण नहीं समझ सके थे। ऋग्वेद में इस एकता की कोई बात ही नहीं है। इन समुन्नत दार्शनिक तत्वों का कोई निर्देश नहीं है; और यदि वा कहीं एक आधा अधूरा टूटा फूटा टुकड़ा है भी तो वह अति अस्पष्ट, झिलमिलासा, कुज्झटिकाच्छिन्न एवं, स्वविरोधी आभासमात्र है!! कार्य-कारण संवाद, सृष्टिरहस्य, अद्वैतवाद और नैतिक जीवन-गठनोपयोगी नीति विद्या-इत्यादि उस समय विदित नहीं था, इतने में ही निष्कर्ष समझ लीजिये। ऋग्वेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगत ऐसी ही धारणा रखता है। यूरोप के पण्डित साहबों के विचारों का यही निचोड़ है।

७। किन्तु यही क्या प्रकृत सिद्धान्त है? क्या सत्य ही ऋग्वेद-अर्द्ध सभ्य, भीति विह्वल, विस्मय विमूढ़ मानवोंके सरल प्राण की सहज धारणा-प्रसूत पद्यावली मात्र है? पाश्चात देशी सुशिक्षितों की भांति, क्या भारतवर्ष के विद्वान् भी ऋग्वेद पर ऐसी ही तुच्छ धारण रखते हैं? हम यहां पर यही परीक्षा करेंगे। प्राचीन काल के बहु संख्यक ग्रन्थों में ऐसे बहुत प्रमाण पाये जाते हैं, जिससे ऋग्वेद के ऊपर भारतीय विद्वज्जनों का असाधारण अनुराग व भक्ति भाव प्रकट होता है। जननी जैसे अपने निराश्रय शिशु को यत्न पूर्वक अपने वक्षःस्थल में चिपकाए रहती है उससे भी अधिक समझ के साथ वैदिक ऋषिगण तथा तत्परवर्ती पण्डितजन अति प्रयत्न से सादर वेद ग्रन्थों की रक्षा करते थे। ऋग्वेद यदि केवल मात्र जड़ प्रकृति की दृश्यावली पर भीति-विमुग्ध हृदयों की विस्मय प्रकाशक स्तुति गाथा मात्र है तो ऐसे आसामान्य आदर और भक्ति प्रेम का कोई कारण नहीं निकाला जा सकता है? इस आदर का एक दृष्टान्त पाठकों को दिखला देते हैं। ऋग्वेद में व्यवहृत एक वर्ण-एक अक्षर-एक मात्रा-भी इधर उधर न हो जावे एक शब्द भी किञ्चित् भी बिगड़ न जावे-सूक्त में से एक वर्ण को भी कोई स्थानच्युत न कर सके वा सूक्त के बीच में अन्य एक अक्षर भी किसी प्रकार कोई मिला न सके-अर्थात् मन्त्रों में कदापि गड़ बड़ न हो कोई कुछ

भारतीय सिद्धान्त।

घटा बढ़ा न सके एतदर्थ उस समय असाधारण सतर्कता अवलम्बित होती थी। जिस की रक्षा आज भी होती चली आती है। हम नहीं जानते कि ऐसी सावधानी के रक्षा के अर्थ अन्य भी किसी जाति ने दिखलाई है। पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ प्रभृति प्रणाली इस सतर्कता केवल निदर्शन रूप से अद्यापि दण्डायमान है। क्यों इस प्रकार का घोर सुप्रबन्ध किया गया? ऐसी अटूट सतर्कता का हेतु क्या है? हिन्दू जातिके व्यवस्था ग्रन्थों शास्त्रों तथा संहिताओं में यह बात स्पष्ट निर्देशित हुई है कि जिस द्विजके गृह में नित्य वेद पाठ नहीं होता जिस घर में प्रतिदिन वैदिक मंत्रों की ध्वनि कानों को पवित्र नहीं करती, जिस ग्राम में वेद की ध्वनि नहीं सुन पड़ती, वह गृह-वह ग्राम श्मशान सदृश है। जो ब्राह्मण नित्य वेद पाठ नहीं करता वह पुत्र पौत्रादि सहित पतित हो जाता है। और यदि कोई व्यक्ति अन्य कुछ उद्योग न करता हुआ भी केवल वेद पाठ में नियुक्त रहता है, तो उसके पक्ष में वही काम यथेष्ट माना जाता है। वेद को छोड़कर अन्यत्र परिश्रम करने वाला ब्राह्मण जीता हुआ ही शूद्रताको प्राप्त होजाताहै*। ऐसी अद्भुत कठिना तिकठिन व्यवस्था धर्मशास्त्रों में क्यों दी गई है? वेद यदि खाली भौतिक अचेतन पदार्थों के ही गुण-गायक ग्रन्थ हैं, तो उनके लिये ऐसे विद्वान् की आवश्यकता क्या है? जो महात्मा जगत् के अन्तस्तलदर्शी तत्त्वज्ञ हैं, जो घोरतर अद्वैतवाद का मण्डन करतेहैं एवं जो ब्रह्मव्यतीत अन्य सब पदार्थोंको स्वप्न तुल्य इन्द्रजालवत् "ब्रह्माण्डं मलभाण्डवत्" मानते हैं, ऐसे विरक्त शिरोमणि महाकूट तर्क—परायण, दार्शनिक-मनीषा-सम्पन्न श्रीशङ्कराचार्य-प्रमुख विद्वान् भी ऋग्वेदके नामसे असाधारण भक्ति व सम्भ्रम प्रकाश करतेहैं। जड़ विज्ञान के आदि आविष्कर्ता, सांख्य प्रणीता, महापुरुष भगवान् श्रीकपिलदेव-तर्क द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं कर सकते, किन्तु वेदों पर हृदय की पूरी भक्ति सहित श्रद्धा रखते हैं। इस उत्कट भावका क्या कारण है? क्या ये भी सबके सब नितान्त मूढ़ चित्त ही थे? क्या अगणित हिन्दू पण्डित आदिम मनुष्योंकी भांति भोले भाले ही हैं? अन्य सबों की बात जाने दीजिये, वेद ग्रंथों के ऊपर दार्शनिक पण्डितमण्डली की पूरी श्रद्धा-भक्ति क्या अत्यन्त ही विस्मयकर नहीं है?

पाश्चात्य पण्डितों की सम्मति जो हो, भारत की आर्यजाति की सैकड़ों पीढ़ियां हो गई, किसीने भी वेदों पर ऐसी धारणा प्रकट नहीं की। आज भी हिन्दुओंके घरों

* "योऽनधीत्य द्विजो वेद- मन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वयः"। मनुः।

में जो धार्मिक क्रियाएँ सम्पादित होती है-विवाह में श्राद्ध में, सर्वत्र वेदके मंत्र ही पढ़े जाते हैं। आज भी हम लोग प्रातः और सायंकाल-प्रात्यहिक उपासनामें-ऋग्वेद के गायत्री मंत्र को बारम्बार जपते हुए परमेश्वर की स्तुति और उपासना करते हैं। क्या समझ कर चिरकाल से अब तक हम भौतिक जड़ तत्वोंके वर्णनकारी मंत्रोंको रट रहे हैं ? जड़ीय वस्तुओंके प्रति प्रयुक्त कविताओं ने हिन्दू जातिमें इतने दीर्घकाल तक इतना अधिक आदर किस गुणके कारण पाया है ? हम तो उत्तर दे चुके हैं कि, ऋग्वेद जड़ीय पदार्थों का गुणगायक ग्रंथ नहीं है। किन्तु इसमें कुछ असाधारणतत्व अवश्यमेव हैं।

ऋग्वेद की ही ब्रह्मविद्या उपनिषदों में मिलती है।

८। उपनिषदों वा वेदान्तदर्शन ने कोई नवीन आविष्कार नहीं किया। वेदान्त का जो अद्वैतवाद आज यूरोप पर्यन्त अत्यन्त समादर लाभ करने में समर्थ हुआ है-वह अद्वैतवाद भी वेदान्तदर्शनका निजी आविष्कार नहीं है। यदि आविष्कार का गौरव प्रदान करना है, तो वह गौरव ऋग्वेद ही पा सकता है। किन्तु किस प्रमाण के बल से हम इस सिद्धान्त में पहुंचते हैं, सो सब निर्णय आगे किया जाता है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल से लेकर दशम मंडल पर्यन्त एक विशाल एकत्व का प्रकरण-प्रकाण्ड अद्वैतवाद-वर्णन स्पष्ट रीति से दर्शन दे रहा है। सर्वात्मक, सर्व व्यापी चेतन ब्रह्मसत्ता ही ऋग्वेद की उपास्य वस्तु है। कार्यों में अनुप्रविष्ट 'कारणसत्ता, का अनुसन्धान ही ऋग्वेदका लक्ष्य है। वर्तमान काल में इस बात को अनेक सज्जन नूतन भित्तिहीन कथन समझेंगे, इसमें संदेह नहीं। किन्तु हम जिन पुष्ट प्रमाणोंके बल पर ऐसा लिखते हैं, उनका उपहार पाकर हमारे विवेकी पाठक अवश्य ही हमारे सिद्धान्तको प्रामाणिक और सयौक्तिक समझ कर भली भांति सन्तोष प्राप्त करेंगे। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

ऋग्वेद में कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों हैं।

९। हमने ऊपर उपनिषदों के धर्म-मत की आलोचना में जो कर्म काण्ड और ज्ञानकाण्ड का उल्लेख किया है-द्रव्यात्मक व भावनात्मक उभयविधि यज्ञ का विवरण दिया है-उसका मूल ऋग्वेद ही है, यह बात हम पहले कह चुके हैं। वैदिक ऋषिगण जड़ काय परम्परा को ही देवता मान कर पुत्र-पशु-वित्त व स्वर्ग प्राप्ति की आशा से, भौतिक अग्नि में आज्य और सोम की धारा छोड़ते हुए केवल द्रव्यात्मक यज्ञ का ही आचरण करते थे, ऐसा मानना उचित नहीं है। ऋग्वेद में साधककी चित्तवृत्ति के तारतम्यवश, कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों एक साथ ही उपदिष्ट हुए

हैं। जिनका चित्त संसार-निमग्न है, वे सकाम द्रव्यात्मक यज्ञानुष्ठान करते करते, जब उनमें ब्रह्मजिज्ञासा जाग्रत होती है, उस समय द्रव्यात्मक यज्ञ में ही भावनात्मक यज्ञ का अनुशीलन करने लगते हैं। चित्तका अधिक विकाश होने पर द्रव्यात्मक यज्ञ के अवलम्बन बिना ही विश्वके सारे पदार्थों में कारण सत्ता या ब्रह्मसत्ताकी भावना में नियुक्त हो जाते हैं। अन्त में सम्पूर्ण विश्व की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती, साथ ही सर्वत्र ब्रह्मसत्ता प्रकट हो जाती है। यही कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड का दार्शनिक रहस्य है। यह रहस्य ऋग्वेद के सूक्तों में अतिशय स्पष्ट रूप से देदीप्यमान हो रहा है। वेदान्त दर्शन के भाष्यकार शङ्कराचार्य भी यही विश्वास रखते हैं। ऋग्वेद में एकत्र-कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, द्रव्यात्मक यज्ञ और भावनात्मक यज्ञ दोनों उपदिष्ट हुए हैं। वेदान्तदर्शन में जो परमार्थ-दृष्टि और व्यावहारिक दृष्टि की चर्चा है, वह भी ऋग्वेद की ही सम्पत्ति है। शङ्कर स्वामी के इसी विश्वास को सबसे पहले देख लेना चाहिये।

वेदान्तदर्शन भाष्य के प्रथम पाद में, आकाश, सूर्य, प्राण प्रभृति एक जड़ीय भौतिक वस्तुओं को न जानकर, सर्वत्र अनुस्यूत कारण सत्ता को ही बतलाते हैं यानी आकाशादि शब्दों का लक्ष्य ब्रह्मसत्ता ही है,—ऐसा सिद्धान्त करके १।१।२५ सूत्र के भाष्य में आचार्य श्री ने अपना एक मन्तव्य लिपिबद्ध किया है। जिसका अर्थ यह है कि:—

"जो व्यक्ति ऋग्वेदी-ऋग्वेदानुसार यज्ञकारी हैं, वे अपने शास्त्रों में सब विकारों में अनुप्रविष्ट जगत्कारण ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं। जो यजुर्वेदी हैं वे यज्ञ-अग्नि में इस ब्रह्मसत्ता की ही उपासना करते हैं। और जो सामवेदी हैं वे भी महाव्रत नामक यज्ञ में इस ब्रह्म की ही उपासना करते हैं"*।

यह मन्तव्य अनिवार्य रूप से यही तत्त्व प्रकाशित करता है कि,—जो तत्त्वदर्शी हैं, जो उन्नत साधक हैं, वे यज्ञ में और यज्ञीय अग्नि आदि में एक जगत् कारण ब्रह्मसत्ता की ही भावना करते हैं—ब्रह्म का ही अनुसन्धान करते हैं। इस मन्तव्य से श्रीशङ्कराचार्य का विश्वास स्पष्ट विदित होजाता है। ईशोपनिषद् के भाष्य में भी उनका ऐसा ही एक मन्तव्य है।। १४ वें मन्त्रके भाष्यमें कहते हैं कि, वेदोंका जो दो प्रकारका प्रयोजन प्रसिद्ध है,-प्रवृत्तिमूलक कर्मकाण्ड एवं निवृत्तिमूलक ज्ञानकाण्ड—यह

* एतमेव बह्वृच महत्युक्थे मीमांसन्ते एतमग्नावध्वर्यवः एतं महाव्रते छन्दोगाः,, इति। भाष्य। "एतं परमात्मानं बह्वृच ऋग्वेदिनः महत्युक्थे शास्त्रे तदनुगतमुपासते। एतमेवाग्निरहस्ये तमेतमग्निरिति अध्वर्यव उपासते इति श्रुतेः यजुर्वेदिनोऽग्नौ उपासते। एतमेव छन्दोगाः सामवेदिनो महाव्रते क्रतौ उपासते,,।

दोनों प्रकार का वेदार्थ ही इस स्थान पर प्रकाशित हो रहा है" * । इस के अतिरिक्त केनोपनिषद् के अन्तिम मंत्र के भाष्य में भी लिखते हैं कि, "वेद के दो भाग हैं। वेद कर्म एवं ज्ञान दोनों का प्रकाशक है"।

"वेदानां तदङ्गानाञ्च अर्थप्रकाशकत्वेन कर्मज्ञानोपायत्व मित्येवं। ह्ययं 'विभागः, युज्यते।.........कर्मज्ञानप्रकाशकत्वात् वेदानाम्,,।

इन सब लेखों से भाष्यकार का वेदों के सम्बन्ध में क्या अभिमत है, सो बाहर आजाता है। वे अवश्य ही वेदों में एक कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड भाग मानते थे। इस कर्म और ज्ञानकाण्ड का मुख्य प्रकाशक वेद ही है। यही वेद का प्रयोजन है। जैसे उपनिषदों में कर्म और ज्ञान दोनों का उपदेश है, वैसे ही ऋग्वेद में भी दोनों तत्वों का मूल उपदेश है।

भाष्यकार ऐसा विश्वास रखते थे, इतना ही नहीं, उन्होंने उपनिषदों की व्याख्या में कहीं कहीं पर एक ही श्लोक का कर्मपक्ष और ज्ञानपक्ष-दोनों पक्षों में अर्थ लिखा है। हम दृष्टान्त देकर बतला देंगे। कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय की चतुर्थ वल्लीके अष्टम मंत्र,† की व्याख्या आपने दो प्रकारसे की है। एकही मंत्र में द्रव्यात्मक और भावनात्मक यज्ञकी व्याख्या की है। उन्हों ने स्पष्ट कह दिया है कि, एक ही उपास्य अग्निकी साधकगण अधिकार भेद से दो प्रकार से भावना करते हैं। कर्मीगण यज्ञीय अग्नि को ही घृतादि द्वारा उपासना करते हैं किन्तु जागरणशील तत्त्वदर्शीगण उसी अग्नि की हृदय में हिरण्य गर्भ रूप से भावना करते हैं। उस अग्नि में ही कारणसत्ता का ध्यान करते हैं। कठ का यह मंत्र ऋग्वेद का एक मंत्र है इस मंत्र में जो शब्द हैं, वे दोनों प्रकार के साधकों कोलक्ष्य करते हैं। "हविष्मद्भिः" शब्द से केवल कर्मा और "जागृवद्भिः" शब्द द्वारा मननपरायण, जागरणशील तत्त्वदर्शी समझा जाता है। सुतराम हम देखते हैं कि ऋग्वेदके मन्त्रमें ही दो श्रेणी के साधकों की स्पष्ट सूचना मिलती है। शङ्कर स्वामी ने भी ऋग्वेद का यही रहस्य ग्रहण किया है कदाचित् कोई पाठक ऐसा सन्देह करें कि भाष्यकार ने खींच खांच कर दैवात् एक श्लोक की ऐसी व्याख्या करदी होगी, इसीलिये हम अन्य भी स्थल उद्धृत कर देते हैं। ईशोपनिषद् के १४ वें मन्त्र का अर्थ सुनिये-"हे सूर्य! आपके दो

* "एवं द्विप्रकारः प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षणः "वेदार्थः,, अत्र प्रकाशितः,,

† मंत्र यह है—"अरण्यो निहितो जातवेदाः गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिः, हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः,,। इस ग्रन्थ के द्वितीय खंड में कठोपनिषद् है। वहां भाष्य की विस्तृत व्याख्या द्रष्टव्य है।

रूप हैं। एक आपकी ज्योतिर्माला मण्डित बाहरी मूर्ति है और इसीके भीतर इससे व्यतिरिक्त आपकी दूसरी कल्याणमयी मूर्ति है। जो ज्योतिः द्वारा आवृत होरही है हम आपकी उसी कल्याणमयी मूर्ति का दर्शन करना चाहते हैं। बाहर के इस ज्वाला मालामय आवरण को उठा लीजिये"।

प्रिय पाठक! यह भी ऋग्वेद का ही मन्त्र है। इस मन्त्र में बहुत ही स्पष्ट सूर्य के भीतर अनुप्रविष्ट गूढ़ कारण सत्ता का निर्देश है। कर्मकाण्डी सूर्य के इस तेजःसंकुल स्थूल रूप की उपासना करते हैं किन्तु तत्त्वज्ञानी इस स्थूल तेजोमण्डल में अनुस्यूत कारणसत्ता या कल्याणमयी मूर्ति का ही दर्शन करते हैं। कठोपनिषद् में अन्यत्र भी हम यह बात पाते हैं। नचिकेता ने जब पहले स्वर्गप्राप्ति साधक 'अग्निविद्या, का उपदेश मांगा, तब उसको पहले अग्निविद्या का उपदेश देकर पश्चात् यमराज ने निर्गुण ब्रह्मतत्व का उपदेश दिया था। यह अग्नि कर्मियों का उपास्य केवल भौतिक अग्नि नहीं, इस अग्नि के भीतर कारणतत्व हिरण्यगर्भ अवस्थित है, यह भाष्यकार ने कह दिया है। उन्होंने और भी कहा है कि अग्निदेव आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी में यथाक्रम सूर्य वायु और अग्नि रूपसे अवस्थान करते हैं। कारणसत्ता ही तो तीन स्थानों में तीन आकार धारण कर विकाशित होरही है। इन स्थलों के अतिरिक्त भाष्यकार ने अन्य उपनिषदों के भाष्य में भी एक मन्त्र का दो पक्षवाला अर्थ लिखा है पर बाहुल्य भय से यहां उद्धृत नहीं किया गया।

ऋग्वेद में दो प्रकार की उपासना है।

१०। तभी हम देखते हैं कि; वैदिक सूक्त कर्मी और ज्ञानी दोनों के पक्षमें उपयुक्त हैं, ऐसा ही भाष्यकार का विश्वास है। उनकी यह धारणा ठीक है कि वेदों में कर्म काण्ड और ज्ञान दोनों का उपदेश प्राप्त होता है। कर्मी व ज्ञानी भेदसे एक ही सूक्त या मन्त्र उभयविध उपासना में व्यवहृत होता है। ऋग्वेद में जो अग्नि आदि में होम वा यज्ञ करनेकी व्यवस्था लिखी है, वह दो प्रकार की ही है। कर्मियों के पक्ष में वह द्रव्यात्मक है। और तत्त्वज्ञानियों के पक्ष में भावनात्मक है। कर्मी लोग अग्नि आदि को स्वतंत्र देवता मान कर घृतादि द्वारा उपासना करते हैं, ज्ञानी लोग अग्न्यादि की स्वतंत्र सत्ता न स्वीकार कर, अग्न्यादि में अनुस्यूत कारणसत्ता की उपासना करते हैं।

ऋग्वेद के सब मंडलों से ही अनेक सूक्त उद्धृत कर दिखाए जा सकते हैं कि, भाष्यकार के इस विश्वास के मूल में गभीर सत्य निहित है। ऋग्वेद में द्रव्यात्मक और भावनात्मक उभयविध यज्ञ ही पाशापाशि उपदिष्ट हुआ है। केवल कर्मी लोग देवताओं के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझते, ये लोग देवताओं को स्वाधीन कार्य रूप

से ही जानते हैं, किन्तु जो सज्ञान परमार्थदर्शी तत्त्ववेत्ता हैं, वे देवताओं को स्वतन्त्र स्वाधीन वस्तु मानने की भ्रान्ति से बाहर हो जाते हैं। उनको सर्वत्र एक कारण ब्रह्मसत्ता का ही अनुभव हुआ करता है *। ऋग्वेद का यह मंत्र देखिये:—

"तं विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः, समिन्धते
विष्णोर्यत् परमं पदम् । १ । १२ । २१ ।

ऋग्वेद का विष्णु नामक देवता सूर्य का ही रूपान्तर मात्र है † । जो सब साधक सतत जागरणशील एवं मनन परायण हैं, वे ही विष्णु देवता के परमपद का अनुभव कर सकते हैं। ऋग्वेद के अन्यत्र विष्णु के इस परमपद को अमृत, अविनश्वर निगूढ़ कहा गया है। और भी कहा गया है कि, विष्णु का जो स्थूल पद आकाश अन्तरिक्ष एवं भूलोक को व्याप्त कर रहा है, उसको सब लोग देख पाते हैं, किन्तु विष्णु के इस परमपद का दर्शन सब लोग नहीं पा सकते हैं ‡ केवल मननशील जागरूक साधकगण ही उसे जान सकते हैं। इस स्थान पर स्पष्ट कहा गया है कि केवल कर्मिगण ही विष्णु के स्थूल रूप की उपासना करते हैं, तत्त्ववेत्ता जन विष्णु के निगूढ़ परम-पदकी पूजा करते हैं। इस मंत्र में द्रव्यात्मक और भावनात्मक दोनों यज्ञों का निर्देश है ऐसा ही सर्वत्र समझिये।

संसार परायणों की निन्दा।

११। उपनिषद्के धर्ममत की आलोचना करते हुए हमने देखा है कि, ऐसे अनेक मनुष्य हैं जो नितान्त ही संसार निमग्न हैं। अपनी इन्द्रियतृप्ति और अपने सुख के सिवा विचारे कुछ जानते ही नहीं। ऐसे मूढ़जन स्वाभाविक प्रवृत्तिके वशीभूत होकर चलते हुए अशुभकर्म ही किया करते हैं। ऐसे यज्ञविमुख, आत्मसुखार्थी, जड़बुद्धि व्यक्तिगण मृत्यु के पश्चात् अज्ञानावृत स्थावरादि निकृष्ट योनियों में अधः पतित होते हैं। ऐसे मूर्खों की निन्दा हम ऋग्वेद में भी पाते हैं। भिन्न भिन्न स्थलों के कुछ मंत्र हम नीचे देते हैं। इनसे पाठक ऋग्वेद में भी संसार कीटों को फटकार बतलाई गई है—यह बात स्पष्ट समझ लेंगे,—

---

* छान्दोग्य के उपस्ति के उपाख्यान में भाष्यकार स्पष्ट कहते हैं कि, देवता का स्वरूप जाने बिना भी यज्ञानुष्ठान किया जा सकता है।

† निरुक्त की व्याख्या में श्रीदुर्गाचार्य कहते हैं—विष्णुरादित्यः । ० ० ० पार्थिवोऽग्निर्भूत्वा पृथिव्यां यत्किञ्चिदस्ति, तद्विक्रमते, तदधितिष्ठति । अन्तरिक्षे वैद्युतात्मना । दिवि सूर्यात्मना ॥

‡ विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः -१ । १५४ । ५ । "तृतीयमस्यन्न किरादधर्षति,, इत्यादि।
(१ । १२५ । ५ ६)

मोघमन्नं विन्दन्ते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥१०।११७।६
पापासः सन्तो अनृता असत्याः इदं पदमजनता गभीरम् ।४।५।५।
अनापक्षासो वधिरा अहासत, ऋतस्य पंथां नतरन्ति दुष्कृतः॥७।१३।६
अनिरेण वचसा फल्ग्वेन प्रतीत्वेन कृधुना अनृपासः।
अधा ते अग्ने ? किमिहा वदन्ति ? अनग्युधास आसता
सचंताम् ॥ ४। ५। १४।
अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः।८।१०।११।
द्रुदी विपादि वहुला अदेवीः ॥ ३। ३१। १७।
महान् असुन्वतो वधो, भूरि ज्योतींषि सुन्वतः,
भद्रा इन्द्रस्य रातयः ५।८।६२।१२।
य इन्द्र सस्त्यव्रतो अनुस्वायमदेवयुः।
स्वैःष एवैर्मुमूरत् पोष्यं रयिं सनुतर्धेहितं ततः॥
यामिन्द्र ! दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ॥
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहिमा पणौ ॥८।८७।३२॥
दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा, दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तःप्र तिरन्त आयुः ॥१।१२५।६।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चित् अपृणं तमभि संयन्तु शोकाः॥१।१२५।७।

"जो लोग मनुष्यों के मित्रस्वरूप 'अर्यमादेव, को अन्नप्रदान नहीं करते,—अर्थात् देवोद्देश से हवि आदि हव्य नहीं देते,—ऐसे अज्ञानी वृथा ही अन्न भोजन करते हैं ? मैं सत्य ही कहता हूं इनका यह अन्न खाना मृत्यु के बराबर है * ! ये अकेले आप ही भोजन करते हैं, केवल पाप का ही भक्षण करते हैं।

जो लोग पापरत हैं, जो लोग अनृत असत्य के सेवक हैं, वे यज्ञ के इस गंभीर परमगुह्य पद को नहीं जानते।

---

* यज्ञरहित स्वार्थान्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध में गीता में भी अविकल ऐसी ही वात है। "अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति,, इत्यादि।

जो अन्ध हैं जो बधिर हैं–जो दुष्कर्मी हैं वे सत्यपथ–यज्ञपथ का परित्याग कर देते हैं। वे संसार के पार कभी नहीं जा सकते? हे अग्नि! ये सब लोग हविर्दान विहीन वाक्य द्वारा कुछ भी फललाभ नहीं उठा सकते। केवल मन्त्र उच्चारण करने से क्या होगा? जो आयुधवर्जित हैं–अर्थात् जो लोग घृतादि द्वारा अग्नि में यज्ञानुष्ठान नहीं करते, ऐसे साधनहीन व्यक्तिगण दुःख पाते हैं।

जो लोग देवव्रत का आचरण करके अन्य व्रताचरण करतेहैं, (केवल सांसारिक कार्यों में व्यापृतमान रहते हैं) जो यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते, जो देवद्वेषी हैं, ऐसे असभ्यों को, हे इन्द्र! तुम्हारा सखा पर्वत, स्वर्ग से नीचे गिराया करता है। पर्वत–दस्यु दलों को मृत्यु के मुख में झोंकता रहता है।

जो देव रहित हैं– देवता के उद्देश से यज्ञादि करते नहीं, हे मघवन्! इन देव द्रोहकारी, देव रहित लोगों को मार डालो।

जो लोग यज्ञानुष्ठान नहीं करते उनका वध इन्द्रदेव भली भांति करते हैं। पर जो सज्जन यज्ञानुष्ठानकारी हैं उनको बड़ी ज्योति देते हैं। इनके प्रति इन्द्र का सम्पूर्ण दान मंगल मय होता है।

हे इन्द्र! जो व्रत रहित हैं–जो देवाभिलाषी नहीं, जो सम्प्राच्छन्न होकर निद्रा में पड़े हैं, वे अपनी चेष्टा से ही पोषणीय धन का विनाश करते हैं। तुम उनको कर्म रहित प्रदेशों में भेजते रहते हो * हे इन्द्र! गो–अश्वादि पार्थिवधन एवं अविनश्वर मुक्तिधन धारण करते हो। हे इन्द्र! जो लोग यज्ञानुष्ठान करते हैं और यज्ञ में दक्षिणा देते हैं केवल उनको ही तुम यह सब धन दिया करते हो। यज्ञविहीन उदरम्भरों को नहीं देते हो।

यज्ञानुष्ठानकारी धर्मात्मा ही विचित्र धनके अधिकारी हुआ करते हैं। यज्ञानुष्ठानकारियों के निमित्त ही आकाशमें सूर्यदेव उदित होते हैं। यज्ञानुष्ठानकारी जन ही जरा मरण वर्जित अमरधाम प्राप्त करते हैं। यज्ञानुष्ठानकारीगण ही दीर्घायु लाभ करते हैं। किन्तु जो लोग देवताओं की स्तुति करते नहीं उनको पाप पकड़ लेता है जो लोग देवताओं को प्रसन्न नहीं करते, वे शोकभागी होते हैं †।

* भाष्यकार भी कहते हैं "तेषां स्थावरान्ता अधोगतिः स्यात्", ।

† पञ्चम मण्डल में है " हे अग्नि! धनी होकर भी जो तुम्हें हव्य प्रदान नहीं करते, वे बल हीन होते हैं। जो लोग वैदिक व्रतानुष्ठान नहीं करते, वे आप के विद्वेष भाजन दण्डनीय होते हैं"। ऐसी अनेक वाचा हैं। "देवशून्य लोगों को धन दान नहीं करना" । १ । १५० । ५० । ८-२ ।

१२। पाठकवर्ग इन सब उद्धृत अंशों में इन्द्रिय सुखपरायण संसारमग्न, यज्ञविहीन व्यक्तियों की निन्दा देखते हैं। उपनिषदों में जैसे इन्द्रिय-सुखार्थियों की निन्दा करके उन को धीरे २ देवोपासना में लगाया गया है, वैसे ही ऋग्वेद में भी हम ज्यों की त्यों यही प्रणाली पाते हैं। ऋग्वेद ने इस प्रकार यज्ञविहीनों की निन्दा करके देवभक्त यज्ञकारी पुरुषों की प्रशंसा करदी है। किन्तु हम देख आये हैं कि दड़ बुद्धियों के मनमें धीरे धीरे ब्रह्मज्ञान और परलोकतत्त्व सुखचित कर देने के उद्देश से पार्थिव धनादि व पारलौकिक स्वर्गसुख की आशा देकर प्रथमतः सकाम यज्ञ विहित हुआ है। ये सब साधक केवल कर्मी हैं। देवताओं को स्वतन्त्र समझ कर उपासना करते हैं। पर क्रमशः देवताओं की स्वतन्त्रता नष्ट होती जाती है और ज्ञान का सुप्रकाश चित्त में बढ़ता जाता है। उस समय देवताओं में अनुप्रविष्ट ब्रह्मसत्ता ही सन्मुख होआती है तब उनका नाम ज्ञानविशिष्टकर्मी होजाता है ये भावनात्मक यज्ञकारी हैं। क्योंकि, ये लोग अग्नि आदि के भीतर ब्रह्मज्योति का ही दर्शन करते हैं। इस प्रकार क्रम से उनको सर्वत्र ब्रह्मसत्ता का बोध हो जाता है एवं मुक्ति लाभ की योग्यता उत्पन्न हो जाती है। ऋग्वेद में हम इन दो यज्ञों के सम्बन्ध के बहुत मंत्र पाते हैं। पाठक क्रमशः देखें कि, ऋग्वेद ने किस रीति से द्रव्यात्मक यज्ञ को भावनात्मक यज्ञ में परिणत कर दिया है। सर्व प्रथम, द्रव्यात्मक, 'यज्ञ, की व्यवस्था इस प्रकार दी गई है,—

यज्ञकारियों की प्रशंसा।

त्वमग्ने प्रयत दक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः। स्वादुक्षद्मायो वसतौ स्योनकृत् जीवयाजं यजते, सोपमादिवः॥ १।३१।१५। अहरहर्जायते मासि मासि अथो देवा दधिरे हव्यवाहम्। १०।५२।३। अग्निर्विद्वान् यज्ञं नः कल्पयाति, पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।१०।५२।४। यस्ते यज्ञेन समिधाय उक्थैरर्कभिः सूनो! सहसो ददाशत्। स मर्त्येषु अमृतः प्रचेताः राया द्युम्नेन श्रवसा विभाति॥ ६।५।५। नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो यः पृणाति सह देवेषु गच्छति॥ १।१२५।५।

"हे अग्नि! लोहसूत्र-ग्रथित वर्म जैसे रणक्षेत्र में योद्धा पुरुष की रक्षा करता है, हे अग्नि! तुम भी यज्ञानुष्ठानकारी पुरुषों की वैसे ही रक्षा किया करते हो। जो व्यक्ति घर में अतिथि के उपस्थित होने पर सुस्वादु अन्न द्वारा उसकी परिचर्या करते हैं एवं नित्य भूतबलि प्रदान करते हैं तुम उनकी भी रक्षा करते हो। जो सज्जन

यावज्जीवन अग्निहोत्रादि यज्ञों का सम्पादन करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं—वे स्वर्ग के उपमास्थल हैं *।

नित्य नित्य एवं मास मास में यज्ञ सम्पादित हुआ करता है। देवताओं ने इन यज्ञों में अग्नि को ही हव्यवहनकारी रूप से नियुक्त किया है।

विद्वान् अग्नि ने हमारे यज्ञ की कल्पना की है। यज्ञ में तीन बार सोमलता निपीड़ित होती है एवं सप्त प्रकार छन्द में स्तव उच्चारित हुआ करता है। यह यज्ञ पांच प्रहर में सम्पादित होता है।

जो व्यक्ति—याग, इन्धन स्तोत्र उच्चारण एवं उपासना द्वारा अग्नि की परिचर्या करते हैं, वेही मर्त्यलोक में यथार्थज्ञानी एव अमृत हैं। ऐसे पुरुष ही अन्न धन और यशोलाभ कर सुप्रकाशित हो उठते हैं। 'जो लोग निरन्तर यज्ञानुष्ठान में लगे रहते हैं, मृत्यु के पश्चात् वे लोग स्वर्गपृष्ठ में देवताओं के साथ स्थान पाते हैं"।

संसारमत्त साधन विहीन लोगोंकी निन्दाके उद्घोषणान्तर ऋग्वेदने पहलेही इस प्रकार "द्रव्यात्मक यज्ञ—सकाम यज्ञकी व्यवस्था करदी है। पार्थिव धन-जन-यशका लाभ दिला कर एवं परकालमें स्वर्गसुख की आशा बढ़ाकर द्रव्यात्मक यज्ञका उपदेश दिया गया है। यह बात पाठक स्पष्ट देख रहे हैं। इस द्रव्यात्मक यज्ञके कर्त्ता ही केवल कर्मी कहे गये हैं। ये सब साधक अवश्य ही उन संसार परायण, इन्द्रिय सुखार्थी प्रवृत्तिपरिचालित लोगों की अपेक्षा उन्नत हैं, इस में सन्देह नहीं। संसार चक्र के दुःखों से उद्धार पाने के लिये ही तो यज्ञ की व्यवस्था है। किन्तु तथापि इनके अन्तःकरण में अभी ज्ञान का प्रकाश अंकुरित नहीं हुआ †। इन को अभी तक देवताओं के स्वरूप सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान लाभ नहीं हुआ ‡।

पर देवताओं के स्वरूप की चिन्ता करते करते इन के चित्त में शनैः शनैः देवताओं में अनुस्यूत ब्रह्मसत्ता की झलक पड़ती जाती है। ये लोग धीरे २ समझने लगते हैं कि देवतावर्ग एक ब्रह्मसत्ता के ही भिन्न भिन्न विकाश हैं। उस समय इस

---

* मनुसंहिता में जो पञ्च महायज्ञ का दैनिक विधान है, उसका मूल यही मंत्र है। पशु पक्ष्यादि जीवों के उद्देश्य से अन्न त्याग का ही नाम 'भूतबलि' है।

† ये लोग देवोपासना करते अवश्य हैं, किन्तु देवता का वास्तविक तत्त्व नहीं जानते हैं। इसी लिये इनको 'केवलकर्मी' कहा गया है। हम छान्दोग्य प्रभृति उपनिषदों में उषस्ति प्रभृति के उपाख्यान में देखते हैं कि, यज्ञ का देवता क्या पदार्थ है देवता का अर्थ जानते नहीं अथच पुरोहित यज्ञसम्पादन करते हैं। उषस्ति ने इन पुरोहितों को वास्तविक अर्थ समझा दिया है।

‡ ये कार्यब्रह्म के उपासनाकारी हैं। अतएव निकृष्ट साधक हैं अग्नि प्रभृति देवताओं को ये लोग स्वतंत्र, स्वतंत्र ऐश्वर्यवान् तत्त्व समझ कर ही उपासना या यज्ञानुष्ठान करते हैं।

ब्रह्मतत्त्व की ही जिज्ञासा बलवती हो उठती है। और द्रव्यात्मक यज्ञ में परिणत हो जाती है। भावनात्मक यज्ञकारी 'ज्ञानविशिष्ट कर्मी' नाम से उपनिषदों में प्रख्यात हुए हैं।

१३। कुछ महाशय कहते हैं कि, ऋग्वेद में ज्ञानकाण्ड की चर्चा अति अल्प है। ऋग्वेद सकाम एवं आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्ड का ही प्रकाण्ड भण्डार है। पर ऐसी संमति सर्वथा भ्रान्त या निरर्थक निःसार है। हम प्रायः सभी मंडलों से नीचे मंत्र उद्धृत करते हैं। पाठक देखेंगे, ज्ञानकाण्ड वा भावनात्मक यज्ञ का विवरण भी ऋग्वेदमें प्रचुरता से है। वैदिक सूक्त कर्मी और ज्ञानी दोनों साधकों के उद्देश्य से विहित हुए हैं। कर्मियों के लिये जो द्रव्यात्मक यज्ञ मात्र है, ज्ञानियोंके पक्षमें वही भावनात्मक यज्ञ है। कर्मीगण अग्नि आदि को अग्नि आदि ही समझते हैं, ज्ञानीगण अग्नि आदिको ब्रह्म जानते हैं। कर्मी लोग खाली कार्यों को देखते हैं, ज्ञानी लोग उनके भीतर बाहर और सर्वदा सर्वत्र भरे हुए कारण या ब्रह्म को देखते रहते हैं। ऋग्वेदके एकही सूक्त में हम उक्त दो प्रकारके यज्ञ वा उपासना का उल्लेख पाते है। ऋग्वेद में नाना प्रकार से यह बात समझाई गई है।

२। भावनात्मक यज्ञ वा ज्ञानकाण्ड।

(क) ज्ञानविहीन कर्मकाण्डियों को देवता गण ज्ञान प्रदान करते हैं एवं स्वर्गमें ले जाते हैं, प्रथमतः इस प्रकार की चर्चा हम अनेक श्रुतियों में पाते हैं। देखिये,

इमे मित्रो वरुणो दूलभासोऽचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः।
अपि 'क्रतुंसुचेतसं, वतंतस्तिरश्चिदंहः सुपथानयन्ति ॥ ७। ६०। ६।
विश्वस्मा इत्सुकृते वारमिन्वति अग्निर्द्वारा व्यृण्वति ॥ १। १२८। ६।
त्वंविशो अनयो दीद्यानो दिवोऽअग्ने! बृहता रोचनेन॥ ६। १। ७।
स्वादुः पवस्व दिव्याय जन्मने ॥ ९। ८५। ६।
इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति ।७।६०।७
इमं यज्ञं दिवि देवेषु धेहि ॥ ७। ११। ५।
आदेवान् वक्षि अमृतान् ऋतावृधो यज्ञंदेवेषु पिस्पृदः। ६। १५। १८
एतो नो अग्ने! सौभगा दिदीहि अपि क्रतुं सुचेतसं' वतेम।७।४।१०
दिविस्पृशं यज्ञमस्माकमश्विना! जीराध्वरं कृणुतम्। १०। ३६। ६
याभिस्त्रिमन्तुरभवत्विचक्षणःताभिरूषुऊतिभिरश्विनागतम्॥१।११२।३

अग्निरगामि भारतो वृत्रहा पुरुचेतनः दिवोदासस्य सत्पतिः॥६।१६।१९
यद्वाक् वदन्ति अविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मंद्रा ॥८।१००।१०
त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत् नतः तमिद्वर्धन्तु नो गिरः ।८।९२।२१
अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रतिस्तोमं देवमन्तोदधानाः ।
अरं कुर्वन्तु वेदिं समग्निरिन्धताम् पुरः ।
तत्रामृतस्य 'चेतनं यज्ञं, ते तनवावहै ॥ १।१७०। ८
तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विशः उपब्रुवते १। ७७। ३

मित्र और वरुण आत्मसामर्थ्य द्वारा अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करते हैं। जो ज्ञानयज्ञ के अनुष्ठानकारी हैं, उनके निकट जाकर मित्र और वरुण देव उनको सुपथ में ले जाते एवं उनका पाप नाश करते हैं। ['सुचेतसं क्रतुं, शब्द द्वारा स्पष्ट ही ज्ञान यज्ञ की बात कही गई है] अग्नि समस्त सत्कर्मकारियों के निमित्त वरणीय धन खोल देते हैं एवं स्वर्गद्वार को भली भांति उन्मुक्त रखते हैं॥ हे समुज्वल अग्नि! तुम अपनी ज्योति द्वारा मनुष्यों को स्वर्ग ले जाओ ॥ हे सोम! मनुष्यों के स्वर्गलोक में जन्मलाभ के लिये सुस्वादु होकर क्षरित होओ॥ मित्र और वरुण अनिमेष नेत्रों से, अज्ञानियों को स्वर्ग में ले जाते हैं॥ हे अग्नि! इस यज्ञ को स्वर्ग में देवताओं के बीच ले जाओ॥ हे अग्नि! जो अविनाशी सत्ता द्वारा परिपुष्ट (ऋतावृधः) हैं, उन अमर देवों को इस यज्ञ में ले आना एवं इस यज्ञ को देवताओं के निकट पहुंचाना। हे अग्नि! हमें सौभाग्य दान करो एवं जिमसे हम चेतनयज्ञ-भावनात्मक यज्ञ का लाभ कर सकें॥ हे अश्विनीकुमारो! ऐसी व्यवस्था कर दो जिससे हमारा यह यज्ञ देवलोक का स्पर्श कर सके। एवं जिस उपाय से त्रिविध कर्मज्ञ ऋषि* कक्षीवान् ज्ञानी हुए थे, उस उपाय के साथ आइयेगा॥ दिवोदास जिस अग्नि को "पुरुचेतन" समझ कर स्तुति करते थे उस दिवोदास के पालक चेतन अग्नि को हम इस यज्ञ में लाए हैं। [इस स्थलमें उपास्य अग्नि की चेतन सत्ता रूप से भावना स्पष्ट है] देवताओं के उन्मादकर वाक्य ज्ञान रहित व्यक्तियों को ज्ञान प्रदान कर यज्ञमें उपवेशन करते हैं। हे देवगण! आपने त्रिककुद् के निकट ज्ञानसाधन यज्ञ का विस्तार किया था। हमारी स्तुति उसी यज्ञ को बढ़ावे। हे अश्विरूप! हम देवाभिलाषी होकर स्तुतिद्वारा इस अज्ञानान्धकार के पार हो जावेंगे। हे ऋत्विक्गण! तुम वेदी को

* यहां पर स्पष्ट ही त्रिविध कर्मानुष्ठान द्वारा ज्ञानलाभ की बात है। द्रव्यात्मक यज्ञ, द्रव्य व ज्ञान उभयविशिष्ट यज्ञ, एवं केवल ज्ञानात्मक यज्ञ ही त्रिविध कर्म समझिये।

परिष्कृत करके, सन्मुख अग्नि प्रज्वलित करो । इस स्थान पर हम अमृतके प्रज्ञापक ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान करेंगे । देवाभिलाषी मनुष्य अग्नि को चेतनों में प्रथम चेतन मान कर स्तुति करते हैं" ।

(ख) इस प्रकार केवल कर्म के स्थान में ज्ञानसाधन यज्ञ की व्यवस्था बतलाकर ऋग्वेद ने प्रायः सर्वत्र ही दो प्रकार के यज्ञ का-द्रव्यात्मक और भावनात्मक उभय-विध यज्ञ का विचार निबद्ध किया है । निम्नलिखित मंत्र पाठकों को दोनों यज्ञों का तत्व बतला देंगे ।

उभयासो जातवेद! स्याम ते, स्तोतारो अग्ने सूरयश्च शर्मणि ॥२।२।११

मनुष्यत्वा निधीमहि मनुष्वत् समिधीमहि ॥ ५ । २१ । १

द्विताभवत्-रयिपतिः रयीणाम् ऋतंभवत्सुभृतम् ॥ ८ । ७१ । २४

विभूषन् अग्ने ! उभयान् अनुव्रतान् देवोदेवानां रजसी समीयसे,

त्रिवरूथः शिवो भव ॥ ८ । १५ । ८.

भूरिहि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित् ॥७।२२।६

अस्य शासुरुभयासः सचन्ते, हविष्मन्तः उशिजो ये च मर्त्याः॥१।६०।२

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भइव सुभृतो गर्भिणीभिः ॥

दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिः हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः॥ ३ । २९ । २

संजागृवद्भिर्जरमाण इध्यते, दमेदमूना इषयन् ईलस्पदे॥ १० । ९१ । १

स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ ७ । २ । २

त्वामीले अध द्विता भरतो वाजिभिः शुनम् ।

ईजे यज्ञेषु यज्ञियम् ॥ ६ । १६ । ४

भरद्वाजाय धूक्षत द्विता धेनुञ्च विश्वदोहसम् ।

इषञ्च विश्वभोजनम् ॥ ६ । ४८ । १३

कविमिव प्रचेतसं यं देवासो अधद्वितानि मर्त्येषु आदधुः॥८।८४।२

द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो नमस्यन्त उपरोचन्त-

भृगवः मथ्नन्तः ॥ १ । १२७ । ७ ॥*

*यज्ञ के दो मार्ग हैं। एक महामार्ग दूसरा क्षुद्रमार्ग । अग्निदेव इन दोनों मार्गों को जानते हैं। "वेत्थाहिवेधो ! अध्वनः पथश्च देव ! अञ्जसा, अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ! इसका तात्पर्य यही है कि, यज्ञ मुक्तिमार्ग में ले जाता है। और यज्ञ पार्थिव निकृष्ट स्वर्गसुख दे देने में भी समर्थ है।

विद्वांसा विद्दुरः पृच्छेदविद्वानित्थापरो अचेताः।
नूचिन्नु मर्तेऽअक्रौ तां विद्वांसा हवामहेवां तानो विद्वांसामन्म वोचेतमद्य ॥१।१२०।३

सोम, दोनों प्रकार के धन का दाता है-पार्थिव धन देता है ऋत वा नित्य धन भी देता है। हे जातवेदा! हे अग्नि! हमारे मङ्गल के निमित्त, हम तुम्हारे दोनों प्रकार से साधक होंगे स्तवकारी यजमान एवं तत्त्वदर्शी मेधावी॥ अर्थात् द्रव्यात्मक यज्ञ में मन्त्रादि उच्चारण करते तुम्हारी सेवा करेंगे, एवं भावनात्मक यज्ञ में हृदय में तुम्हारा ध्यान धरेंगे॥ हे अग्नि! पूर्व काल के मनु की भांति हम इस काल में आपको अपने हृदय में भावना करेंगे और आप को प्रज्वलित करके भी हवि आदि द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान करेंगे॥ हे अग्नि! आप दोनों प्रकार के व्रत को (द्रव्यात्मक एवं भावनात्मक व्रतको) विभूषित करते हैं। हे देव! देवताओं के जो दो प्रकार के लोक वा स्थान हैं आप यज्ञकारी को वहीं लेजाया करते हैं। आपकी जो तीन प्रकार की अवस्था हैं तदनुयायी मंगल का विधान करें॥ हे अग्नि! मनुष्यगण बहु प्रकार द्रव्यात्मक साधनवा यज्ञद्वारा हवन करते हैं। और फिर केवल बुद्धि व ज्ञान द्वाराभी आपका पूजन करते हैं। [द्रव्यात्मक और ज्ञानात्मक दोनों प्रकार का यज्ञ कथित हुआ]।* जो अज्ञ, केवलकर्मी हैं, वे हवि आदि के द्वारा अग्नि की सेवा करते हैं। जो ज्ञानी हैं वे भी हवि आदि के विना अग्नि की सेवा करते हैं॥ गर्भिणी स्त्रियां जैसे अतियत्न से अपने अपने गर्भकी रक्षा करती रहती हैं वैसेही यत्नपूर्वक दोनों प्रकार के साधक अग्नि की सेवा करते हैं। केवलकर्मी घृतादि द्वारा प्रतिदिन अग्नि में हवन करते हैं। जागरण शील मननपरायण तत्त्वदर्शी प्रतिदिन ध्यानादि द्वारा अपने हृदय में अग्नि की उपासना करते हैं॥ सतत जागरणशील स्तोतागण अग्नि की स्तुति कर रहे हैं। फिर अन्नादि के लिये वेदी में अग्नि प्रज्वलित किया जाता है। [इस मंत्र में भी ध्यानादि द्वारा आत्महृदय में अग्नि की भावना एवं वेदी के ऊपर सकाम द्रव्यात्मक यज्ञ की बात है]॥

सभी देवगण दो प्रकार से हव्य का स्वाद ग्रहण करते हैं। [इस स्थल में भी द्रव्यात्मक और भावनात्मक यज्ञ निर्देशित हुआ है]॥ हव्यदाता ऋत्विजों के सहित

* मननपरायण धीर पुरुष जरारहित अग्नि को नाना प्रकार से अपने हृदय में गूढ़स्थान में रक्षित रखते हैं। यज्ञफलभोगार्थ फलप्रदाता अग्नि की सेवा करते हैं। "धीरासः पदं कवयो नयन्ति नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम्। सिषसन्तः पर्यपश्यन्त सिन्धुम् (१।१४६ ४)

भरत राजा ने दो प्रकार से आपकी सेवा की थी उन्हों ने बुद्धि द्वारा आप की स्तुति भी की थी और हवि द्वारा यज्ञ भी किया था॥ हे अग्नि! भरद्वाज को विश्वदोहन-कारी धेनु एवं विश्वभोजन निर्वाहक अन्न दीजिये॥ हे अग्नि! आप ज्ञानविशिष्ट हैं आप चेतन हैं।

आप को देवताओं ने मनुष्यों के मध्य में दो प्रकार से स्थापित किया है॥ न-मस्कारकुशल हव्यदाता, भृगुवंशीगण दोनों प्रकार के अग्नि का गुणगान कर अ-ग्नि मंथन कर रहे एवं स्तव गारहे हैं। [कार्यात्मक एवं कारणात्मक अग्नि ही दो प्रकार का अग्नि है] अज्ञ लोग अश्विनी कुमारों से पथ पूंछते हैं। अश्विद्वयसे भिन्न सब मर्ख हैं। हे अश्विनी कुमारो! आप अभिज्ञ हैं आप ही मननीय स्तोत्र का उपदेश करें। उस स्तोत्र द्वारा हम हवि प्रदान करेंगे * „।

(ग) इन सब तथा अन्यान्य अनेक मंत्रों में दो प्रकार के यज्ञ का सुन्दर स-दुपदेश है। अग्नि आदि देवताओं को स्वतन्त्र सत्तात्मक समझ कर पूजा करने का नाम द्रव्यात्मक यज्ञ और अग्नि आदि में ओतप्रोत कारण सत्ता की भावना करने का नाम ज्ञानात्मक यज्ञ है। ज्ञानात्मक यज्ञ में अग्नि प्रभृति देव साधकों के हृदय में ध्यानादि द्वारा उपासित होते हैं, इस बात का भी उल्लेख है।

यामथर्वामनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत। तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथा इन्द्र! उक्था समग्मत। अर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ १। ८०। १६

क्रतुयन्ति क्रतवो हृत्सुधीतयो वेनन्ति वेनाः॥ १०। ६४। २

विवेष यन्मा धिषणा जजान स्तवै पुरा पार्यादिन्द्रमह्नः। अंहसो यत्र पीपरत् यथानो नावेव यान्तमुभये हवन्ते॥ ३।३२। १४

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परोमनीषया। गृभ्णन्ति जिह्वया ससम् ८। ७२। ३

को विप्रो विप्रवाहसा को यज्ञैः वाजिनी वसू! ५। ७४। ७.

अग्निं यो देवयाज्यया अग्निं प्रयत्यध्वरे अग्निं धीषु प्रथम-मग्निम् अर्वति सैन्नाय साधसे॥ ८। ७१। १२।

अग्निं धीभिर्मनीषिणो मेधिरासो विपश्चितः। अद्मसद्माय हिन्विरे॥ ८। ४३। १९।

---

* इस स्थल में अज्ञ एवं विद्वान् दो प्रकार के साधकों की बात स्पष्ट कही गई है।

भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित् ।७।२२।६

तं बोधिया परमया पुराजामजरमिन्द्रमभ्यनूष्यर्कैः । ब्रह्मा च गिरो दधिरे समस्मिन् ॥६ ॥ ३ ॥ १६

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद् गुहा निषीदन् । विदन्तीमत्रनरो धियन्धाहृदायत्तष्टान्मंत्रांअशंसन् ॥ १ ॥ १२ ॥ ४

भजन्त विश्वेदेवत्वंनामऽऋतं सपन्तो अमृतमेवैः ॥ १ ॥ १२ ॥ ५

यूवो…अयश्याम हिरण्मयं । धीभिश्चन मनसा स्वेभिरक्षभिः सोमस्य स्वेभिरक्षभिः ॥ १ ॥ १३९ ॥ २

आते अग्ने ! ऋचा हविर्हृदा तष्टं भरामसि ॥ ६ ॥ १६ ॥ ४७

यद्वां हवन्त उभये अधस्पृधि नरः ॥ ७ ॥ ८२ ॥ ९

समिधा यो निशिती दाशददितिं धामभिरस्य मर्त्यः । विश्वेत्सधीभिः सुभगो जनांऽअनति तारिषत् ॥ ८ । १९ ॥ १४

"अश्वी, मनु एवं दध्यङ्-इन्होंने पूर्व समय में जिस ज्ञान यज्ञ का आचरण किया था, उस यज्ञ में प्रयुक्त स्तोत्र व मंत्र इन्द्र के उद्देश्य से ही व्याप्त थे । इन्द्र ने अपना प्रभुत्व प्रकट किया था ।

सब यज्ञ सम्पादित हो रहे हैं ' देवताओं की स्तुतियां हृदय मध्य में निहित हैं । मनकी सब प्रार्थनाएं देवताओं के उद्देश्य से धावित हो रही हैं ।

मैं जब अपने हृदयमें स्तुति करने की इच्छा करता हूं, तभी स्तुति करता हूं । भविष्यत् अशुभ दिन आने से पूर्व ही इन्द्र की स्तुति करता हूं । जिस प्रकार दोनों तटों के लोग चलती हुई नौका के आरोहियों को तीर में लगने के लिये बुलाते हैं, उसी प्रकार हम उभय प्रकार यज्ञकारी साधकगण-इन्द्र को आह्वान करते हैं ।

वे इन्द्र की अपनी बुद्धि द्वारा हृदय के भीतर ध्याने की इच्छा करते हैं, एवं जिह्वा द्वारा भी उसकी स्तुति करते हैं ॥

हे मेधावी पुरुषों द्वारा वाहित अश्विनीकुमारो ! कौन बुद्धिमान् व्यक्ति आज बुद्धि द्वारा आपकी उपासना करेगा ? और कौन यजमान ही यज्ञ द्वारा आज आप को बुलाएगा ?

यज्ञ प्रारंभ होने पर, देवताओं के उपयोगी यज्ञानुष्ठान द्वारा अग्नि की स्तुति

किया करते हैं। और अश्वलामार्थ तथा क्षेत्र के निमित्त, अपने हृदय में बुद्धि योग से अग्नि की स्तुति किया करते हैं।

जो लोग पण्डित मेधावी एवं बुद्धिमान् हैं,–वे अपनी बुद्धि द्वारा हृदय में, अश्वलामार्थ अग्नि को प्रसन्न करते रहते हैं।

हे अग्नि! मनुष्यों के यहां बहुत भांति से आपका यज्ञानुष्ठान आचरित हुआ करता है। और सुचतुर साधक आपकी आराधना अपने हृदय के भीतर ही करते रहते हैं।

उस प्राचीन एवं जरारहित इन्द्र को नाना प्रकार की स्तुतियों द्वारा, बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ बुलाओ। मंत्रादि इन्द्र के ही लिये हैं।

सब धन लेकर गुहा के भीतर अग्नि के लुक जाने पर, देवतागण भीत हुए थे। किन्तु वे जब अपने हृदय में स्तुति व मंत्र उच्चारण कर अग्नि की प्रशंसा करने लगे, तब इस गूढ़ अग्नि को जान गए।

इस अमृत अग्नि की स्तुति द्वारा सेवा करने पर लोक में यथार्थ देवत्व लाभ किया जाता है।

सोमरस में आसक्त इन्द्रियों द्वारा, एवं बुद्धि मन, व इन्द्रिय द्वारा हम हे मित्रावरुण! आपके प्रकाशमय स्वरूप को देखना चाहते हैं।

हे अग्नि! हम अपने हृदय द्वारा सुसंस्कृत मंत्र रूप हवि द्वारा आप को पूर्ण करते हैं, सब कुछ स्वीकार करो

दोनों प्रकार के नेता पुरुष अग्नि को बुलाया करते हैं। कोई द्रव्यात्मक यागयज्ञ में, कोई ध्यान योग से, अपने हृदय में बुलाता रहता है।

जो सब लोग इस स्थूल अग्निके अवयवों सहित अखण्डनीय अग्नि की सेवा करते हैं, वे सब लोकों का अतिक्रमण करके चले जाते हैं।

पाठक महोदय! देखते हैं कि, इन सब उद्धृत श्रुतियोंमें ध्यान और बुद्धि योग द्वारा अपने हृदय में अग्नि की उपासना लिखी हुई है। ये सारी उक्तियां 'भावनात्मक यज्ञ, को ही लक्ष्य करती हैं।

(घ)। द्रव्यात्मक यज्ञकारियों के चित्त में क्रम से देवताओं का स्वतन्त्रता बोध तिरोहित होकर सब देवताओं के भीतर कारणसत्ता की अनुभूति उपजती रहती है, यही कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड में आरोहण करना है। यह बात पहिले ही कही जा चुकी है। हम समझते हैं कि, केवल कर्मीगण अत्र निकृष्ट जन्म ग्रहण

करते हैं। किन्तु भावनात्मक ज्ञानानुशीलनकारी जन उन्नत स्वर्ग में जन्म ग्रहण करते हैं *। ऋग्वेद में इस द्विविध जन्म धारणकी भी चर्चा की गई है।

त्वं तमग्ने ? अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाणऽउभयाय जन्मने मयःकृणोषि प्रयऽआचसूरये।१। ३१ ।७
वनेम पूर्वीरर्यो:मनीषा अग्निऽसुशोको विश्वान्यश्याः।
आदैव्यानि व्रता चिकित्वानामानुषस्य जनस्य जन्म ।।१।। ७० ।। ७
अस्माकं देवा उभयाय जन्मने शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे।१०।३७।११
अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभयाकवे ॥ २ ॥ ६ ॥ ७
कदाचन प्रयुच्छसि उभेनिपासि जन्मनी ॥ ८ ॥ ५२ ॥ ७
आ दैव्यानि पार्थिवानि जन्म आपश्चाच्छा सुमखाय वोचम् ।९।४१।१५
यो दैव्यानि मानुषा जनूंषि अन्तर्विश्वानि विद्मना जिगाति ।७।४।१।।
अया देवानामुभयस्य जन्मनो विद्वान् अश्नोत्यमृत ईनश्चयत् ।८८७
एता चिकित्वोभूमानि पाहि देवानां जन्म मर्त्यांश्च विद्वान्१।७०।३
ते अस्य सन्त केतवो अमृतावो अदाभ्यासो जनुषी उभे अनु।८।१५।१३
वेदजनिमा जातवेदाः देवानामुत यो मर्त्यानाम् ॥ ६ ॥ १५ ॥ १३

"हे अग्नि ! आप प्रतिदिन मनुष्य को उत्तम अमृतत्व में उन्नति किया करते हो। जो लोग उभयप्रकार जन्म लाभार्थ-मनुष्य जन्म और दैवजन्म लाभार्थ-व्याकुल होते हैं, आप उनको यथाक्रम 'प्रेम, एवं 'मय,' वितरण करते हो। जो मनुष्योचित जन्मलाभार्थ व्याकुल होते हैं, उनको आप प्रेम (पार्थिव भोग) देते हो, किन्तु जो सूरि (विद्वान्) हैं, उनको परम मङ्गल (निःश्रेयस) वितरण करते हो।

जो अग्नि मनुष्य के-मनुष्योचित जन्म एवं दैवजन्म-द्विविधजन्म के विषयसे अवगत है, जो अग्नि ज्ञान द्वारा प्राप्य है, जो अग्नि विश्वके यावन्मात्र पदार्थों में व्याप्त है, उस अग्नि को हम बुद्धि द्वारा भजेंगे।

* जो लोग देवताज्ञानवर्जित केवलकर्मी हैं, वे चन्द्रलोक शोभित निकृष्ट स्वर्ग को जाते हैं, एवं पुण्यक्षय होनेपर उनको मर्त्यलोक में लौटकर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। किन्तु कारणसत्ता के अनुसन्धानकारी सूर्यलोकशोभित उन्नतस्वर्ग में गमन करते हैं। उनको फिर लौटना नहीं पड़ता। क्रमोन्नत लोकोंमें क्रमोन्नत गति होती है।

हे देवगण! हमारे उभय प्रकार जन्म के निमित्त-मनुष्यलोक में जन्म और देवलोक में जन्म के निमित्त-हमारे द्विपद प्राणो और चतुष्पद जन्तुओं का मंगल विधान करो।

हे अग्नि! आप हमारे अन्तर को नियमित करते हैं और आप हमारे दोनों प्रकार के जन्म के तत्त्व को जानते हैं।

हे अग्नि! आप कदापि प्रमत्त न हों, आपही हमारे द्विविध जन्मोंकी निरन्तर रक्षा करते हैं।

हम स्वर्गज एवं पृथिवीज जन्मलाभ करने के निमित्त, एवं स्वच्छ जयलाभ की कामना से मरुत् गणों की उपासना करते हैं।

अग्नि आत्मप्रज्ञा द्वारा समुदय देवजन्म और पार्थिव जन्मों के भीतर गमन करते रहते हैं। अर्थात् उभय प्रकार जन्म ही, अग्नि द्वारा व्याप्त होरहा है।

हे अग्नि! आप देवजन्म और मनुष्यजन्म दोनों जन्मों से परिचित हैं। आप हमारी निरन्तर रक्षा करें।

सोम के अक्षय औज्वल्य द्वारा हमारा उभय प्रकार का जन्म अनुव्याप्त हो।

सर्ववित् अग्निदेव मनुष्य लोकोचित एवं देवलोकोचित, दोनों जन्मों की बात जानते हैं"।

पाठक! हम इन सब उद्धृत श्रुतियों में साधकों की दो प्रकार के लोकों में जन्म प्रभृति की बात स्पष्ट पाते हैं। जो केवलकर्मी होते हैं वे ही मनुष्यलोक में जन्म ग्रहण करते हैं एवं पार्थिव भोग भोगते हैं। किन्तु जो विद्वान् देवताओंमें अनुस्यूत कारण ब्रह्मसत्ता के अनुसन्धान में रत रहते हैं, उनकी गति बड़े ऊंचे स्वर्गों में होती है एवं वे क्रमशः मुक्तिलाभ करने में समर्थ हो जाते हैं। उपनिषदों के इस सिद्धान्त का पता हमें ऋग्वेद में भली भांति मिल जाता है।

(ङ) यज्ञ द्वारा जो अक्षय ज्योति-अमृत लाभ किया जाता है उसका भी श्रुति में निर्देश है। यह अमृत क्या है? यह अक्षय ज्योति क्या है? यह ब्रह्म के अतिरिक्त और क्या होसकती है।

अपाम सोममभृता भवाम अगन्मज्योतिः ॥ ८। ४८। ३

यत्त्वां हृदा कीरिणा मन्यमानो, अमर्त्यंमर्त्यो जोहवीमि ॥

जातवेदो यशोह्यस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्यास् ॥५।४।१०

तवक्रतुभिरमृतत्वमायन् ॥ ६। ७। ४।

युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥ २ । २७ । ११
शिक्षानो अस्मिन् पुरुहूत यामनिजीवाज्योतिरशीमहि ॥७।३२।२६।
ज्योतिर्विप्राय कृणुते वचस्यैव । १ । १८२ । ३ ।
कदा ते मर्त्या अमृतस्य धामे यक्षन्तो नमिनन्ति स्वधावः॥ ६।२१।३
यस्तुभ्यमग्ने अमृताय मर्त्यः समिधा दाशदुतवाहविष्कृति ।
तस्य होता भवसि यासि दूत्यं उपब्रुषे यजस्य अध्वरीयसि ॥१०।८६।११
उरुं नो लोक मनूनेषि विद्वान् सर्वज्योतिरभयं स्वस्ति ॥ ६।४७।८
भवा सुपारो अहियारयोना भवासुनीतिरुत वामनीतिः ॥६।४७।७
सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सञ्चासच्चवचसीपस्पृधाते ॥७।१०४।१२
इन्द्राग्नी !... अश्वमेधे सुवीर्यं क्षत्रं धारयतं बृहद्दिवि ।
सूर्यमिवाजरम् ॥ ५ । २७ । ३
यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन् मां धेहि पवमान ! अमृते लोके ॥ ९ । ११३ । ७
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
यत्राप्ताः कामाः तत्रमामृतं कृधि ॥ ९ । ११३ । १०

"हम सोमपान करते हैं एवं अमर होजाते हैं। हम अमृत ज्योतिको प्राप्त होते हैं।

हे अग्नि ! मैं मृत्युलोक निवासी मनुष्य हूं एवं आप अमर हैं । मैं सर्वदा स्तुति-परायण होकर अपने हृदय में आपकी परिचर्या करता हूं। हे सर्वज्ञ अग्नि ! प्रजा के सहित हमें यश दीजिये हम अमृत पदवी का लाभ कर सकें।

हे बहुलोक द्वारा आहूत इन्द्र ! हमें सुशिक्षा प्रदान करो। हम जीव हैं, हम ज्योति को प्राप्त कर सकें।

हे अश्विनी कुमारो ! मैं मेधावी-तत्त्वदर्शी हूं; मैं स्तुति करने का अभिलाषी हूं। मुझे ज्योतिदान दीजिये।

हे इन्द्र ! कब मनुष्यगण 'अमृत के स्थान, में आपका यश करेंगे ? तब ये लोग परस्पर हिंसा नहीं करेंगे। [अमृत का स्थान कारण सत्ता है। इन्द्रादिक देवगण कारण या ब्रह्मसत्तामें ही अवस्थित हैं।] हे अग्नि ! जो व्यक्ति अमृतलाभ के उद्देश्य

से आपकी हविद्वारा हो वा अन्य प्रकारसे हो, सेवा करता है, तुम उसी के सम्बन्ध में देवताओं के दूत रूपसे कार्य किया करते हो। केवल उसीके सम्बन्धके तुम यज्ञ में होता रूप से कार्य करते हो *।

हे इन्द्र! तुम हमें विस्तीर्ण लोक में ले चलो। हमें सुखमय एवं भयशून्य आलोक में ले चलो।

तुम सम्यक् प्रकार व सहज में हमें दुःख से पार करो। हमें इस संसार के परे पहुंचाओ। हमारे प्रति सुन्दर नीति व मङ्गलकर नीति का विधान करो।

जो विद्वान् हैं, वे यह भली भांति जानते हैं कि, सत् और असत् दो प्रकार के वाक्य परस्पर विरोधी;- परस्पर स्पर्धायुक्त हुआ करते हैं। जो सत्य है, जो सरल है, उस वाक्य को ही सोम रक्षित रखता है। सोम असत्य वाक्य की हिंसा करता है।

हे इन्द्राग्नी! आप दोनों अश्वमेध यज्ञ में साधक को वीर्य, बल दिया करते हैं। और आकाशस्थ सूर्य की भांति बृहत् एवं अक्षय ज्योति भी दिया करते हैं।

हे सोम! जिस स्वर्गलोक में अजस्र ज्योति स्फुरित होती है, उस अमृत लोक में मुझे ले चलो।

हे सोम! जिस लोक में मोद, प्रमोद और आनन्द हैं, जिस लोक में समस्त कामनाएं पूर्ण होती हैं,- उस अमृत लोक में मुझे अमर बनाओ।"

(च) यह भावनात्मक यज्ञ की बात ऋग्वेद में अन्य प्रकार से भी कही गई है। प्रायः सभी स्थानों में कहा गया है कि, यज्ञ का एक 'निगूढ़, पद है। अग्नि आदि देवताओंका भी एक निगूढ़ पद है। यज्ञ द्वारा केवल पार्थिव धनजनादि लाभ किया जा सकता है ऐसा नहीं, यज्ञ द्वारा निगूढ़ ब्रह्मपद, मुक्तिपद का भी लाभ किया जा सकता है। सुतरां ये सब उक्तियां भावनात्मक गूढ़ यज्ञ का ही निर्देश कर रही हैं। इस सम्बन्ध में हम ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के पञ्चम सूक्त के प्रति पाठकों की कृपादृष्टि को विशेषरूप से आकर्षित करते हैं।

---

* इस मंत्र का तात्पर्य यह है कि, जो व्यक्ति अग्निके मध्य में अविनाशी कारणसत्ता के लाभार्थ यज्ञ करते हैं, केवल उनके सम्बन्धमें ही अग्नि 'होता, स्वरूपसे कार्य करता है। अर्थात् केवल वे विद्वान् ही समझ पाते हैं कि साधक की सत्ता और देवता की सत्ता में कोई भेद नहीं। एवं वे ही समझ सकते हैं कि देवताओंके मध्य में जो कारणसत्ता अनुस्यूत है, वही अग्नि में अनुस्यूत है और वही ब्रह्मसत्ता है।

"अग्निदेवने हमें एक गंभीर गूढ़ पद बतला दिया है, जो लोग पाप परायण हैं वे इस गूढ़ पद को नहीं जानते हैं"। प्रथमतः इस प्रकार की उक्ति देखी जाती है। नवम मन्त्र में कहा गया है कि, "एक क्षीरप्रसविनी गौ अग्नि की सेवा करती रहती है। यह अग्नि महान् देवगणों का समष्टि स्वरूप है। यह अग्नि परमगूढ़ अविनाशी पद में (ऋतस्यपदे) दीप्ति पाता है"। अष्टम मन्त्र में है-"गौ के भीतर जैसे गूढ़ भाव से दुग्ध रहता है, दुहने पर बाहर निकलता है, वैसे ही अग्नि के मध्य में भी गूढ़ दुग्ध गूढ़ भाव से स्थिति करता है। हमारे इस वाक्य के पश्चात् और क्या वक्तव्य रह सकता है" ? फिर कहा गया है,-"मातृस्वरूपिणी गौ के परमपद में निगूढ़ भाव से स्थित दुग्धपान करने के लिये अग्नि की जिह्वा व्यस्त है" ? इन सब बातों का तात्पर्य क्या है ? श्रीसायणाचार्य जी ने अन्यत्र इस गौ को यज्ञ स्वरूपिणी बतलाया है। यह परमगूढ़ क्षीर क्या मुक्तिधन नहीं ? यहां पर अतिसुस्पष्ट रूपसे गूढ़ मुक्ति की बात कही गई है। यज्ञकर्ता व्यक्ति अग्नि के मध्य से ही इस मुक्तिधन को पा सकते हैं किन्तु है यह बड़ा निगूढ़। इसको सभी याज्ञिक नहीं जान सकते। जो पण्डित यज्ञ के गूढ़ तत्त्व को जानते हैं, केवल वे ही इस धनके विषय में ज्ञानलाभ कर सकते हैं। इसी लिये द्वादश मन्त्र में कहा गया है कि,-"हे अग्नि ! आप अभिज्ञ हैं। आप ही हमें बतला देवें। आप ही हमें इस धनको पाने के मार्ग का गूढ़ व उत्कृष्ट उपाय बतला देवें"। इसीलिये दशम मण्डल में कहा गया है कि—

यत् पाकत्रा मनसा दीनदक्षा न यज्ञस्य मन्वते मर्त्यासः।
अग्निष्टद्धोता क्रतुविद् विजानन् ॥ १० । २ ।५ ॥

मनुष्यगण दुर्बल हैं, इनकी बुद्धि परिपक्व नहीं, सुतरां ये यज्ञका यथार्थ तत्व नहीं जानते। अग्निदेव ही यज्ञ का तत्व समझते हैं। अश्विनी कुमारों से कहा गया है कि,-"हे अश्विद्वय ! आप का रहस्य अज्ञात न रहे, आप का गूढ़ पद हमारा ज्ञेय ही हो" ! इसी अभिप्राय पर अनेक स्थानों में "यज्ञके गूढ़पद" का उल्लेख मिलता है।

यज्ञस्य जिह्वामविदाम गुह्याम् ॥ ॥ १० ॥ ५३ ॥ ३
तासां निचिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥१०॥११४॥२
विद्वांसः पदा गुह्यानिकर्तनयेन देवासो अमृतत्वमानशुः ।१०।५३।१०
अविरन्ते अतिहितं यदासीत् यज्ञस्य धाम परमंगुहायत् ।१०।१८१।२

यानि स्थानानि असृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम्॥८॥५८॥८॥
को अद्धावेद क इह प्रवोचत् देवान् अच्छा पथ्याऽकासमेति ?
ददृश्र एषामवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥ ३ ॥५४ ॥ ५
यई चिकेत गुहाभवन्त मायःससाद धाराऽमृतस्य। वि ये घृतंतस्पृ-
तास्पंतआदिद्वसूनि प्रववाच अस्मै ॥ १ ॥ ६७ ॥ ४
यत्रावदेते अवर:परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद ॥ १०॥८८॥१७
यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति। यो अनू-
चानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् कास्वित्तत्र यजमानस्य संवित् ॥८॥५८॥१

"यज्ञ की एक जो अति निगूढ़ जिह्वा है, उस गूढ़ जिह्वा को हम पा गये हैं।"

जो तत्त्वदर्शी हैं वे देवताओं के मूल निदान (जिस मूल कारण सत्तासे देव-गण उत्पन्न हुए हैं) को जानते हैं। एवं यह भी जानते हैं कि, देवगण परम गूढ़ यज्ञ के मध्य में ही अवस्थान करते हैं।

हे तत्त्वदर्शी विद्वानो! जिस के द्वारा तुम देवता होकर अमरत्त्व लाभ करते हो, ऐसे परम गुह्य (यज्ञ के) पद का निर्माण करो।

जिस अतिगूढ़ "बृहत्, के द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान हुआ करता है, एवं जिसके विषय में दूसरा कोई जानता न था, उस का आविष्कार सविता प्रभृति देवताओंने ही किया था। भरद्वाज ने—सविता, अग्नि और विष्णु से यज्ञका निगूढ़ स्थान समझ लिया था।

हे इन्द्र और वरुण! पूर्वकाल में आप ने जिन यज्ञ के सब स्थिर स्थानों की सृष्टि की थी, हम आज यज्ञमें व्यापृत होकर, तपोयोग से उन स्थानोंका दर्शन करेंगे।

यथार्थ तत्त्व कौन जानता है? कोई यथार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में बोल सकता है? कौन मार्ग देवताओं के निकट तक ले जाता है? हम देवताओं के अवरस्थान को देख पाते हैं। दुर्ज्ञेय गूढ़ यज्ञ में जो स्थान निश्चित है, हम उसे भी देखते हैं।

जो लोग निश्चित रूप से गूढ़ अग्नि को जान सकते हैं एवं अमृतधारक अग्नि के समीप उपस्थित होते हैं एवं जो व्यक्ति ऋत द्वारा यज्ञ सम्पादन करते हुए अग्निकी स्तुति करते रहते हैं—ऐसे महानुभावों को ही अग्निदेव धन की बात बतला देते हैं।

अग्नि दो प्रकार का है। एक अग्नि निकृष्ट स्थान में स्थित (स्थूल) है, दूसरा अग्नि उत्तम स्थान में स्थित (सूक्ष्म) है। इस द्विविध यज्ञ के अग्नि के मध्य में वास्तव में कौन अग्नि यज्ञ के योग्य है ?

तत्त्वदर्शी ऋत्विक् जन जो अग्नि की इस प्रकार कल्पना करके यज्ञानुष्ठान करते हैं, जो मन्त्रोच्चारण न कर के भी ध्यान युक्त होते हैं, उस विषय में यजमान की प्रज्ञा किस प्रकार की है ? ।

और अधिक अंश उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। सर्वत्र ही यज्ञके एक गूढ़ स्थान की चर्चा एवं एक गूढ़ यज्ञ की बात पाई जाती है। यज्ञ के गूढ़ पद की भांति अग्न्यादि देवताओं के भी एक गूढ़ पद का वर्णन मिलता है। इस प्रकार की उक्तियों का उद्देश्य क्या है ? यदि देवताओं के उद्देश्य से अनुष्ठित यज्ञ केवल मात्र सकाम द्रव्यात्मक यज्ञ ही होता, तो हम ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इस प्रकार यज्ञ और देवताओं के सम्बन्ध में एक गूढ़ पद का उल्लेख कदापि न पाते। अग्नि आदि देवताओं के सम्बन्ध में गूढ़पद का उल्लेख इस रूप में है—

विद्वान् परस्य गुह्यानवोचत् युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ॥ ७।८७। ४
यूना हि सन्ता प्रथमं विजज्ञतुर्गुहाहितं जनिमनेमसुद्यतम् ॥८।६८।५

जो योग्य अन्तेवासी (शिष्य) हैं, उन को ही वरुणदेव ने एक परम गूढ़ पद के विषय में शिक्षा देकर बतला दिया है। सोम दो प्रकार का है। एक स्थूल, दूसरा अतिसूक्ष्म या निगूढ़। यह दोनों प्रकार का सोम एकत्र अभिव्यक्त हुआ था ॥

इस भांति गूढ़ यज्ञ एवं गूढ़ देवता की बात ऋग्वेद में निर्देशित हुई है। प्रथम मण्डल के १२ वें सूक्त में हम एक मन्त्र देखते हैं—"देवगण भी अग्नि के इस गूढ़ पद को जानने में पहले समर्थ नहीं हुए। पश्चात् अतिकष्ट एवं बहुत परिश्रम स्वीकार कर ध्यानयोग से अग्नि के इस गूढ़ स्वरूप को जान सके थे" *। पाठकगण ! विवेचना कर के देखें, अग्नि आदि का यह परम गूढ़पद—कार्यों में अनुस्यूत 'कारणसत्ता, ब्रह्मसत्ता व्यतीत अन्य कुछ नहीं हो सकता। कार्यवर्ग के भीतर भावना व अनुसन्धान करते करते, यह ब्रह्मसत्ता साधक के अनुभव में आ जायगी। यही ज्ञान यज्ञ का लक्ष्य है। ऋग्वेद ने यही बतला दिया है। इसी लिये तो यज्ञ के साधन स्वरूप अग्नि को स्पष्टरूप से 'ज्ञानाकार, मान लिया गया है †।

*अस्मे वत्सं परिषन्तं न विन्दन्,इच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः। श्रमयुवः पदव्यो धियन्धाः तस्थुः पदे परमेचार्वग्नेः (१।७२।२)

† मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं''' मतिम् (१०।९१।८)

(छः) । इन्द्रादि सभी देवता यज्ञकारी मनुष्य को दो प्रकार का धन देने में समर्थ हैं । एक प्रकार का धन पार्थिव धन जन सुखादि, दूसरा धन परमश्रेष्ठ अवि॰ नाशी मुक्ति धन । ऋग्वेद के स्थान स्थान में इस द्विविध धन का उल्लेख मिलता है। हम एतद्द्वारा भी द्रव्यात्मक और भावनात्मक, उभय यज्ञों का ही अनुष्ठान समझ पाते हैं । क्योंकि, उपनिषद् की आलोचना में हम देख आये हैं कि, अज्ञ कर्मीगण ही 'दृष्ट, पशु पुत्र वित्तादि के लिये द्रव्यात्मक यज्ञका आचरण करते हैं, अथवा ये लोग निकृष्ट 'अदृष्ट, स्वर्गादि प्राप्ति की आशा में द्रव्यात्मक यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। किन्तु जो लोग अग्नि आदि देवताओं में कारणसत्ता का अनुसन्धान करके भावना॰ त्मक यज्ञानुचरण करते रहते हैं, उन का लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति ही है, वे लोग उन्नत स्वर्ग लोकों में भी ब्रह्म का ही ऐश्वर्य दर्शन करते करते मुक्ति लाभ में समर्थ होते हैं। सुतरां ऋग्वेद में इस दो प्रकार के धन की बात बतला कर, द्रव्यात्मक व ज्ञानात्मक इन दोनों मतों का ही निर्देश किया है।

त्वमग्नऽउरुशंसाय वाघते स्पार्हं यद्रेक्णः परमं वनोषि तत् ।
आध्रस्य चित् प्रमतिरुच्यसे पिता प्रपाकं शास्सि प्रदिशो विदुष्टरः॥
१ । २ । ३४

त्वां वर्द्धन्ति क्षितयः पृथिव्यास् त्वा राय उभयासो जनानाम् ।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥।१।१५
यस्य विश्वानि हस्तयोरूचुर्वसूनि निद्विता ॥ ४ । ७ । २२
यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन्तं धेहि मा पणौ ॥ ८ ।९७। २
यज्ञियेभ्यो अमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमं""सवितः ॥ ४ । ५४ । २
ईशानो वस्व उभयस्य कारव इन्द्रावरुणा सुहवा हवामहे ॥ ७।८२॥
अवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनं वाजान अस्मभ्यं गोमतः चोदयित्री॥
७ । ८१ । ६

इशेहि अग्निरमृतस्य भूरेरायः सुवीर्यस्य दातोः ॥ ७ । ४ । ६
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ?
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ७ । ५९ । १२
उभयं ते न क्षीयते वसव्यं दिवे दिवे जायमानस्य दस्म ॥२।९।५

त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्वं दिवि यदु द्रविणं यत्पृथिव्याम् ॥४।५।११
वियोरत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथादधत् ॥
. ४ । ५४ । १

तवेदिन्द्र अवमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।
सत्राविश्वस्य परमस्य राजसि ॥ ७ । ३२ । १६

किं नो अस्य द्रविणं कद्धरत्नं विनो वोचो जातवेदश्चिकित्वान् ।
गुहाध्वनः परमं यन्नो अस्य रेकु पदं न निदाना अगन्म ॥ ४।५।१२

तच्चित्रं राध आभरोषो यद्दीर्घश्रुत्तमम् ।
यत्ते दिवो दुहितर्मर्तभोजनं तमास्वभुनजामहै ॥ ७। ८१ ।५

नितद्दधिषेवरं परञ्च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे ॥ १०।१२०।७

त्वं वसूनि पार्थिव्य दिव्या च सोम पुष्यसि ॥ ९ । १०० । ३

ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य ॥ ५ । ६८ । ३

मयः कृणोपि प्रय आच सूरये भरद्वाजाय धुक्षत द्विता ।
धेनुञ्च विश्वदोहसम् ईपञ्च विश्वभोजसम् ॥ ६ । ४८ । १३

आविर्गुहा वसु करत् सुवेदो नो वसु करत् ॥ ६ ४८ । १५

ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन् ॥ ६ । १९ १०

या वहसि पुरु स्पार्हं वनन्वति रत्नं न दाशुषे मयः ॥ ७ । ८१ । ३

अश्याम तं काममग्ने अश्याम द्युम्नमजर अजरं ते ॥ ६ । ५। ७

दधत् रयिं नर्यिं पोषम् (सोमः) ॥ ९ । ६६ । २१

"हे अग्नि! जो व्यक्ति तुम्हारी स्तुति करता है, तुम उसको सर्वापेक्षा स्पृहणीय धन प्रदान किया करते हो। तुम प्रसन्न होकर, दुर्वल साधकोंके पितृवत् पालनकर्ता हो। तुम अभिज्ञतम हो, तुम साधकों के शिक्षादाता हो। एवं उनको प्रकृष्ट रूप से आदेश दिया करते हो। हे अग्नि! तुम मनुष्यों को दोनों प्रकारका धन (पार्थिवधन और स्वर्गीय धन) प्रदान करते हो, इसीसे मनुष्यगण स्तव स्तुति द्वारा तुम्हारी संवर्द्धना करते हैं। तुम्हीं मनुष्यों के रक्षक हो एवं माता पिता की भांति सर्वदा मनुष्यों के पालक और विपत्ति में रक्षाकर्ता हो। इन्द्र के हाथ में दिव्य और पार्थिव

उभयविध धन होने से ऋषि गण इन्द्र का कीर्तन करते हैं। जो सब व्यक्ति तुम्हारे उद्देश्य से यज्ञानुष्ठान करते हैं, हे इन्द्र! तुम उनको जैसे गो अश्वादि पार्थिव धनदान करते हो,वैसेही तुम उनको अव्यय (मुक्तिधन) भी दिया करते हो। हे सविता! तुम यज्ञकारी पुरुषों को अत्युत्तम अमृत धन प्रदान करते रहते हो। हे इन्द्र और वरुण! आप उभयविध धन के ईश्वर हैं। हम आपकी स्तुति करते हैं आपको बुलाते हैं। हे ऊषा! तत्त्वदर्शी साधकोंको अमृत अक्षय धन प्रदान करो। हमको बहु गोविशिष्ट अन्न भी दो। अग्नि जैसे वीर्यवान् अन्नसमूह का स्वामी है, वैसे ही वह प्रचुर अमृत-धन का भी ईश्वर है। पुष्टिवर्द्धनकारी त्र्यम्बक (रुद्र) की पूजा करते हैं। वे हमको मृत्यु से (संसारबन्धन से) मुक्त करें। ऊँचे से ऊँचे लोकों में जो उत्कृष्ट और निकृष्ट धन है, उसका क्षय नहीं। हे अग्नि! पृथिवी पर जो सब धन है, आप उस सब पार्थिव धन के प्रभु हैं। एवं देवलोकों में जो उत्कृष्ट धन है, उसके भी आप स्वामी हैं। जो सविता मानवगण को पार्थिव धन प्रदान करते हैं वे ही हमको यज्ञ में श्रेष्ठ द्रविण (मुक्तिधन) प्रदान करें। हे इन्द्र! तुम त्रिविध धनका पोषण करते हो। निकृष्ट, मध्यम एवं अत्युत्कृष्ट-इस तीन प्रकार के धन के तुम राजा हो। रत्न क्या है? रत्नापेक्षा भी सारभूत धन क्या है? हे जातवेदा अग्नि! आप अभिज्ञ हैं, आप ही हमें यह समझा देवें। आप हमें धनप्राप्ति साधक मार्ग के पानेका जो गूढ़ उपाय है, वह बतला देवें। हम जिससे निन्दनीय गन्तव्य स्थान में न जावें—परम-पदमें ही प्राप्त हो जावें। [परमपद और गूढ़ उपाय-इस स्थलमें ब्रह्मप्राप्ति है।] हे ऊषा! मृत्यु-लोक में भोग के उपयुक्त धन का वितरण करो। और अतिदीर्घ श्रवणतम (बहुत दूर स्थान में जो है एवं जो अति प्रसिद्ध है) तथा विचित्र जो तुम्हारा धन है, वह भी हमारे लिये ले आओ। हे इन्द्र! तुम अपने निवास स्थान में दिव्य व पार्थिव-उभय-प्रकार के धन की रक्षा करते हो। मित्र और वरुण दोनों हमको पार्थिव व दिव्य उभयविध धन देने में समर्थ हैं। हे अग्नि! तुम पार्थिव भोग प्रदान किया करते हो एवं तत्त्वज्ञ व्यक्तियोंको परम मंगलमय श्रेयोधन प्रदान करते हो॥ अग्निने भरद्वाजके उद्देश्य से, विश्वदोहनकारिणी धेनु एवं विश्वभोजनविधायक अन्न प्रदान किया था। मरुद्गण हमारे निकट उस परमगूढ़ धन को प्रकाशित करते हैं एवं उसे सुलभ कर देते हैं। इन्द्र उभय प्रकार धन के स्वामी हैं। ऊषा बहुत बड़े स्पृहणीय धन को धारण करती है। और वह यज्ञकारी के लिये हितकर रत्न भी रखती है। हे अग्नि तुम्हारे प्रसाद से हमारे चित्त की सारी वासनाएँ तृप्तिलाभ करती हैं। और

अजर अक्षय धन भी (मुक्तिधन भी) पा सकते हैं। सोम सब के पोषणकर्ता पार्थिव धन (रयि) एवं मुक्तिधन (मयि) को धारण किये है"।

(ज)। पाठकगण अवश्य ही समझ गए होंगे कि, देवता केवल पार्थिव धन के ही प्रभु हैं, ऐसा नहीं, देवता अमृत अविनाशी परम धन देने में भी समर्थ हैं। जो ज्ञानी हैं, केवल वे ही इस परमश्रेष्ठ मुक्तिधन के अधिकारी हैं। अज्ञानी कर्मी-गण पार्थिव-धन-जन-पुत्र-पशु-यश-मान व्यतीत उस श्रेष्ठधन को नहीं पा सकते हम उपनिषदों का ऐसा ही सिद्धान्त देख चुके हैं। ऋग्वेद में भी अविकल वही सिद्धान्त देख रहे हैं। अन्य प्रकार से भी ऋग्वेद में यह मुक्तिधन की बात कह दी गई है। अनेक स्थलों में, इन्द्र, सोम, अग्नि प्रभृति देवताओं को लक्ष्य करके ऐसी प्रार्थना की गई है कि, देवगण 'त्रिधातु, मंगल प्रदान करते हैं। हमारी समझ में आता है कि, इस 'त्रिधातु, शब्द का भी गूढ़ तात्पर्य है। कार्य, कारण और कार्य-कारण दोनों की मूलगत सत्ता,-इन तीन अवस्थाओं को ही 'त्रिधातु, शब्द का लक्ष्य जानिये। अग्नि सूर्यादि सभी देव कार्य हैं, इनके भीतर एक कारण सत्ता अनुप्रविष्ट हो रही है। और इस कारण-सत्ता के मूल में निर्विशेष ब्रह्मसत्ता ही विराजमान है। जो लोग अज्ञ, कर्मी हैं, वे कार्यों को लेकर ही व्यग्र हैं। ये स्थूलदर्शी हैं। किन्तु जो सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी हैं वे सर्वत्र कारणसत्ता का ही अनुसन्धान व दर्शन करते हैं। और इस कारणसत्ता को पकड़े २ ब्रह्म में तन्मय होजाते हैं। अस्तु, 'त्रिधातु मङ्गल, शब्द व्यवहार से, कर्मी और ज्ञानी साधकों का दृष्टि विभेद ही सूचित हुआ है *। और सभी देवता पार्थिव सम्पद्, देवसम्पद् एवं मुक्ति सम्पद् देने में समर्थ हैं, यह बात चतुरता के साथ बतला दी गई है।

त्रिधातुना शर्मणा पातमस्मान् ॥ ८। ४०। १२

त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती ॥ १। ३४। ६

यावः शर्म शशमानाय सन्ति ॥

त्रिधातुनि दाशुषे यच्छ ॥ १। ८५। १२

त्रिवरूथं शर्म यंसत् ॥ ८। ४२। २

* त्रिस्थान में स्थित देवताओं के प्रति जो आहुति दी जाती हैं, उसमें एक प्रकार की आहुति अनृत, दूसरे प्रकार की ऋत, तीसरे प्रकार की प्रत्न वा पुरातन (१०। १०५। ५ है। इसके द्वारा भी कर्मी और ज्ञानी द्वारा प्रदत्त आहुति की त्रिविध अवस्था निर्देशित हुई है।

त्रिधातु यत् वरूथ्यं तदस्मासु वियन्तन ॥ ८ । १०

त्रिवरूथः शिवो भव ॥ ६ । १५ । ८

इन्द्र ! त्रिवरूथं स्वस्तिमत् ॥ ६ । ४६ । ८

"इन्द्र एवं अग्नि दोनों, हमारी 'त्रिधातु'-विशिष्ट कल्याण द्वारा रक्षा करें॥ हे अश्विनीकुमारो! हमको त्रिधातु विषयक मंगल प्रदान करो। हे मरुद्गण! जो आपके स्तवकारी हैं, उनको देने के योग्य जो त्रिधातु विशिष्ट मङ्गल है, वही प्रदान करो। हम वरुण के क्रोड़ में वर्तमान हैं। वरुण हमें तीन स्थान वाला आश्रय प्रदान करें। हे आदित्यगण! आप सब त्रिधातु विशिष्ट स्थान के उपयुक्त मङ्गल हमारे ऊपर विधान करें। हे अग्नि! तुम तीन स्थानों में निवास करते हो, तीन तुम्हारे वास-स्थान हैं। तुम हमारे सम्बन्धमें शुभकारी होओ। हे इन्द्र! कल्याणमय तीन निवास-स्थान मुझे दो"।

(झ) अब हम और एक बात कह कर, इस दो प्रकार के यज्ञ विषय का अपना वक्तव्य पूरा कर देंगे। हमने देखा है कि द्रव्यात्मक यज्ञके फल से पितृयान मार्ग द्वारा निम्न स्वर्गमें जाना होता है एवं ज्ञानात्मक यज्ञ के फल से देवयान मार्ग द्वारा उन्नत स्वर्ग में जाना होता है। ऋग्वेद में भी यह दो प्रकार की गति वर्णित हुई है अग्नि आदि देवगण उक्त दोनों मार्गों से ही साधककी गति का नियमन करते हैं, यह बात ऋग्वेद में सर्वत्र पाई जाती है। सुतरां द्रव्यात्मक और ज्ञानात्मक यह दोनों यज्ञ ही ऋग्वेद के लक्ष्य हैं।

यं यज्ञं नयथा नर आदित्या ऋजुना पथा। प्रवःस धीतये नशत्॥१।४१।५

अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः॥१।४२।७

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासो रेणवः सुकृताऽ अन्तरिक्षे।

तेभिर्नो अद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देव॥

१।३५।११

स चन्द्रो विप्र मर्त्यो महो व्राधन्तमो दिवि ॥ १ । १५० । ३

प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन् ॥ ७ । ७६ । २

विदुष्टरो दिव आरोधनानि ॥ ४ । ७ । ८

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ॥१० । १७।६

उभे अभिप्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १०।१७।६

विद्वां अग्ने! वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक् छुरुधो जीवसेधाः।
अन्तर्विद्वान् अध्वनो देवयानान् अतन्द्रोदूतो अभवो हविर्वाट् ॥
१ । ७२ । ७

द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ॥ १० ।८८।१६

अपक्रतुं सुचेतसं सुपथा नयन्ति ॥ ७ । ६० । ६

असौ यः पन्था आदित्यो दिवि प्रवाच्यं कृतः । न स देवा अतिक्रमे, तं मर्तासोन पश्यथ वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ १ । १०५ । १६

इमे नु ते रश्मयः सूर्यस्य येभिः सपित्वं पितरो न आसन् ॥१। १०९।७

उरुं नो लोकमनुनेषि विद्वान् सर्वज्योतिरभयं स्वस्ति ॥ ६। ४७ । ८

हे आदित्यगण ! तुम जिस यज्ञ में ऋजुपथ द्वारा (देवयान मार्ग द्वारा) * मनुष्य को ले जाते हो, तुम्हारे उपभोग के लिये वही यज्ञ हो। हे पूषा ! विघ्नकारी शत्रुओं को अतिक्रम कर हमें ले जाओ। हमें सुमार्ग द्वारा (देवयान पथ द्वारा) सुख से जाने दो। इस मार्ग में हमारी रक्षा करो। हे सविता ! अति प्राचीन काल से तुम्हारा जो पथ धूलिविहीन होकर अन्तरिक्ष में विस्तृत होरहा है, हम उस पथ से सानन्द गमन कर सकें। उस मार्ग द्वारा गमन के समय हमारी रक्षा करें। एवं हमारी बात देवताओंसे करें॥ हे अग्नि ! जो व्यक्ति तुम्हारा यज्ञ सम्पादन करता है, वह व्यक्ति स्वर्ग में चन्द्र की भांति सबको आनन्द दायक होता है †। हे ऊषा ! तेज द्वारा प्रदीप्त देवयाग मार्ग का मैंने दर्शन किया है। हे अग्नि ! तुम सर्वापेक्षा अभिज्ञ हो। स्वर्ग लोक में चढ़ने योग्य जो सब मार्ग हैं, उन सब देवयान मार्गों को तुम जानते हो। सब मार्गों में जो प्रकृष्ट मार्ग (देवयान मार्ग) है, पूषा उसी मार्ग में दर्शन देते हैं। पृथिवी और स्वर्ग के मार्ग दोनों मार्गों में पूषा का दर्शन होता है ये उभय मार्ग-प्राप्त दोनों स्थान पूषा को अतिप्रिय हैं। इन दोनों मार्गों का तत्त्व विशेष रूप से जानते हुए पूषा दोनों मार्गों में विचरण करते हैं। हे अभिज्ञ अग्निदेव ! विविध कर्मानुसार अनेक लोकों में होने वाली जीवों की

---

* "अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्,"-ईशोपनिषद के इस मन्त्र की व्याख्या में श्रीशङ्कराचार्य 'सुपथ, शब्द का अर्थ 'देवयान मार्ग, करते हैं। तदनुसार मैंने भी यहां सुपथ का अर्थ देवयान लिखा है।

† "पितृलोकात् आकाशम् आकाशात्, चन्द्रमसम्" यही पितृयान मार्ग है।

गतिको आप भली भांति जानते हैं, जिन सब मार्गों द्वारा विविध, उन्नत, स्वर्गलोकों में जाया जाता है, आप उन देवयान मार्गों को जानते हैं। आप तन्द्रा रहित होकर हमारी दी हुई हवि को स्वीकार करें। हमने दो प्रकार के मार्गों की बात सुनी है, एक पितृयान मार्ग है दूसरा देवयान मार्ग है। जो भावनात्मक यज्ञकारी हैं, उन सब मननशील व्यक्तियों को मित्र और वरुणदेव देवयान मार्ग में ले जाते हैं। इस आकाश में यह जो सूर्यरश्मिप्रदीप्त देवयान मार्ग विस्तीर्ण हो रहा है, उस को देवगण भी अतिक्रमण नहीं कर सकते एवं मनुष्य गण उसे देख नहीं सकते। इन सब सूर्य रश्मियों का अवलम्बन कर हमारे पूर्व-पुरुष यथायोग्य स्थानमें चले गये हैं। हे इन्द्र! तुम हमको विस्तीर्ण लोक में ले चलो एवं भयशून्य मङ्गलमय ज्योति में ले चलो" ॥

केवलकर्मी और ज्ञानविशिष्टकर्मी—ये दो श्रेणी के साधक हैं। द्रव्यात्मक और भावनात्मक यह दो प्रकार का यज्ञ है। इस यज्ञ के फल से पितृयान और देवयान मार्गद्वय से साधकों की गति होती है। यह सब तत्त्व ऋग्वेद में मिल जाता है। प्रिय पाठकों ने जान लिया है कि उपनिषद् और वेदान्तसूत्रों के भाष्य में श्रीशङ्कर स्वामी जी ने भी इस दो प्रकार के साधन का ही निर्देश किया है।

ऋग्वेद के सूक्त दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं।

१४। हमें यदि ऋग्वेद के सूक्तों का विशेष मनन करते हैं एवं भले प्रकार आलोचना करते हैं, तो तब भी यही सिद्धान्त अनिवार्य हो उठता है। देवताओं के उद्देश्य से विरचित सूक्त अधिकारी भेद से प्रधानतः दो प्रकार के ही देखे जाते हैं। ऊपर जो दो प्रकार की उपासना एवं दो श्रेणी के साधक देखे गए हैं * तदनुसार ऋग्वेद के सूक्त भी दो श्रेणियों में विभक्त हैं। ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि, सूर्य प्रभृति देवताओं के प्रति कुछ ऐसे विशेषण प्रयुक्त हुए हैं कि वे मनुष्योचित गुणग्राम विशिष्ट हैं। दृष्टान्त के लिये, इन्द्रादि देवताओं के रथ, अश्व, सारथी, भूषण, केश, श्मश्रु, हस्त प्रभृति का उल्लेख किया जासकता है। इतना ही क्यों, कितने ही सूक्तों में देवताओं में मनुष्यों की भांति क्रोध, हिंसा आदि का होना भी लिखा हुआ है। हमारा विश्वास है कि, इस प्रकार के सूक्त निकृष्ट साधकों के पक्षमें कथित हुए हैं। जो लोग

---

* "आश्रमिणो वर्णिनश्च 'कार्य, ब्रह्मोपासकाः हीनदृष्टयः। 'कारण, ब्रह्मोपासकाः मध्यमदृष्टयः। अद्वितीय ब्रह्मदर्शन शीलास्तु उत्तमदृष्टयः। उत्तमदृष्टि प्रवेशार्थं दयालुना वेदेनोपासना उपदिष्टा,,-गौड़पादकारिकाभाष्यव्याख्यायाम् आनन्दगिरिः १।१६॥ इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में चरमश्रेणी का एक प्रकार का सूक्त है। तद्विषयक आलोचना पीछे की जायगी।

केवल कर्मी हैं, जो लोग अग्नि आदि कार्यों-को स्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति-ज्ञान शाली देवता समझ कर, सकाम यज्ञों का अनुष्ठान किया करते हैं,-यह आदर्श उनके ही लिये है। जो लोग ऐहिक सुखसमृद्धि के व्यतिरिक्त परकाल और परब्रह्म की बात किञ्चित् भी नहीं जानते, उनके मन में धीरे धीरे ब्रह्म का प्रकाश डालने के उद्देश्य से, प्रथमतः मनुष्य के साथ तुल्यगुणादिविशिष्ट रूप से ही देवता का आदर्श उपस्थित किया गया है। यदि केवल कर्मी संसारी पुरुषों के आगे एक बार ही मनुष्य राज्य के बाहर वाला निर्गुण निष्क्रिय उपास्य देव का आदर्श लाया जाय, तो निकृष्ट साधक उससे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। साधारण साधक के चित्त में ऐसा उच्च आदर्श चढ़ ही नहीं सकता। अस्तु, देवताओं के रथसारथी आदि का वर्णन करने वाले मंत्र कार्यावस्था के सूचक हैं।

किन्तु जब देवोपासना करते करते चित्त शुद्ध निर्मल हो कर स्थिर होने लगा; जब चित्त उन्नत होकर अग्नि आदि कार्यों की स्वतंत्र सत्ता के बदले उनके भीतर अनुस्यूत हुई कारण सत्ता * या ब्रह्मसत्ता को समझने लगा और ज्ञान का सुप्रकाश सर्वत्र पड़ने लगा; जब भिन्नता को छोड़ कर एकता की ओर चित्त चलने लगा, तब उपास्य आदर्श भी भिन्न भांति का खड़ा हो गया। उस समय जैसे इन्द्र देवता अपरिमित अपरिच्छिन्न पृथिव्यादि का सृष्टिकारक जगत् का आधार जान पड़ा वैसे ही अग्नि सोमादि देवता भी ब्रह्मरूप समझ पड़े। इस प्रकार देवताओं की क्रिया का अपरिमितत्व एवं सब क्रियाओं का एकत्व स्फुटित हो जाने पर, देवताओं में अनुप्रविष्ट कारण सत्ता की एकता की ओर साधक का चित्त प्रधावित होने योग्य हो जाता है। इसी उद्देश्य से वेद में ऐसी वर्णना निबद्ध हुई है कि,-एक ही अग्नि विविध आकारों से आकाश, अन्तरिक्ष भूलोक, ओषधि एवं जल में अवस्थित हैं। एक ही इन्द्र सूर्य रूप से नक्षत्र रूप से, अग्नि रूप से, और विद्युत् रूपसे अवस्थित है। फिर इन्द्र, अग्नि, सोमादि देवताओं का 'विश्वरूप' नाम से भी वर्णन किया गया है। इन सब वर्णनों का एक ही उद्देश्य है। देवताओं की क्रियावली यदि एक ही प्रकार की है, तो सब देवता मूल में एक हैं,-सुतरां वे स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं हैं,-यह महातत्त्व विकशित कर देना ही उक्त सम्पूर्ण विशेषणों का उद्देश्य है।

---

* "कारण" ब्रह्मोपासका मध्यम दृष्टयः"-आनन्दगिरि एवं शङ्कर।

"कदा ते मर्त्ता 'अमृतस्य धामे, यदन्तो न मिनन्ति स्वधावः।" (६। २०। ३) अमृत का धाम--कारणसत्ता या परमपद है। उसमें मनुष्य गण कब याग करेंगे?

१५। हम इस विषय पर, यहां पर कुछ विशेषण उद्धृत करते हैं। हम इन विशेषणों को तीन। श्रेणियों में विभक्त कर लेंगे। हम दिखलावेंगे कि,-(१) देवताओं के कार्यों की भिन्नता कथन मात्र है। उनके कार्यों में कोई भिन्नता नहीं। (२) देवताओंके नामों की, भिन्नता भी कथन मात्र है, उनके नामों में भी कोई भिन्नता नहीं है। (३) देवता सर्वव्यापी, सर्वात्मक, अपरिमित हैं। वे सब परस्पर में परिणत होते हैं। (४) देवता मूल सत्ता, द्वारा भी भिन्न नहीं हैं। एक ही मौलिक ब्रह्मशक्ति-विविध आकारों से विविध नामों से, नाना स्थानों में क्रिया कर रही है। इस प्रकार देवताओं की स्वतंत्रता, कथन मात्र ही रह जाती है, इनकी मूल गत सत्ता एक है। इस आलोचना द्वारा सहृदय पाठक अवश्य ही समझ सकेंगे कि, ऋग्वेद जड़ वस्तुओं के प्रति प्रयुक्त स्तुतियों का संग्रह ग्रन्थ नहीं है।

देवताओं और मूल सत्तामें कोई भिन्नता नहीं है।

(१) हम पहले यही दिखाते हैं कि, देवताओं के कार्यों में कोई भिन्नता नहीं। इन्द्र देव जो काम करते हैं, अग्नि देव भी वह काम करते हैं। और अग्नि जिन क्रियाओंमें समर्थ हैं, सोमादि सकल देव भी उनमें समर्थ हैं। सभी देवता इसी प्रकार हैं। सोमदेवता के लिये कहा गया है कि सोम-

(क) आकाश और पृथिवी को स्तंभित कर रहा है। अन्तरिक्ष आदि का विस्तारक है, सूर्य का उत्पादक है। और सोम ने ही सूर्य में ज्योति निहितकी है, आकाशादि को पूर्ण किया है।

अयंद्यावा पृथिवी विस्कंभात् विस्टम्भो दिवो धरुणो पृथिव्याः ९। ८९। ६ स्कंभो दिवः, ९। ८६। ४६ वियो तस्तंभ रोदसी, ९।१०१। १५ त्वमाततंथ उर्वन्तरिक्षम्। अनुद्यावा पृथिवी आततंथ, ८।४८। १३ अजनयत् सूर्यज्योतिः अदधात् इन्द्रे ऊर्जः, ९। ९७। ४ अयं सूर्ये अदधात् ज्योतिरन्तः, ६। ४४। २३ अजीजनोहि सूर्यम्, ९। ११०। ३ सूर्यं रोहयो दिवि, ९। १०७। ७ त्वं ज्योतींषि पवमान सूर्यः ९। ८६। २८

इन्द्रदेवता ने भी उक्त सब काम किये हैं। देखिये मन्त्र—

यो अन्तरिक्षं विममेवरीयो। योद्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः। २।१२।२ पप्रथाय क्ष्मां महिदंसोव्यूर्वी। आमृष्वो बृहदिन्द्रः स्तभायः

अधार यो रोदसी, ३। १७।७ अस्तभ्ना उतद्याम्, ८। ८९। ५ द्यामस्तभायत् बृहन्तं आरोदसी अपृणदन्तरिक्षम्। स धारयत् पृथिवीं पप्रथञ्च २। १५। २

अजान सूर्यम्, दाधार पृथिवीम्, ३। ३२। ८, ६। ३०। ५ त्वं सूर्यमरोचयः, ८। ९८। २। आसूर्यं रोहयोदिवि, ८। ८९। ७ अजनयत्........सूर्यमुपसं.....अग्निम्। ३। ३१। १५

जनिता सूर्यस्य, ३। ४९। ४ इन्द्र आपप्रौ पृथिवीमुतद्याम्, ३। ३०। ११। आपृणत् रोदसी उभे, ३। ३४। १ उभे पृणासि रोदसी, ८। ६४। ४

इन्द्रा-सोमा—सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह, ३। ७२। २ द्याम् स्कंभयुः, ६। ७२। २

अग्निदेव भी अविकल इन सब कार्यों के कर्ता हैं, यथा—

येन अन्तरिक्षमूर्वा ततंथ, ३। २२। २ आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्, १। ७३। ८

पप्रौ भानुना रोदसी, ६।८६ त्वं भासा रोदसी आततन्थ, ७।१।४ आपृणः भुवनानि रोदसी, ३। ३। १० एवं। ६। ८। ३ अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि, १०। १५६। ४

सूर्य सविता भी इन सब कामों को अविकल किया करते हैं—

द्यामदृंहत्, १०। १४९। १ दिवःस्कंभः ४। १३। ५ आप्रा-द्यावा पृथिवीअन्तरिक्षम्, १। ११५। ५ उतेदं विश्वं भुवनं विराजसि ८। ८१। ५

विष्णुदेव ने भी अन्तरिक्ष-विस्तारादि कार्य किया है—

उदस्तंभा नाकमृष्वं बृहन्तम्, ७। ९९। २ विचक्रमे पृथिवीमेषः ७। १००। ४ अस्तंभात् रोदसी.......दाधर्त पृथिवीम्,। ७। ६६।३ जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्,। ६। ६६। ४।

वरुण देवता से भी ये सब कार्य हुये हैं—

द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विस्कभिते, । ६ । ७० । १ वियस्तस्तंभ रोदसी, चिदूर्वी, । ७ । ८६ । १ प्रनाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्चभूम, । ७ । ८६ । १

यस्मिन् विश्वानि चक्रे नाभिरिव श्रिता । ८ । ४१ । ६, १०

अन्तर्मही बृहती रोदसी मे, ७ । ८७ । २

त्रिस्रो द्यावा निहिता अन्तरस्मिन्, ७ । ८७ । ५

रदत्पथो वरुणः सूर्याय । ७ । ८७ । १

यः स्कम्भेन विरोदसी । ८ । ४१ । १०

ववर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् । ५ । ८५ । ३

वियोमसे पृथिवीं सूर्येण । ५ । ८५ । ५

वरुणश्चकार सूर्याय पन्थाम् । १ । २४ । ८

त्वं विश्वस्य दिवश्च ग्मश्च राजसि । १ । २५

मित्रावरुण--अधारयतं पृथिवीमुतद्याम् ।

वर्द्धयतमोषधीः पिन्वतं गा अववृष्टिं सृजतम् ५ । ६२ । ३

ऊषा के भी कार्य इन मन्त्रों में देखने योग्य हैं-

आपृणन्ती अन्तरीक्षाव्यस्थुः । ७ ७५ । ५

सहीचिचारश्मिभिश्चेकिताना । ४ । १४ । ३

दिवः स्कम्भः । ४ । १४। ५, विश्वं जीवं प्रसुवन्ती ७ । ७७।१

अजीजनत् सूर्यं यज्ञमग्निम् । ७ । ७८ । ६

आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय । १ । ११३ । १६

मरुद्गणकी कार्यावली भी अविकल वैसी ही है-

विरोदसी तस्तभूर्मरुतः । ८ । ९४ । ११

विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् । ८ । ९४ । ९

अश्विनी कुमारों के कार्य लक्ष्य करने चाहिये—

युवमग्निंश्च अपश्च वनस्पती । रश्विना मै रयेथाम् ।१।१५७।५

पूषा एवं मित्र देवता के कार्य देखिये-

व्यस्तंभात् रोदसी मित्रा अकृणोत् ज्योतिषा तमः । ६। ८।३

सूर्यमधत्त दिवि सूर्यं रथम्, मित्रोदाधारपृथिवीमुत द्याम्३।५९।१

द्यावापृथिवी के भी ये ही सब कार्य देख लीजिये-

रजसो धारयत् कवी । १। १६०। १

देवीधर्मणा सूर्यः शुचिः । १ । १६० । १

पिता माता च भुवनानि रक्षतः । १ । १६० । २

रोदसी अवासयत् । १ । १६० । २ ॥ *

(ख) इन्द्र, सूर्य, सोम, अग्नि प्रभृति प्रत्येक देवता ने पृथिव्यादि लोकों का निर्माण किया है एवं अग्निसूर्य विद्युत् इन तीन 'रोचन, वस्तुओं का निर्माण किया है सो भी हम अनेक श्रुतियों में लिखा पाते हैं।

इन्द्र के सम्बन्ध में-

इन्द्रेण-रोचना दृळ्हानि । ८ । १४ । ९

तिस्रो भूमिर्नृपते त्रीणि रोचना विवक्षिथ । १ । १०२ । ८

इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय ' ८ । ९१ । ५

सोम के सम्बन्ध में-

रजसो विमानः ।९। ६२ । १४ अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु ।६।४४। ४

सूर्य के सम्बन्ध में-

वियो ममे रजसी । १ । १६० । ४

आप्रारजांसि दिव्यानि पार्थिवा । ४ । ५३ । ३, । ८१ । ५। ३

त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना । ४ । ५३ । ५

उत यासि सवितः त्रीणि रोचना । ५ । ८१ । ४

अग्नि के सम्बन्ध में-

* मित्रादि सभी देवताओंने सूर्यका पथ बना दिया है, यह बात भी लिखी है। यथा यस्मा आदित्या अध्वनः रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ७ । ६० । ४ सूर्यं दिविरोहयन्तः (विश्वेदेवाः) १० । ६५ । ११ । सब देवताओं ने अन्तरिक्ष, पृथिवी सूर्यादि रोचन पदार्थों को विस्तारित किया है) "स्वर्णरमन्तरिक्षाणि रोचना द्यावाभूमी पृथिवीं स्कंभुरोजसा,, (१० । ६५ । ४)

वियोरजांसि अमिमीत सुक्रतुः। ६।७।७
वैश्वानरो त्रिदिवो रोचना कविः।

अग्नि सोम के सम्बन्ध में-

युवमेतानि दिवि रोचनानि।
अग्निश्च सोम सुक्रतु अधत्तम्। १।९३।५

वरुण के सम्बन्ध में—

रजसो विमानः। ७।८७।६
त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं सदः। ८।४१।९
ओरोचना वरुण द्यौनुतद्यून्। ५।६९।१

मरुत् के सम्बन्ध में-

त्रिषधस्थस्य। ८।९४।५ पप्रथन् रोचनादिवः। ८।९४।९

विष्णु के सम्बन्ध में-

वियोरजांसि विममे ६।४९।१३, रजसे पराके। ७।१००।५
यः पार्थिवानि विममे रजांसि। १।१५४।१

सोम-पूषा के सम्बन्ध में-

रजसो विमानः। २।४०।३

मित्र के सम्बन्ध में-

द्यौर्णि मित्र धारयसे रजांसि। ५।६९।१

मित्रा-वरुण के सम्बन्ध में-

या धर्तारा रजसो रोचनस्य पार्थिवस्य। ५।६९।४

फिर सब देवताओं को एकत्र करके भी यह बात कही गई है-

तिस्रोभूमीर्धारयन्, त्रीन् उतद्यून्। ऋतेन आदित्याः, २।२७।८
अन्तरीक्षाणि रोचना स्कम्भुः। १०।६५।२

(ग) वरुण, सोम, इन्द्र, इन्द्र-सोम, मित्रा वरुण प्रभृति सभी देवताओं ने गौ के स्तन मण्डल में दुग्ध भर दिया है देखिये-

ततान.....त्रय उस्त्रियासु (वरुणस्य)
राजाना मित्रावरुणा सुपाणी,
गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा (मित्रावरुण)

अयं गोषु शच्या पक्वमन्तः सोमो दाधर (सोम) ६ । ४४ । २४

प्रपिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुः (सोम) ९ । ९३ । ३

इन्द्रासोमा पक्वमामास्वन्तर्निगवामिद्दधथुः (इन्द्रसोम)६।७२।४

आमासु पक्वमैरय, आ सूर्यं रोहयोदिवि (इन्द्र) ८। ८९ । ७

स्वाद्म संभृतमुस्रियायाम् । (इन्द्र) ३ । ३९ । ६

आमासु चिद्दधिषे पक्वमन्तः ।

पयः कृष्णासु रुशद्रोहिणीषु (इन्द्र) १ । ६२ । ९

(घ) सोम, इन्द्र, मरुद्गण, विष्णु, अग्नि, सूर्य, इनमें प्रत्येक ने वृत्र का वध किया है—

त्वं सोमासि सत्पतिः त्वं राजा उत वृत्रहा (सोम),१।९१।५

त्वमहिनाम्नां हन्ता (सोम) । ९ । ८८ । ४

हन्ता वृत्राणामसि सोम ।, ९। ८८ । ४

बिभर्त्ति चार्विन्द्रस्य नामयेन विश्वानि वृत्राजघान (सोम)
९ । १०९ । १४

वयं ते अस्य वृत्रहन् ! (सोम) ९ । ९८ । ५

स वृत्रहा सनयो विश्ववेदाः (अग्नि) ३ । २० । ४

वृत्रहणं पुरन्दरम् (अग्नि) ६ । १६ । १४ ।

अग्निम्.......वृत्रहन्तमम् (अग्नि) ६ । १६ । ४८

यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते (अग्नि) १ । ५९

वृत्रहणा उभे स्तः (इन्द्राग्नी) १ । १०८ । ३

घ्नतो वृत्राणि (इन्द्रवायू) अमित्रहा वृत्रहा (सूर्य) १० । १७० । २

सखे विष्णो!.....हनाव वृत्रम् (विष्णु । ८ । १०० । १२

वृत्राणि जिघ्नसे पुरन्दर ! (इन्द्र)

स.....वृत्रहा (इन्द्र) ३ । ३१ । ११, २१

हन्ता वृत्रमिन्द्र (इन्द्र) ७ । २० । २

स्वेनादि वृत्रं शपथा जघन्थ (इन्द्र) ७ । २१ । ६, ८। ९३ । १६

वाहुवोजसा अहिञ्च वृत्रहावधीत् (इन्द्र) १ । ८३ । २, ४, ३२
अनु वृत्राणि (बृहस्पति), ६ । ७३ । १ । २
बृहस्पतिम् वृत्रखादम् । १० । ६५ । १८
मरुतो वृत्रहंसवः (मरुत्) ६ । ४८ । २१ ।

प्रिय पाठक! और एक विषय लक्ष्य करने योग्य है। यह बात सर्वत्र कही गई है कि, इन्द्र, सोमादिक सभी देवता पाप नाशक, कल्याणकारी हैं। एवं प्रत्येक देवता के आधीन एक ओषधि (भेषज) है। यह औषधि मनुष्यों के दुःख, ताप आदि रोग की भेषज है। जड़ पदार्थ कदापि पाप नाश नहीं कर सकते। सुतरां वैदिक ऋषिगण, देवता कहने से तन्मध्यगत चेतन सत्ता व कारण-सत्ता या ब्रह्म-सत्ता को ही समझते थे। हम इस सम्बन्ध में कुछ स्थल उद्धृत करके दिखाते हैं।

नयातीन्द्रो विश्वस्य दुरितस्य पारम् (इन्द्र) १०) १६३ । ३
विश्वा दुरिता तरेम (वरुण) ८ । ४२ । ३
अच्छिद्रं शर्मभुवनस्य गोपाः (मित्र और वरुण) ५ । ६२ । ९
विश्वानि देवसवितर्दुरितानि परासुव (सविता) ५ । ८२ । ५
पर्जन्य.....हंसि दुरितः (पर्जन्य), ५ । ८३ । ५
सनः प्रजन्य ! महि शर्म यच्छ—८ । ८३ । ५
विश्वानि अग्ने दुरितानि पर्षि (अग्नि) ५ । ३ । ११
पूषा नः पातु दुरितात् (पूषा), ६ । ७५ । १०
विश्वा.......दुरिताय देवी (ऊषा), ७ । ७८ । २
नयन्ति दुरिता तिरः (इन्द्र वरुण,, मित्र, अर्यमा । १। ४१। ३
अदितिः.....शर्म यच्छतु (अदिति) ६ । ७५ । १७
पर्षिनः पारमंहसः (रुद्र), २ । ३३ । ३
तिराश्चिदंहः सुपथा नयन्ति (मित्र, वरुण) ७ । ६०। ६
ऋजू मर्त्येषु वृजिना च पश्यन् (सूर्य) ७ । ६० । २

सभी देवता पाप नाशक और मङ्गल कारक कहे गए हैं—

यदाविर्यदपाच्यं (गूढं) देवासो ! अस्ति दुष्कृतं.....
आरे दधातन (देवाः), ८ । ४७ । १३

विश्वस्मान्नो अंहसो निष्पिपर्त्तन (विश्वेदेवा) १।१८६।१

अभयं शर्म यच्छत, अति विश्वानि दुरिता, १०।६३।७।१२

अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु० । २ । २७ । ३

ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ६ । ५१ । २

सभी देवतागण मनुष्यों के हृदय के गुप्त स्थानों में पाप पुण्य को देखने वाले हैं। ऐसा अनेक वार कहा गया है। क्या जड़ पदार्थों के लिये भी ऐसा कथन कदापि सम्भव हो सकता है? कदापि नहीं। देवगण जो मंगलमय औषधि धारण करते हैं सो भी सुन लीजिये—

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मे, विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तं
(सोम-रुद्र) ६ । ७४ । ३

सहस्रं ते भेषजा (रुद्र) ७ । ४६ । ३

हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि (रुद्र) १ । ११४ । ५

या वो भेषजा मरुतः शुचीनि (मरुत्) २ । ३३ । १३

त्रिर्नो अश्विना ! दिव्यानि भेषजा,

त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः (अश्विद्वय,) १।३४।६, ८।९।१६

पर्जन्यो न ओषधिभिर्मयोभुः (पर्जन्य) ६ । ५२ । ६

सभी देवता जगत् के मंगलकारक भेषज स्वरूप हैं।

यूयं हि ष्ठा भिषजो मातृतमाः विश्वस्य ।
स्थातुर्जगतो जनित्रीः, (विश्वेदेवा) ६ । ५० । ७

(ख) इन्द्र सोमादि देवता वर्ग प्रत्येक त्रिधातु हैं एवं सभी 'त्रिधातु मंगल" प्रदान किया करते हैं। हमें जान पड़ता है कि कार्य कारण एवं कार्यकारणावस्था से परे की अवस्था इन तीन अवस्थाओं को लक्ष्य कर के ही "त्रिधातु" शब्द व्यवहृत हुआ है।*

---

* सर्ववेदभाष्यकार श्रीसायणाचार्य ने ९ । ८६ । ४६ ऋचा में 'धातु, शब्द का अर्थ-'उपादान, (Onoterial) किया है। इस अर्थ के अनुसार 'त्रिधातु' शब्द का अर्थ तीन उपादानों से प्रस्तुत भी हो सकता है। सत्व, रज और तम इन तीन उपादानों द्वारा प्रत्येक देवता निर्मित हैं, ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। ऋग्वेद में प्रत्येक देवता के विशेषण रूप से 'त्रिधातु, शब्द व्यवहृत हुआ है। सांख्य का त्रिगुण शब्द इस त्रिधातु से ही बना जान पड़ता है।

त्रिविष्टि धातुप्रतिमानि ओजसः (इन्द्र) १।१०२।८,६।४६।७
अर्कस्त्रिधातुः रजसो विमानः (अग्नि) ३ । २६ । ७
अग्निस्त्रीणि धातूनि आक्षेति (अग्नि) ८।३९।९,७।७२।९
त्रिधातुना शर्मणा यातम् (इन्द्राग्नी) ८।४०।१२
या वः शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि (मरुत्) १।८५।१२
स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत् [पर्जन्य] ७।१०१।२
त्रिधातु राय आसुवा वसूनि [सविता] ३।५६।६७
सविता शर्म यच्छतु अस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः [सविता]
४।५३।६
त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती [अश्विद्वय १।३४।६
त्रिवरूथं शर्म यंसत् [वरुण] ८।४२।२
य उ त्रिधातु [विष्णु] १ । १५४ । ४
परित्रिधातुर्भुवनानि अर्षीहि [सोम] ९।८६।४६
अयं त्रिधातु......विन्ददमृतं निगूढम् [सोम] ६ । ४४ । २४
सभी देवता त्रिधातु मङ्गल देने में समर्थ हैं पढ़िये मन्त्र—
त्रिधातु यद्वरूथ्यं तदस्मासु वियन्तन [आदित्यगण] ८।४७।१०
त्रिधातवः परमाः [विश्वेदेवा] ५।४७।४
शर्म नो यंसत् त्रिवरूथमंहसः [विश्वेदेवा] १०।६६।५

(छ) सभी देवता "प्रथम" एवं विश्वरूप हैं। यह बात भी हम पाठकों को श्रुतियों में दिखा देंगे। जैसे देवताओं में इन्द्र प्रथम (पहला) है वैसे ही सोम भी प्रथम है। अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझिये। कहीं पहला देव अग्नि लिखा है, कहीं पहला देव सूर्य है। और जैसे इन्द्रदेव विश्व रूप है वैसे ही सोम भी विश्वरूप है। समस्त देव विश्वरूप हैं। विश्वरूप शब्द का अर्थ यह है कि सभी देवता सकल रूप धरने में शक्तिमान् हैं। एक देवता का एक ही रूप रहता है ऐसा नहीं।*

* ऋग्वेद में प्रत्येक देवता का 'विश्वरूप, नाम से वर्णन होने से आधुनिक विज्ञान का Transformation of energy तत्त्व ही क्या नहीं पाया जाता? प्रत्येक देवता अपर देवता के आकार या रूप में परिणत हो सकती है। विश्वरूप शब्द का यही तो सुसंगत तात्पर्य है।

त्वां देवेषु प्रथमम् (अग्नि) १ । १०२ । ७

त्वामग्ने प्रथमम्…देवम् (अग्नि) ४ । ११ । ५

उषः सूनृते प्रथमा (उषा) १ । १२३ । ५

उषः सुजाते प्रथमा (उषा) ७ । ७६ । ६

त्वां देवेषु प्रथमं हवामहे (इन्द्र) १ । १०२ । ९

गोपा…याति प्रथमः (इन्द्र ५ । ३१ । १

ऋषिर्हि पूर्वजा असि (इन्द्र) ८ । ६ । ४१

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा (बृहस्पति) ६ । ७३ । १

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः (बृहस्पति) ४ । ५० । ४

विभु प्रभु प्रथमम् (बृहस्पति) २ । २४ । १०

स सत्वभिः प्रथमः (बृहस्पति) २ । २५ । ४

अपां सखा प्रथमजा ऋतावा (वायु) १० । १६८ । ४

प्रथमा (प्रथमौ)…अश्विद्वय, २ । ३९ । ३

देवता सभी विश्व रूप हैं। निम्न लिखित प्रमाण पढ़िये—

महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा

विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ (इन्द्र) ३ । ३८ । ४

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (इन्द्र) ६ । ४७ । १८

पुरुध-प्रतीकः (इन्द्र) ३ । ४८ । ३

बृहत्केतु पुरुरूपम् (अग्नि) ५ । ८२ । ५

परित् मना विपुरूपः (अग्नि) ५ । १५ । ४

वित्वां न वः पुरुत्रा सपर्यन् (अग्नि) १ । ७० । ५

स कविः काव्या पुरुरूपं…पुष्यति (वरुण) ८ । ४१ ५

विश्वारूपा प्रतिचक्षाणो अस्य (सोम) ९ । ८५ । १२

विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः (सविता) ५ । ८१ । २

देवस्तुष्टो सविता विश्वरूपः (सविता) ३ । ५५ १९

पुरुरूप उग्रः (रुद्र) २। ३३। ९
विभर्षि विश्वरूपम्, २। ३३। १०
विश्वरूपम्‥‥बृहस्पतिम्, १०। ६७। १०

इस प्रकार हम बहुत प्रमाण उद्धृत कर दिखा सकते हैं कि ऋग्वेद के देवता वर्गों का कार्य-भेद कथन मात्र ही है। सब देवता सब कार्य करने में समर्थ हैं। इस लिये देवताओं में कार्यगत कोई भेद नहीं है।

देवताओं में कार्यों की भांति नामोंकी भी भिन्नता नहीं है।

(२) देवता वर्ग में केवल कार्यगत भेद नहीं यही नहीं, किन्तु इनमें नाम-गत भेद भी नहीं है। नामगत भिन्नता भी कहने मात्र की है, यथार्थमें कोई भिन्नता नहीं। इस समय हम यही लिखेंगे। वैदिक ऋषि एक देवता को अन्य देवता के नाम से सम्बोधन करते थे। वे जानते थे कि देवता जैसे कार्यतः भिन्न नहीं हैं, वैसे ही वे नामतः भी भिन्न नहीं हैं।

प्रसिद्ध वैदिक पण्डित श्रीयुक्त सत्यव्रत सामश्रमी महाशय ने यास्ककी युक्ति का अनुसरण कर यह सिद्धान्त किया है कि, ऊषोदय के पर ही अरुणोदय काल होता है। अरुणोदय के पश्चात् जब सूर्य का प्रकाश कुछ तीव्र हो उठता है: उसका नाम 'भग, है। भगोदय के परकालवर्त्ती सूर्य का नाम है 'पूषा,। पूषा से अर्कोदय पर्यन्त 'अर्यमा, यहां तक पूर्वाह्ण हो गया। मध्यान्हकाल के सूर्य्य का नाम 'विष्णु, है। इस रीति से ऋग्वेद में एक सूर्य्य के, भग अर्यमा, पूषा, सविता और विष्णु अनेक नाम हैं। उदय से अस्त पर्यन्त साधारण नाम सूर्य है। इसीलिये ऋग्वेद में सूर्य्य को कभी भग नाम से कभी सविता नामसे कभी पूषा नाम से सम्बोधन किया गया है। और फिर एक ही वस्तु आकाश में सूर्य्य, अन्तरिक्षमें विद्युत्, भूलोक में अग्नि नाम से-इन तीन भावों से विकाशित हो रही है। सुतरां अग्नि को सूर्य्य नाम से बुलाया गया है। कहीं, 'रुद्र, भी अग्नि का नामान्तर माना गया है। फिर ऐसी बात भी ऋग्वेद में हैं कि, इन्द्र सभी देवताओं के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र ही स्वयं सूर्य्य, नक्षत्र, चन्द्र और अग्नि रूप से क्रिया करते रहते हैं। सुतरां अग्नि वा सूर्य 'इन्द्र, नाम से भी सम्बोधित हुए हैं। अग्नि को बल से उत्पन्न, बलका पुत्र भी अनेक स्थानों में कहा गया है। मरुद्गण रुद्रके पुत्र माने गये हैं। इससे यही ज्ञात होगा कि, अग्नि और मरुद्गण एक ही वस्तु हैं या एक ही वस्तु के दो विकाश हैं। इन सब हेतुओं से देवताओंके नामों की भिन्नता वास्तविक भिन्नता नहीं। निम्न

लिखित मन्त्रोंसे पाठक निश्चय कर लेंगे कि, अवश्य ही देवतायें नामतः भिन्न नहीं हैं। इन्द्र का सूर्य्य नाम से सम्बोधन—

उत्--असारसैपि सूर्य ! ८ । ९३ । १, ८ । ५२ । ७

यदद्य कञ्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य । ८ । ९४, ३ । ३३ । ६

हे इन्द्र ! हे सूर्य्य ! यजमानके चारों ओर उदित होओ। हे वृत्रहा इन्द्र सूर्य्य आज यत्किञ्चित् पदार्थ के अभिमुख उदित हुए हो ! ।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ । ६ ।

चतुर्दिग्वर्ती सब जीव, इन्द्र के सहित सूर्य्य, अग्नि, वायु और नक्षत्र गणों का सम्बन्ध स्थापन करते हैं। अर्थात् सूर्य्य, अग्नि, वायु और नक्षत्र गण इन्द्र के ही मूर्त्यन्तर मात्र इन्द्र के ही भिन्न भिन्न मूर्त्ति विशेष मात्र हैं, यह बात जीवगण समझ जाते हैं। इस सूक्त के तृतीय मन्त्र में भी इन्द्र का सूर्य्य रूप में वर्णन है।

निम्नलिखित मन्त्रों में इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, रुद्र, पूषा, सविता, प्रभृति नामों से अग्निदेव का बोध होता है—

त्वमग्ने इन्द्रो वृषभः सतामसि,
त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः
त्वं ब्रह्मा रयिवित् ब्रह्मणस्पते
त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥ २ । १ । ३
त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतः,
त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः ।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं,
त्वमंशो विदथे देव भाजयुः ॥ २ । १ । ४
त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि । ५ ॥ ३
त्वमग्ने रुद्रो असुरो महोदिवः त्वं
शर्धोमारुतं पृक्ष ईशिषे त्वं पूषा ॥ २ । १ । ६
त्वं देवः सविता त्वं भगः ॥ २ । १ । ७

अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया ॥ ८ । ७२ । ३

हे अग्नि! आप ही धार्मिकोंके अभीष्ट वर्षण कारी 'इन्द्र, हैं। आप ही बहुलोक कर्तृक गीत और नमस्य 'विष्णु; हैं। सफल धनके अभिज्ञ 'ब्रह्मा, और 'ब्रह्मणस्पति, नामक देवता आप ही हो। आप ही सबके विधाता एवं आपही सब की बुद्धि के सहित अवस्थान करते हो। हे अग्नि आप ही व्रतधारी 'वरुण, हो। आप शत्रु विनाशक और नमस्कार के योग्य 'मित्र, हो। धार्मिकों के रक्षक 'अर्यमा, हो। आप ही 'अंश, हो। हे देव! यज्ञ में फल प्रदान करो। हे अग्नि! इस महान् आकाश में महा बलवान् (असुर) 'रुद्र, आप ही हो। आप ही 'मरुत् सम्बन्धी दल, हो। आप 'पूषा' हैं। आप ही अन्न धनादि के ईश्वर हैं। आप 'सविता, एवं आप ही 'भग, हैं। उस 'रुद्र, अग्नि को हृदय मध्य में बुद्धि द्वारा इच्छा करते हैं। अन्य मन्त्रों में भी अग्निके अनेक नाम लीजिये—

चन्द्रं रयिं...चन्द्रं चन्द्राभिर्गृणते युवस्व ॥ ६ । ६ । ७

पुरुनाम पुरुष्टुत ॥ ८ । ९३ । १७

महत्ते वृष्णोरसुरस्य नाम ॥ ३ । ३८ । ४

भूरिनाम वन्दमानो दधाति ॥ ५ । ३ । १०

मर्त्यो अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे ॥ ८ । ११ । ५

अग्ने भूरीणि...तव...अमृतस्य नाम ॥ ३ । २० । ३

मित्रो अग्निर्भवति यत् समिद्धो
मित्रो होता वरुणो जातवेदाः ॥ ३ । ५ । ४

त्वमदिते सर्व त्राता ॥ १ । ९४ । १५

विष्णुर्गोपा...अग्निष्टा विश्वाभुवनानि वेद ॥ ३ । ५५ । १०

यमो ह जातो यमो जनित्वम् ॥ १ । ६६ । ४

विश्वा अपश्यत् बहुधा ते अग्ने
जातवेदः तन्वो देव एकः

इत्यादि मन्त्रों का सूक्ष्म अर्थ यह है कि,—हे अग्नि! आप चन्द्र नाम से विख्यात हैं। हम आनन्ददायक स्तोत्र द्वारा बुलाते हैं। हमें आनन्दप्रद धन दीजिये। अग्नि जब समिद्ध उज्वल हो उठते हैं, तब उनको 'मित्र, कहते हैं। अग्नि देव ही

होता एवं सर्वभूतर 'वरुण, हैं। सबके रक्षक विष्णु अग्नि-समग्र भुवन को जानते हैं। जो जन्मा है और जन्माता है सभी 'यम, है। हे अग्नि! आप ही वे यम हो। "यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ १ । ८३ । ६ ।, १० । ५१ । १ मन्त्रमें कहा गया है कि अग्नि का जो नाना स्थानों में बहुविध शरीर हैं उसे एक ही मात्र देवता जानने में समर्थ है।

सोम के भी इन्द्र, सविता, अग्नि, वरुण और सूर्य आदि नाम हैं। प्रमाण यथा—

विभर्त्ति चारु इन्द्रस्य नाम येन विश्वानि वृत्रा जघान॥९।१०९।१४

त्रिभिष्ट्वं देव सवितः वर्षिष्ठैः सोम धामभिः

अग्ने दक्षैः पुनीहि नः ॥ ९ । ६७ । २६

आत्मा इन्द्रस्य भवसि ॥ ९ । ८५ । ३

राज्ञोनुते वरुणस्य व्रतानि बृहद्गभीरं तव सोम धाम ॥१।९१।३

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात् विश्वारूपा प्रतिचक्षाणो अस्य।

भानुः शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत् प्रारुरुचत् रोदसी-

मातरा शुचिः ॥ ९ । ८५ । १२

असि भगो असि मघवा मघवद्भ्य इन्दो ॥ ९ । ९८ । ५४

अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानः अर्षति ॥ ९ । १०१ । ७

उते कृण्वन्तु धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः ॥ ९ । ९९ । ४

सारांश यह कि हे सोम! आप इन्द्र सविता आदि हैं। आप ही राजा वरुण हैं। वरुण के कार्य आपके ही हैं। आपका धाम या स्थान (कारणसत्ता) बृहत् एवं गंभीर है। सोमने ही आकाश में ऊपर सूर्य रूपसे अवस्थित होकर जनक-जननी तुल्य द्युलोक और भूलोक को शुद्ध पवित्र किरणों द्वारा ज्योतिर्मय बनाया है। भग इन्द्र, पूषा, रयि, भर्ग, सोमके ही नाम हैं। सकल देवताओं के नामों से संवलित स्तुति द्वारा सोम को बुलाते हैं।

सविता का—सूर्य, पूषा, मित्र, चन्द्र, वरुण एवं पावक नाम से निर्देश किया गया है।

उत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।

उत रात्रीमुभयतः परीयसे ।
उत मित्रो भवसि देव धर्म्मभिः ॥ ५ । ८१ । ४
उत पूषा भवसि देव यामभिः ॥ ५ । ८१ । ५
येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनांअनु
त्वं वरुण पश्यसि ॥ १ । ५० । ६

हे सविता ! तुम सूर्य किरण द्वारा सङ्गत हुआ करते हो *। तुम उभय पार्श्व की रात्रिके मध्य में होकर भी गमन करते हो (चन्द्र) तुम्हारे कार्य द्वारा तुम्हें 'मित्र, भी कहा जाता है। हे सविता ! दिवसमें तुम्हें पूषा कहा जाता है। हे वरुण! हे आदित्य ! तुम प्राणीगण के पोषणकारी रूपसे इस जगत् को देखो। रुद्रका नाम कपर्दी एवं ईशान है पूषा का भी वही। "कपर्दिनमीशानम्" † ॥ ६ । ५५ । २ ॥ अश्विनी कुमारों का पूषा नाम देखिये—"श्रिये पूषन् । देवा नासत्या १ । १८४ । ३ ॥ सभी देवताओं के असंख्य बहुत नाम हैं, यह बात भी ऋग्वेद ने हमें बतला दी है "विश्वामि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवः उत यज्ञियानिवः ॥ १० । ६३ । २ ॥ हे देवगण ! आप सबके नमस्कारार्ह और वन्दनीय अनेक नाम हैं। आपके यज्ञिय नाम भी अनेक हैं।

इस के अतिरिक्त सभी देवताओं का अन्य एक परम गुह्य नाम भी है यह भी हम ऋग्वेद में पाते हैं। ऐसी बात क्यों कही गई ! कार्यवर्ग के भीतर अनुस्यूत गूढ़ भाव से स्थित कारण सत्ता ही इस कथन का लक्ष्य है।

देवो देवानां गुह्यानि नाम आविष्कृणोति ॥ ८ । ८५ । २

देवताओं का जो परम गोपनीय एक एक नाम है सोमदेव ही उसका आविष्कार करते हैं। अन्यत्र भी हम पाते हैं कि अग्नि का एक परम गुह्य नाम है।

विद्मा तेनाम परमं गुहा यत्
विद्मात मुत्सयत आजगंथ ॥ १० । ४५ । २

हे अग्नि ! हम आप का परम गोपनीय नाम जान सके हैं एवं आप जिस उत्स से आये हो उस उत्स को भी जान गए हैं।

---

* सूर्योदय के पूर्व का नाम 'सविता, है उदय से लेकर अस्त होने पर्यन्त साधारण नाम "सूर्य,, है। सायणाचार्य।

† १ । ११४ सूक्त के प्रथम व पञ्चम मन्त्रमें रुद्र का नाम 'कपर्दी, लिखा है।

पाठकवर्ग ! यह "उत्स" क्या कारणसत्ता नहीं ?

१६। हम इस आलोचना से देख पाते हैं कि देवताओं के कार्यों और नामों की स्वतन्त्रता को ऋग्वेद स्वीकार नहीं करता। एक ही सत्ता विविध नामों से विविध कार्यों का सम्पादन करती है यह तत्त्व ही अन्त में हाथ लगता है। यदि देवताएं स्वतन्त्र स्वतन्त्र जड़ वस्तु हों तो फिर एक का कार्य दूसरे में एवं एक का नाम दूसरे में कदापि आरोपित न हो सके। देवताओं की मूल सत्ता एक है इसी से कहते हैं कि सकल देवगण सकल कार्य करते हैं एवं सब के नाम सब धारण कर सकते हैं। इस प्रकार साधक जन जब देवताओं के कार्य और नाम की एकता समझ सकते हैं जब साधकगण देखने लगते हैं कि सकल देवताओं के नाम ही सकल देवताओं में प्रयुक्त हुए हैं तब उन के मन में यह महान् तत्व स्वतः ही प्रस्फुटित हो उठता है कि देवता स्वतंत्र स्वाधीन पदार्थ नहीं, उनकी मौलिक सत्ता एक ही है अतएव देवताओं में भी अभेद ही है इस मूल गत एकत्व की ओर उस समय चित्त स्वयं ही धावित होता है। एक अविनाशी सत्ता ब्रह्मसत्ता से ही देवगण विकाशित हुए हैं एवं एक ही मूलसत्ता विविध देवताओं के नामों से विविध क्रियाएं कर रही हैं मूल तत्व से कोई भी पृथक् नहीं "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म" सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है यह सत्य सिद्धान्त साधकों के चित्त में भली भांति अङ्कित हो जाता है।

१। देवताओं की मूल-सत्ता में भी भिन्नता नहीं।

इस प्रकार एकत्व की धारणा साधक के चित्त में उदित होती एवं देवता सम्बन्धी स्वातन्त्र्यबोध क्रम से क्रम नष्ट हो जाता है। चित्तकी यह क्रमोन्नति-उपासना का यह क्रम विकाश-ऋग्वेद में प्रतिपदमें लक्षित होता है। क्रमशः सर्वत्र अद्वैत ज्ञान सुदृढ़ हो रहता है। इस भाँति की पूर्णोन्नति होने पर वास्तविक ज्ञानकाण्ड में पूर्णाधिकार हो जाता है। इन्द्र, वायु, वरुण, सूर्य प्रभृति का स्वतन्त्र वस्तुत्व अनुभव में कभी आता ही नहीं, सभी देव एक हो जाते हैं। यही साधना की उच्चावस्था है। ऋग्वेद में इस भाव के समर्थक अनेक सूक्त हैं जिनका व्यवहार केवलमात्र एक अद्वितीय ब्रह्म में ही किया जा सकता है। क्रमसे हम यह बात सिद्ध करेंगे।

(२) देवताओं के कार्यों एवं नामों की भिन्नता जितनी ही चली जाती है उतना ही देवता ससीम परिच्छिन्न, स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं हैं—यह धारणा दृढ़ीभूत हो जाती है। और ऐसा ज्ञात होने लगता है कि मानो देवता असीम, अपरिच्छिन्न एवं अपरिमित हैं। पाठक निम्नोद्धृत सूक्तोंमें प्रत्येक देवताकी अपरिच्छिन्नताका सुस्पष्ट तत्व देखेंगे। इन्द्र के अपरिमितत्व और व्यापकत्व सम्बन्ध में—

देवताओं का अपरिमितत्व और व्यापित्व।

प्रमात्राभिः रिरिचे रोचमानः प्रदेवेभिर्विश्वतोऽअप्रतीतः।
प्रमज्मना दिवऽइन्द्रः पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षात् ऋ-
जीषी॥ ३। ४६। ३
प्र अन्तुभ्य इन्द्रः प्रवृधो अहभ्यः प्रान्तरीक्षात्प्रसमुद्रस्य धासेः
प्र वातस्य प्रथमः प्रज्मो अन्तात् प्रसिन्धुभ्यो रिरिचे प्रक्षि-
तिभ्यः।१० ८९।११
प्र हि रिरिक्ष ऽओजसा दिवो अन्तेभ्यस्परि नत्वा विव्याच रज
इन्द्र॥ ८। ८८। ५

न यस्य देवा देवता न मर्त्या आपश्च न शवसो अन्तमापुः।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवतु इन्द्रऊती॥१।१००।१०
न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमा-
नशुः। १। ५२। १४।
अस्येदेव प्ररिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरीक्षात्।१।६१। ९
प्रत्यक्षाणो अतिविश्वा सहांसि अपारेण महता वृष्ण्येन॥१०। ४४। १
न प्रतिमानमस्ति। ६ १८। १२ ' असाम्नं त्वाम्। १ १०२। ७ ॥
परोमात्रम्। ८ ६८। ६। अमितक्रतुः। १। १०२। ६।
न त्वावान् अन्यो दिव्येन पार्थिवोन जातो न जनिष्यते॥७।३२।२३
यद्वासि रोचने दिवः समुद्रस्याधिविष्टपि। यत्पार्थिवे
सदने वृत्रहन्तमयदन्तरीक्ष आगहि॥ ८। ९७। ५, ८।६५ २
न रोदसी महिमानं ममाते॥ ३ ३२। ७
त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात्पुरः इन्द्र निपाहि विश्वतः। १ ८। १६। १५
अस्माद्या सदः इव इन्द्र नाम परेचनः विश्वाचनो जरितृन्त्सत्पते
अहादिवो नक्तञ्च रक्षिषः॥ ८। ६१। १७।
विश्वं विश्वं मघवा पर्यशायत १०। ४३। ६।
आ पप्राथ "विश्वा" शवसा। ८। ७०। ६।

भावार्थ—जो कुछ परिमित वस्तु है, द्युतिमान् इन्द्र उस समस्त से अतिरिक्त हैं। उनकी कोई इयत्ता नहीं कर सकता। इन्द्र, सब देवताओं से अतिरिक्त हैं। वे निज बल से पृथिवी और आकाश को भी अतिक्रम करके वर्तमान हैं। इस सुमहत् व सुविस्तीर्ण अन्तरिक्ष को भी अतिक्रम करके अवस्थित हैं। क्या रात्रि क्या दिन क्या आकाश क्या जलधारी समुद्र क्या सुविस्तृत वायु क्या पृथिवी का प्रान्तभाग क्या नदी क्या मृत्युलोक वासी सब जीव, इन्द्र सबसे परे हैं, सबके ऊपर हैं। हे इन्द्र! आप अपनी शक्तिद्वारा आकाश के पर्यन्तप्रदेशको भी अतिक्रमण कर गए हैं।

कोई लोक ही, आपको व्याप्त नहीं कर सकता। हे इन्द्र! कोई देवता, कोई मनुष्य, कोई क्रिया भी आपके बल का अन्त पाने में समर्थ नहीं। द्यावा-पृथिवी-इन्द्र के सर्व-व्यापित्व का अन्त पाने में असमर्थ हैं। इन्द्र देवता का महत्व आकाश अन्तरिक्ष और पृथिवी से भी अतिरिक्त है। इन्द्र अपने अपार और महत् बलद्वारा सारे बलवान् पदार्थों को हीनबल किए हैं। इन्द्र की उपमा नहीं—कोई भी वस्तु इन्द्र का परिमाण नहीं कर सकती। इन्द्र अपरिमित हैं। अर्थात् सभी परिमित वस्तुओं से अतीत हैं। इन्द्र की क्रिया-परिमाण-रहित है। हे इन्द्र! आप आकाश के दीप्तिमान समुद्र के मध्य, पृथिवी या अन्तरिक्ष में जहाँ कहीं हों, वहां से आवें। आप पूर्व, पश्चिम उत्तर दक्षिण, सब दिशाओं से हमारी रक्षा करें। इन्द्र हमारे चरम व मध्यम स्थान की रक्षा करें। वे हमारे सन्मुख व पश्चात् भाग में रक्षा करें। हे इन्द्र! आज और कल एवं पर दिनों में दिवा रात्रि सब समय में अपने स्तुतिकारियों की आप रक्षा करें।*। इन्द्र प्रत्येक मनुष्य के मध्य में निरन्तर स्थित रहते हैं। इन्द्र अपने पराक्रम द्वारा इस विश्व भुवन को विस्तारित कर रहे हैं॥

अग्नि के अपरिच्छिन्नत्व और व्यापकत्व सम्बन्ध में——

परियो विश्वा भुवनानि पप्रथे ॥ ६ । ७ । ७

दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्ररिरिचे महित्वम् ॥१।५९।५

स नो महाँ अनिमानः·······पुरश्चन्द्रः ॥ १ । २७ । ११

अनीकमस्य नमिनत् जनासः ॥ ४ । २ । १

आपृणो भुवनानि रोदसी अग्नेत्वा विश्वा परिभूरसित्मना॥३।३।१०

आरोदसी अपृणा जायमान उत प्ररिक्था ॥ ३ । ३ । १०

* इन मन्त्रों में सब देश (space) एवं सब काल (time) में रक्षाकी प्रार्थना है।

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीषु अप्सु
आयजत्र येन अन्तरीक्ष मूर्वाततस्थ ॥ ३ । २२ २
या पर्वतेषु ओषधीषु अप्सु या मानुषेषु असितस्य राजा॥१।५९।१
अग्निर्देवेषु राजति अग्निर्मर्त्येषु आविशन् ॥ ५ । २५ । ४
त्वंनो अग्ने अधरादुदक्तात् त्वंपश्चादुत रक्षापुरस्तात्।
पश्चात्पुरस्तादधरात् उदक्तात् कविः काव्येन परिपाहि राजन्
अग्नेमर्त्ता अमर्त्यस्त्वन्नः ॥१० । ८७ । २० । २१
त्वंहि विश्वतो मुखो विश्वतः परिभूरसि ॥
विद्माते अग्नेत्रेधा त्रयानि विद्माते धामविभृतं पुरुत्रा॥१०।४५।२
अग्निरजरः......विभुः ॥ ५ । ४ । २, ६ । १५ । ८
जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदाः [३ । १ । १०]
क्षयन्नस्मभ्यमसुर (१ । २४ । १४)
आक्षेति विश्वो विश्वं विश्वं (१० । ८१ । २)
मर्त्येषु अमृतं निधायि (१० । ४५ । ७)
त्वमग्ने पुरुरूपो विशे विशे (५ । ८ । ५)
त्वमदिते सर्वताता (१ । ९४ । १५) * ।

अर्थात् अग्निदेव देव समस्त भूतजात को सर्वतोभाव से व्याप्त किये हैं। हे वैश्वानर अग्नि! आपका महत्व इस सुवृहत् आकाश को भी अतिक्रमण कर गया है। अशेष आह्लाद जनक अग्नि—अति महान् एवं अपरिमित है। कोई भी व्यक्ति अग्नि के रूपका परिमाण नहीं कर सकता है। हे अग्नि आप रोदसी एवं विश्वभुवन को परिपूर्ण कर रहे हो। हे अग्नि! अभिव्यक्त होकर द्यावा पृथिवी को परिपूर्ण किये हो। आत्म महिमा द्वारा अन्तरिक्ष और पृथिवी को लांघ गये हो। आपका तेज आकाश अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल और ओषधिवर्ग में अवस्थित है एवं आप जिस रूप से (वायुरूपसे) अन्तरिक्ष को व्याप्त कर रहे हो—वह तेज व रूप समुद्र की भाँति विस्तीर्ण है। आप सब धन के राजा हैं। हे अग्नि! सब दिशाओं में सर्वदा हमारी रक्षा करो आप कार्य कुशल, अमर हैं हम मृत्यु ग्रस्त हैं। आप सर्वत्र व्यापक हो और विश्वा-

* पृथिवी अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, वायु, आदित्य, जल, ओषधि, वनस्पति, एवं प्राणी यह दश अग्नि के स्थान हैं। १० । ५१ । ३ मन्त्र।

तीत हो। हे अग्नि! आप जो तीन स्थानोंमें तीनरूप धारणकर रहे हो,सो हम जानते हैं। विश्व के बहुत स्थानों में आपका निवास है, सो भी हम जानते हैं। आप अजर अमर, सर्व व्यापक हैं। प्रत्येक प्राणी के भीतर हैं, सब जीवों में निवास कर रहे हैं मृत्युलोक में अग्नि देव अमृत रूप से निहित हैं। हे अग्नि! आप जीव जीव में बहुत रूपों से स्थित हो रहे हो, अखंडनीय सर्वव्यापक हो।

नप्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तत् यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति।४।५४।४
त्रिरन्तरीक्षं सविता महित्मनात्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना तिस्रोदिवः पृथिवीस्तिस्रइन्वति त्रिभिर्व्रतैरभिनो रक्षतित्मनां

। ४। ५३ ५

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।
नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः २। ३८। ६
यस्य प्रयाणमनु नन्य ईत् ययुः देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्मना
। ५। ८१। ३।

अनन्तमन्यत् रुशदस्य पाजः।१। ११५। ५।

आमाद्यावा पृथिवी अन्तरीक्षं सूर्यः १। १५। १।

सविता पश्चात् सविता पुरस्तात् सविता उत्तरात्तात् सविता अधरात्तात् सविता नः सुवतु सर्वतातिम्। १०। ३६। १४

सूर्य के अपरिच्छिन्नत्व और व्यापकत्व सम्बन्ध में—

सविता देवता के कार्यों की तुलना कोई कर नहीं सकता। सविता त्रिभुवन को थामे हुए हैं। सविता अपने महत्व द्वारा तीन अन्तरिक्षों को व्याप्त कर रहे हैं वे तीन दीप्त तेजों एवं तीन लोकों को व्याप्त कर रहे हैं। * तीन द्युलोकों एवं तीन पृथिवियों को व्याप्त कर रहे हैं। वे तीन प्रकारके व्रत या क्रिया द्वारा हमारा पालन करें। इन्द्र, वरुण आदि कोई देवता सविता के कर्मों का परिमाण करने में समर्थ नहीं। हम नमस्कार द्वारा सविता से मंगल मांगते हैं। अन्य देवताओंका गमन सूर्य

* वायु विद्युत् वरुण नामक लोकत्रय ही तीन अन्तरिक्ष हैं—सायणाचार्य। इन्द्र, प्रजापति, सत्यलोक—तीन द्युलोक हैं। सूर्य, विद्युत् और पार्थिवाग्नि—तीन दीप्त तेज हैं। आकाश, अन्तरिक्ष पृथिवी—तीन लोक हैं।

की गति के पश्चात ही होता है। देवगण सविता के महिमा का ही अनुवर्त्तन करते हैं। सविता दीप्ति मान् हैं, सविता को प्रदीप्त एवं बल—अनन्त अपरिमित है सूर्य ही पृथिवी आदि का सम्यक् रूपेण परिपूर्ण कर रहे हैं। सूर्य ही सर्वत्र सर्वदा हमारी श्री वृद्धि करें।

मरुद्गणों का अपरिमितत्व और व्यापकत्व देखिये—

यदुत्तमे मरुतोमध्यमेवा यद्वावमे सुभगासो दिविष्ट।

अतो नो रुद्राः उतवानु ५। ६०। ६

मयोभुवो ये अमिता महित्वा। ५ ५८। २

मरुतामधा महोदिवि अन्तरीक्षादमादुत मावस्थात परावतः ५।५३।८

तदोर्गंवो मरुतो महित्वनं दीर्घततान सूर्येण भोजनम् ४।५४।५

हे मरुद्गण! तुम सृष्टि के ऊर्ध्व मध्य एवं अधोदेश में अवस्थान करते हो वहां से आओगे। तुम कल्याणकारी एवं महिमा में अपरिमित हो। तुम्हारी शक्ति पृथिवी से स्वर्गपर्यन्त विस्तृत है। तुम स्वर्ग से अन्तरिक्ष से निम्न भूलोकसे वा दूर देश से हमारे निकट आओ। सूर्य की भाँति मरुद्गण का वीर्य अति दीर्घ योजन पर्यन्त विस्तृत है

व्यन्त नस्य रजसः पराके। ७। १००। ५

परो मात्रया तन्वा वृधानःनते महित्वमन्वश्नुवन्ति

उभेते विष्णो रजसी पृथिव्याः विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से ७।८८।२

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नःपरमन्तमाप।

उदस्तंभा नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः। ७।८८।२

यस्योरुषु त्रिपु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा,१।१५४।२

एकोदाधार भुवनानि विश्वा १।१५४।५

विष्णु का शरीर सब प्रकार के परिमाण के अतीत है। इस अपरिमित शरीर द्वारा विष्णु के परिवर्द्धित होने पर कोई भी उनकी महिमा को जानने में समर्थ नहीं। हे विष्णु? पृथिवी से लगाकर तुमने लोक द्वय को (अन्तरिक्ष और आकाश को) अपने विक्रम द्वारा आक्रान्त कर रक्खा है, उन लोकों को हम जानते हैं। किन्तु तुम्हारा जो एक 'परम'पद है उसे तुम्हीं जानते हो। जो जन्मे हैं वा जन्मेंगे उनमें, कोई भी तुम्हारी महिमा का अन्त नहीं पा सकता। परिदृश्यमान बृहत् द्युलोक को तुम ऊपर धारण कर रहे हो। विष्णु के तीन पद विक्षेपों में मध्य में ही त्रिभुवन स्थित है। विष्णु एकाकी इस विश्व भुवन को धारण कर रहे हैं

सोम का अपरिच्छिन्नत्व और व्यापकत्व—

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमाततन्थोर्वन्तरीक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ १ । ९१ । २२
तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसस्त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसे ९ । ८६ । २८
याते धामानि दिवि या पृथिव्याम् या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु ।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेळन् राजन्त्सोम प्रति हव्या गृभाय ।१। ९१।४
दिवि ते नाभा परमो य आददे पृथिव्यास्ते रुरुहुः सानवि क्षिपः ।
अद्रयस्त्वा वप्सति गोरधित्वचि अप्सुत्वा हस्तैर्दुदुहुर्मनीषिणः ९।७९।४
परस्व अद्भ्यो""""परस्व ओषधीभ्योपरस्वभिषगास्भ्यः ९ । ५९ । २
ग्राव्णे ग्राव्णे निषद्त्या (८ । ४८ । ९)

हे सोम। विश्व के सब ओषधिवर्ग, जल एवं किरण — तुम से ही उत्पन्न हैं। तुम अन्तरिक्ष को विस्तीर्ण कर सूर्य ज्योति रूप से अन्धकार का नाश कर रहे हो। हे सोम! तुम्हारा जो दिव्य रेत (उत्पादिका शक्ति) है, उसी से प्रजा उत्पन्न हुई है। तुम इस त्रिभुवन के राजा हो। हे सुमनोविशिष्ट सोम! आकाश में पृथिवी में 'पर्वत में' ओषधि में और जल में तुम्हारा स्थान है। इनके द्वारा हमारा हवि ग्रहण करो। हे सोम तुम्हारा परम - उत्पत्ति स्थान आकाश है। उस नाभि से लेकर तुम्हारे अवयव पृथिवी के पर्वत प्रदेश में निक्षिप्त हुए थे, एवं वहीं वृक्ष रूप से उत्पन्न हुए हैं। पर्वत और, गौकी त्वचा में सोम की उत्पत्ति व वृद्धि होती है। तत्वदर्शी जानते हैं कि, जल के भीतरसे ही तुम दुह लिये गये हो*। हे सोम! तुम जल, किरण ओषधि व पत्थर से क्षरित होते हो। हे सोम! तुम प्रत्येक देह में अवस्थान करते हो।

वरुण के व्यापकत्व पर—

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु हृत्सु क्रतुं वरुणो
अप्सु अग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥ ६ । ८६ । । २
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वियो ममे पृथिवीं सूर्येण । ५ । ८५ । ५
प्रजरोर्मित्रावरुणा पृथिव्याः प्रदिव ऋष्वाद्बृहतः सुदानू ।

* पाठक ध्यान देवेंगे कि, इस मन्त्र में सोम विश्वके उपादान कारण (Matter) रूपसे वर्णित हुआ है। उपादान शक्ति (Matter) ही घनीभूत होकर जलरूपमें परिणत होती है, एवं वही घनीभूत होकर पृथिवी व ओषधि आदि बनती है।

स्वशोदधाते श्रोषधीषु विक्ष्वधगातो अनिमिषं रक्षमाणा १७।६१।३
क्षयन्नस्मस्यमसुर प्रचेताः १ । २४ । १४

हे वरुण! तुमने परिदृश्यमान इस विशाल वन राजिके ऊपर अन्तरिक्षको विस्तृत कर रक्खा है। तुम्हीं ने सब अश्वोंमें सामर्थ्य एवं गो-स्तनों में दूध दिया है। हृदय में प्रज्ञा और क्रियाशक्ति को वरुण ने ही स्थापित किया है। जल में तेजशक्ति दी है। आकाश में सूर्यको एवं पर्वतमें सोम को रक्खा है॥ वरुणने ही अन्तरिक्ष में अवस्थित मानदण्डकी भाँति सूर्यद्वारा पृथिवी का परिमाण किया है। हे शोभनदानकारी मित्र और वरुण! तुम इस विपुल पृथिवी एवं सुबृहत् व सुविस्तृत आकाश को अतिक्रम कर रहे हो। तुम्हीं ने ओषधिवर्ग के आकार से व प्राणिवर्ग के आकार से अपने शरीर को स्थापित रक्खा है। तुम सत्यपथ गामी की एकटक रक्षा किया करते हो। हे वरुण! हे प्रचेता! हे असुर! तुम हम सबों के मध्य अवस्थान करते हो।

इन्द्र अग्नि का व्यापकत्व—

यदिन्द्राग्नीअवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुतस्थः ।
अतःपरिवृषणावाहि आतम् । यदिन्द्राग्नीदिविष्ठोयत्
पृथिव्यांयत् पर्वतेष्वोषधीषुष्वप्सुअतःपरिवृषणावाहिआतम्१।१०८।६
ययोर्विश्वमिदं जगत् इयंद्यौःपृथिवीमहीउपस्थे ८ । ४० । ४
प्रचर्षणिभ्यःपृतनाहवेषु प्रपृथिव्या रिरिचाथे दिवश्च ।
प्र सिन्धुभ्यःप्रगिरिभ्यो महित्वाप्रेन्द्राग्नीविश्वाभुवनात्यन्या १।१०८।८

हे कामनावर्षक इन्द्र और अग्नि! आप इस निकृष्ट भूलोक मध्यम भूलोक या परमोत्कृष्ट लोक में, जहां भी हों, अथवा आप यदि इन सब लोकों के अतीत प्रदेश में हों, वहां से आवें। हे कामनावर्षक इन्द्र और अग्नि! आकाश आदि जिस स्थान में हों वहाँ से आवें। इन्द्र और वरुण की गोद में ही त्रिभुवन रहता है। इन्द्र और अग्नि सब से बड़े हैं।

अश्विनीकुमारों की व्यापकता पर—

यानि स्थानानि अश्विनादधाथे दिवो यह्वीष्वोषधीषु विक्षु।
नि पर्वतस्य मूर्द्धनि ७ । ७० । ३
चनिष्टं देवाओषधीष्वप्सु यद्योगया अश्नवैथे ऋषीणाम् ।७।७०।
आपश्चातान्नासत्यापुरस्तात् आ अश्विनायातमधरादुदक्तात्
आविश्वतः ।७।७२।५

हे अश्विद्वय ! तुम आकाश से (आकर) विविध ओषधियों के मध्य में और प्राणियों में स्थान ग्रहण कर रहे हो, तुम पर्वत के मस्तक पर भी बैठे हो ॥ हे देव-द्वय ! तुम अविगण के योग्य पदार्थराशि को व्याप्त किये हो। ओषधि और जल के भीतर तुम कामना का विकाश करते हो ॥ हे सत्यस्वरूप ! पूर्व पश्चिम आदि सब दिशाओं से तुम आगमन करो ॥

सूर्य्य अग्नि और जल —इनतीन देवताओं की सर्वव्यापकता—

धामं ते विश्वं भुवनमधिश्रितं अन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि

अपामनीके समिथे य आभृतःतमश्याममधुमन्तं त ऊर्मिम्॥४।५८।११

सूर्य वा अग्नि का तेज समस्त त्रिभुवन में है। मेघ में विद्युत् समुद्र में वाडवाग्नि रूप से है। मनुष्य हृदय में भी यह तेज आयु या प्राण शक्ति रूप से रहता है। रण में वीरों के भीतर वीर्यवह्नि रूप से है। इस तेज के भीतर जो मधुमय रस है, हम उस रसको व्याप्त करेंगे ।

बृहस्पति का व्यापकत्व—

बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः॥१०।४२।११

अच्युत द्रूढ़ा अब्रदंत वीलिना उद्गा आजत् अभिनत्

ब्रह्मणा वलं अगूहत्तमो व्यचक्षयत् गाः ॥ २ । २४ । ३

विभु प्रभु—२ । २४ । १०

पश्चिम उत्तर और दक्षिण दिशा में बृहस्पति शत्रुसे हमारी रक्षा करें ॥ बृहस्पति ने पृथिवीके सुदृढ़ पर्वतादि को शिथिल किया है एवं दृढाङ्ग वृक्षादि को भग्न किया है। उन्होंने गौओंका उद्धार किया। बृहस्पति ने वाक् शक्ति द्वारा आवरक (वृत्रादि) के बलको भी तोड़ाहै अन्धकारको तिरोहित कर अदृश्य किया है (सूर्यरश्मिद्वारा), बृहस्पति ने ही सूर्यरश्मियों को प्रकाशित किया था * बृहस्पति व्यापक हैं सब के प्रभु हैं ॥

पर्जन्य का व्यापकत्व

यस्य व्रतेपृथिवीनन्नमीति यस्य व्रते शफावज्जर्भुरीति,

यस्य व्रते ओषधी विश्वरूपाः ॥ ५ । ८३ । ५

* इन उक्तियों द्वारा यह हृदयङ्गम हो जाता है कि, देवताओं में 'अनुप्रविष्ट 'कारणसत्ता, को ही सब बार इस प्रकार का वर्णन किया गया है।

यो वर्द्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे।
स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत्। ७। १०१। २।
यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः त्रिस्रोद्यावस्त्रेधा सस्रुरापः।
त्रिरेतोधा वृषभः शश्वतीनाम् ॥ ७। १०१। ५
पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ॥ ५। ८३। ४
तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च। ७। १०१। ६

पर्जन्य के ही प्रभाव से पृथिवी अवनत होती है, खुर विशिष्ट अश्व गवादि प्राणी वर्ग पुष्टि लाभ करते हैं। पर्जन्य की क्रिया वश ही ओषधियां विविध रुप धारण करती हैं। पर्जन्यद्वारा पृथिवीस्थ जलराशि परिपोषित होतीहै एवं ओषधियाँ भी पुष्ट होती हैं। पर्जन्य ही जगत् का स्वामी है। पर्जन्य हमें त्रिधातु विशिष्ट आश्रम व मंगल प्रदान करें। त्रिभुवन पर्जन्य में ही ठहरा है, द्युलोकादि तीन लोक भी उसी में हैं। उसी से सकल जल तीन धारा में क्षरित होता है। पर्जन्य ही वृषभ की भांति ओषधियों में वीर्याधान करता है। पर्जन्य सब स्थावर एव जंगम का आत्मा है।

अब अदिति की भी सर्व व्यापकता पढ़ लीजिये —

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता सपिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥१।८९।१०

अदिति ही द्युलोक अदिति ही अन्तरिक्ष लोक है। अदिति ही माता है, अदिति ही पिता एवं पुत्र रुप है। अदिति ही सब देवता है। अदिति ही पञ्च जनपदवासी मनुष्य या पञ्च प्राण रूप से विकाशित है। जो कुछ जन्मा है सो समस्त अदिति है, जगदुत्पत्ति का कारण, बीज अदिति ही है।

यह भी लिखा है कि — सभी देवगण एकत्र सब भुवनों को व्याप्त किए हैं

ये विश्वा भुवनानि मतस्थुः ।१०।६५।१५।

इन सब उद्धृत प्रमाणों से निःसन्देह सिद्ध हो गया कि सभी देवता अपरिच्छिन्न हैं, विश्व की कोई भी वस्तु इनको नाप नहीं सकती। सभी देवगण विश्व में व्याप्त होकर वर्तमान हैं, अथवा विश्व इनका परिच्छेद वा इयत्ता करने में असमर्थ है यही स्थावर जंगमात्मक जगत् के निर्माता रहे(६।५०।७), विश्व व्यापक हैं (१०।६५।६) और सभी देवता कारण सत्ता में अवस्थित हैं (१०।६५।७)॥

१७। ऋग्वेद के देवतावर्ग असीम, अविनाशी शक्तिमात्र हैं. यह बात सहज में विदित हो जाती है। आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी—इन तीन स्थानों में * जो शक्तिराशि विविध प्रकार से क्रिया करती है, वही ऋग्वेद की देवता हैं।

सभी देवता एक विश्वव्यापिनी शक्ति से अभिव्यक्त हुए हैं।

वेद यस्त्रीणि विदिथान्येषां देवानां जन्म (६ । ५१ । २)

दिव्याः पार्थिवासो ग्वेजाता आप्या मृलता च देवाः (६।५० ११)।

एक विश्वव्यापिनी महाशक्ति प्रधानतः आकाश, अन्तरिक्ष और जल पृथिवी में अभिव्यक्त होकर नाना आकारों से काम करती है। जल में, स्थल में, आकाश में, किरण में सर्वत्र ही विश्वव्यापिनी शक्ति की लीला या खेल होरहा है। सब देवता मूल में एक अविनाशी शक्ति के विकाश हैं, ऋग्वेद में यह सिद्धान्त नाना प्रकार से बतला दिया गया है। पहिले देखिये, ऋग्वेद के देवतावर्ग अविनश्वर शक्तिमात्र हैं—

आतस्थिवांसः अमृतस्य नाभिम्,

अनन्तासः अजिरासः उरवः विश्वतस्परि । ५ । ४७ । २

अस्त्रिधः (नाशरहिताः) एहिमायासः (सदातनाः) १ । ३ । ८

देवता अनन्त, अजर, सर्वव्यापक एवं विश्व के तावत् पदार्थों को व्याप्त कर के वर्तमान हैं। तैंतीस देवता बल से उत्पन्न हैं एवं सबका समान रूप एवं समान क्रिया है, इन्होंने बल के द्वारा समग्र भुवन को नियमित कर रक्खा है+। देवता अमृत की नाभिके आश्रयमें रहते हैं, इसीलिये उनका 'आयुशब्द' द्वारा निर्देश किया गया है। चेष्टात्मक क्रिया का नाम आयु है, प्राणशक्तिका ही दूसरा नाम आयु है† । इन्द्र आयु है, अग्नि भी आयु है। ऊषा आयु धारिणी है, वरुण भी विश्वायु है।—

* ये देवासो दिवि एकादशस्थ। पृथिव्यामधि एकादशस्थ। नाप्सुक्षितो महिना एकादशस्थ। ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्-१।१३९।११। एक ही परमदेवता की महिमा कभी ११ कभी तीन स्थानोंके सम्बन्ध से ३×११ = ३३ देवता हैं। "यो देवानां नामधा एक एव,, । १० ८२। ३। एक ही परम देवता सब देवताओं का नाम धारण करती है।

+ 'मन्नं जातं ज्योतिः'"।चतस्त्रिंशता पुरुधाविचष्टे। सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन--' १०।५५।३ 'तनुषु विश्वा भुवनानि येमिरे, प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु १०। ५६। ५

† यह बात भी है कि-"अग्नि ने 'आयु, द्वारा प्रजावर्ग को उत्पन्न किया है,। "आयोरिमाः प्रजाः प्रजनयन्मनूनाम् । १। ९६। २, आयु शब्द का अर्थ "देहे चेष्टात्मकजीवनहेतुत्वात् प्राणस्य आयुष्ट्व निर्देशः,, वेदान्त भाष्ये रत्नप्रभा । १ । १ ३१) ।

देवता 'क्रिया, स्वरूप,' 'बल, स्वरूप 'आयु, स्वरूप, 'असु, स्वरूप और 'कम्पन स्वरूप हैं।

ते आयुरजरं यदग्ने (१० । ५१ । ७)। आयुर्न प्राणो नित्यः (१ । ६६ । १)। इन्द्रो 'विश्वायु': (६ । ३४ । ५; ८ । ७० । ७) एषा (ऊषा) स्या नव्यमायुर्दधाना (७ । ८० । २) विश्वस्यहि प्राणानं जीवनं ते (१ । ४८ । १०)। राजा (वरुण)······क्षत्रं विश्वायुः' (७ । ३४ । ११) 'असु' शब्द भी–आयु वा प्राणशक्ति का बोधक है। ऋग्वेद में सर्वत्र देवताओं को 'असुर' वा प्राणशक्ति विशिष्ट कहा गया है। इन्द्र भी असुर, सविता भी असुर, ऊषा भी असुर एवं जीव की असुस्वरूपिणी मरुत् भी असुर, वरुण भी असुर और पर्जन्य भी असुर है। सब देवता एकत्र भी असुर शब्द द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं, यथा–"महत्तद् वृष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नाम (३ । ३८ । ४) सवितुः···असुरस्य प्रचेतसः (४ । ५३ । १) महन्महत्याः (ऊषायाः) असुरत्वमेकम् (१० । ५५ । ४) एवं असुर्न आगात् (१ । ११३ । १६) असुरा अरेपसः (मरुतः) (१ । ६४ । २) असुरस्य···महीं मायां वरुणस्य (५ । ८५ । ५) पर्जन्यः···असुरः पिता नः (५ । ८३ । ६) महद्देवानामसुरत्वमेकम् (३ । ५५ । १–२२)। इसी प्रकार सब देवता बल स्वरूप हैं। एतद्व्यतीत अन्य भांति भी देवताओं को स्पष्टतया ऋग्वेद बलस्वरूप बतला रहा है–

इन्द्र और वरुण का बल नित्य व सत्वालम्बी भूत है। मरुत् बल स्वरूप है। अग्नि मरुत्सम्बन्धीय बल स्वरूप है।

अग्नि एवं इन्द्र बल के पुत्र बल ही है। इन्द्र शक्तिमान हैं। सोम बल से उत्पन्न है। सोम अक्षय बल धारण करता है। अश्विनी कुमार अमृतबल द्वारा लोकों का शासन करते हैं। सूर्य रश्मि अनन्त बल स्वरूप है। इन्द्र मरुत्वान, अग्नि मरुत्वान, रुद्र मरुत्वान सोम मरुत्वान् है *।

हम और भी कतिपय स्थल उद्धृतकर पाठकोंको दिखाना चाहते हैं। अन्य भी अनेक प्रकारोंसे सभी देवता बल स्वरूप हैं यह कहा गया है। विषय अतीव गुरुतर है। वेदों का पठन पाठन यथेष्ट न रहने से, वर्तमान काल में ऋग्वेद के देवता

---

*वरुणस्य तु त्विष ओजो···ध्रुवमस्य यत्स्वम् । ७ । ८२ । ६ । मरुतो यद्धुते बलम् (१ । ३७, १२ । त्विषं गणं तवसम् (मरुद्गण) । ५ । ५८ । २ ॥ सहिगर्धो न मारुतम् (१ । १२७ । १३ सहसः पुत्रः (३, १६ । ५) त्वमिन्द्र बलादधि जायसे उग्रात्सहः सहस आजनिष्ट (५ । ३१ । ३ ॥) स्वयं सूनो सहसः (१० । ५० । ६) शक्तीवः (५ । ३१ । ६ सहसा जायमानः (सोम) (६, ४४ । २२ ।) ध्रुवं तासां दिव्यस्य प्रशासने विशांक्षयथ अमृतस्य मज्मना (१ । ११२ । ३) अनन्तमन्यत् रुशदस्त पाजो (सूर्यस्य) (१, ११५।५) वृषभो मरुत्वान् (२। ३३, ६) इन्द्रः···मरुत्वान् (१, ८०, ११) सोम मरुत्वान् ९) '४३, ५) अक्षितं पाज आददे (सोमः) ९। ६८, ३ ॥

सम्बन्धमें अनेक भ्रान्त विचार चलपड़े हैं। इसी कारण हमने इन बातोंको अपेक्षा कृत विस्तृत भाव से दिखाने की इच्छा की है। निम्नोद्धृत उक्तियां भी देवताओं के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन करती हैं । इनसे भी पाठक देखंगे कि इन्द्रादि देवता बलस्वरूप हैं ।

इन्द्र सर्व क्रिया स्वरूप हैं।पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण प्रभृति सबदिशाओंसे इन्द्र का बल हमारी रक्षा करे।अग्नि दिव्य शर्धा विशिष्ट हैं एवं अग्नि-दक्ष व कविक्रतु है। [शर्ध शब्द का अर्थ बल है, दक्ष व क्रतु शब्द का अर्थ भी बल है] सोम-वीर एवं दक्ष साधन हैं । सोम महान् ओजिष्ट है । सोमके दिव्य रेतः द्वारा भुवन सृष्ट हुएहैं अश्विद्वय हस्तकी भाँति क्रियाशील हैं । मित्र और वरुणका बल वा वेग अमूढ़ है ।

द्यावापृथिवी का अजर और प्रचुर रेत है । सब देव सुक्षत्रासः हैं [क्षत्र शब्द का अर्थ प्रताप, वीर्य वा बल है] मित्रावरुण दक्ष और बल के पुत्र एवं सुक्रतु हैं ÷।

पाठक ! सुस्पष्ट देख पावेंगे कि ऋग्वेदके देवतावर्ग सभी शक्ति स्वरूप क्रिया स्वरूप और बल स्वरूप हैं । ऋग्वेदसे यह भी ज्ञात होता है कि, बल वा शक्ति कम्पनात्मक स्पन्दनात्मक है । असु वा आयु शब्द द्वारा † यही सूचित होता है। किन्तु इस से भी अधिक स्पष्टता के साथ देवताओं का कम्पनात्मक होना लिखा है।

ऋग्वेद में सर्वत्र मरुद्गणों को 'धूति' कहा गया है (१ । ३६ । १०) धूति शब्द का अर्थ है—कम्पन वा वेग । अनेक स्थानों में मरुद्गणों का-कम्पनव्रत

÷ अन्यदद्यकर्वरमन्यदुश्वो सच्चासन्मुहुरा चक्रिरिन्द्रः (।६ । २४ । ५ ।) आज कल सत् वा असत्-इन्द्र ही तावत् कर्म निर्वाह करते हैं। "शचीवतस्ते पुरुशाक शाकाः; । (६ । २४ । ४) [शाक का अर्थ शक्ति है] आ ते शुष्मो (बलम्) वृषभ एतु पश्चादोत्तरा दधरादापुरस्तात् आ विश्वतो अभिसमेतु अर्वाङ् (६ । १९ । ९) तत् शर्धो दिव्यं वृणीमहे (१ । १३९ । १) तुभ्यं दक्ष कविक्रतो (३ । १४ । ७) सवीरो दक्ष साधनः वियस्तस्तम्भ रोदसी (९ । १०१ । १५) त्वेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसः (९ । ८६ । २८) हस्तेव शक्तिमभिसंददीनः (२ । ३९ । ७) ताहि क्षत्रं धारयेथे अनुद्यून् दृंहेथे (६ । ६७ । ६) मित्रावरुण सब को नियमित करते हैं, यह भी कहा गया है । सा वा रथमेव यमतुर्यमिष्ठा जनान् (६ । ६७ । १ ।) द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विस्कभिते अजरे भूरिरेतसाः (६ । ७० । १) सुनीथा भवन्तु नः सुक्षत्रासः (६ । ५१ । १०) महान्. सि सोम ओजिष्ठः (९ । ६६ । १६) विश्वादधान ओजसा (९ । ६५ । १०) मित्रावरुणा शवसो, महः सूनु दक्षस्य सुक्रतू (८ । २५ । ५) पर्जन्यः पृथिवी 'रेतसा, ह्वति (५ । ८३ ४) ॥

† चेष्टात्मक प्राणशक्ति को ही (Pulsation) असु वा आयु कहा है । (वेदान्त-दर्शन)

एवं कम्पन के सञ्चालनकारी रूप से निर्देश है * । इन वर्णनों से यही विदित होता है कि—मरुत् सकल कम्पनात्मक वेग हैं। हम इससे पहले देख आए हैं कि, इन्द्र, अग्नि, सोम और रुद्र—इनके विशेषण रूप से ' मरुत्वान्, शब्द व्यवहृत हुआ है। सुतरां इन्द्र अग्नि आदिक सभी कम्पनात्मक वेग वा बल सिद्ध होते हैं। फिर वायु का मरुत् को 'वरुण का आत्मा, कहा है (७ । ८७ । २)। सुतरां वरुण भी कम्पनात्मक वेग ही हुए। फिर ऋग्वेद ने हमें बतला दिया है कि मरुद्गण ने निज बल द्वारा सूर्य राशि की सृष्टि की है, । (८ । ७ । ८) इससे सूर्य राशि भी कम्पनात्मक वेग हुई। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलमें अत्यन्त ही स्पष्ट करके इन्द्र एवं सूर्य राशिको कम्पन रूप कहा गया है, यथाः—

त्वं धूनिरिन्द्र—१ । १७४ । ८

गभीर वेपा (गभीरकम्पनः) असुरः......सूर्यः (१ । ३५ । ७)

दविध्वतो (कम्पनयुक्ताः) रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुः (४।१३।४)

द्यावा-पृथिवी को भी प्रकारान्तर से कम्पनात्मक वेग विशिष्ट कहा गया है। लिखा है कि-'द्यावा पृथिवी तन्तु विस्तार करती हैं (१ । १५६ । ४) तन्तु विस्तार करना एवं रश्मि विकीर्ण करना एक ही बात है। किन्तु रश्मि समूह कम्पनात्मक वेग मात्रा है, सो हम ऊपर लिख चुके हैं। अतः द्यावा-पृथिवी को भी कम्पनात्मक वेग विशिष्ट ही कहा गया है ×। फिर सोम भी-त्रिगुण वस्तु का विस्तार करता है ‡। इससे सोम भी कम्पनात्मक वेग ही हुआ। इतना ही नहीं, स्थूल जल भी कम्पनात्मक शक्ति से उद्भूत हुआ है, सो भी हम प्रकारान्तर से पा जाते हैं। "जल त्रितन्तु उत्स की ओर ऊपर उत्थित होता है" (१०।३०।९)-यह लेख मिलता है। †

अब तो निश्चित हो गया कि, ऋग्वेद का इन्द्र, अग्नि रुद्र, मरुत् वरुण सोम प्रभृति देवतावर्ग कम्पनात्मक वेग वा बलस्वरूप है। एवं यह वेग वा बल अजर,

---

* स्वैर्ष गणं नवसन्-'धूनि-वृतम्, (५ । ५८ । २) "नवसे धूनिवृताय शवसे,, स्यन्दानो धूनीनाम्,, (५ । ८७ । १६३) इत्यादि स्थल द्रष्टव्य हैं।

× ऐसा भी है कि—द्यावा—पृथिवी का प्रचुर अजर 'रेत, (शक्ति) है। (६ । ७० । १) एवं यह रेत ही- सब क्रियाओं का उत्पादक है (६ । ७० । ३) द्यावा पृथिवी अविनाशी पद वा स्थान में मिथुन रूप से जागरूक है एवं भूतजातमात्र को विभक्त करती हैं (३ । ५४ । ७ , ८)

‡ " तन्तु तन्वानस्त्रिवृतम्,, ९ ॥ ८६ ॥ ३२ ॥

† "परि त्रियन्तु विचरन्तमुत्सम् १० ॥ ३० ॥ ९ । अन्यत्र लिखा है कि जल कम्पनरूप से अन्तरिक्ष में सञ्चालित होता है "अधुन्वत् धूनिमन्तरीक्षम् इत्यादि (१०,१४९,१)।

अमर है; इसका क्षय नहीं; नाश नहीं; सो भी ऋग्वेद में सर्वत्र निर्देशित हुआ है। मरुद्गण कम्पन स्वरूप हैं सो हम पहिले ही दिखा चुके हैं। इस कंपन वा बल को कोई ध्वंस नहीं कर सकता, इस बल का कोई ज्येष्ठ नहीं, कनिष्ठ भी नहीं, इस बल का क्षय नहीं, व्यथा नहीं, नाश नहीं, यह अमित शक्ति विशिष्ट हैं—

"ते अज्येष्ठा अकनिष्ठा स उद्भिदः अमध्यमासः (५ । ५९ । ६)

न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्त्रेधति,'न व्यथते न रिष्यति' ।५।५४ ७

इन्द्र की शक्ति को कोई दुर्बल नहीं कर सकता । मास, ऋतु, वत्सर, कोई इन्द्र में वार्द्धक्य नहीं ला सकता, द्यावापृथिवी वत्सरादि कोई इस बलको कृश नहीं बना सकता ।

'नयं जरन्ति शरदो न मासा न द्यावमिन्द्रमवकर्षयन्ति, (६।२४।७)

न द्याव इन्द्र तवसस्त ओजो नाश न मासाः शरदो वरन्तु ३।३२।८

अविष्टं न आगर शूर शवसोजिष्ठमोजो "उग्रम् (६ । १९ । ६)

अग्नि एवं अग्नि का तेज-अजर, अविनाशी है (३ । ३२ । ७, १० ।५१।७, और १०।८७ २० देखो) रुद्र भी अजर, अक्षय है (६ । ४६ । १०)*

तभी हम देखते हैं कि 'ऋग्वेद के देवता, अक्षय, अविनाशी शक्ति के रूपान्तर व्यतीत अन्य कुछ भी नहीं है। यह बात दूसरे भाव से भी वेद ने बतला दी है कि, वह शक्ति अविनश्वर है। 'सत्य,'ध्रुव, 'नित्य, प्रभृति शब्दों द्वारा यही उद्घोषित हो रहा है। अग्नि नित्य प्राण स्वरूप है (१ । ६६ । १) सोम ध्रुव सत्य है (६ । ८६ । ६) सूर्यरश्मि ध्रुव है (१।५६।३) बृहस्पति सत्य है (२ । २४ । १४) सविता सत्य शव है (५ । ८२ । ७) इन्द्र सत्य है (८ । ६० । ४) मरुद्गण सत्य शवसः हैं (१।८६।६, ५।५२।८) ऊषा नित्य वस्तुओंमें प्रथमा है (शाश्वतीनां प्रथमा) १। ११३। ८,१३।)पर्जन्य-नित्य वस्तु का वर्षक है (शश्वतीनां वृषभः) ७।१०१।६,३।१७।३) इन्द्र नित्य वस्तुओं में साधारण है,(८।६५ ७) मरुत् का बल सत्य है (सत्यं त्वेषा, १। ३८। ७)

देवताओं का बल सत्य और नित्य है।

*अग्नि पर लिखा है 'अमहिस्त्वे सत्यः आत्मेव शेवः' ॥ श्रीसायणाचार्य कार्य अर्थ 'यथा पृथिव्यादेः स्वरूपं आगमापायिषु विशेषेषु सत्स्वपि स्वयमेवरूपेण नित्यो भवति सकल परिवर्तनों में विशेष २ आकारों के मध्य जैसे कारण सत्तानित्य है वैसे ही अग्नि भी नित्य एवं आत्मा की भांति मंगलमय है १।७३।२।

देवता शक्ति के विकाश एवं कम्पनात्मक वेग वा बलस्वरूप हैं सो बात समझ ली गई। देवता अक्षय अविनाशी, ध्रुव बलस्वरूप हैं, सो भी ज्ञात होगया। एक ही शक्ति भीतर एवं बाहर नाना आकार धारण करके क्रिया करती है, अब हम यही बात कहेंगे। शक्ति का स्वरूप ही यह है कि, एक प्रकार का बल अन्य प्रकारके बलमें परिणत होता है। ऋग्वेद ने हमें यही उपदेश दे दिया है। विचार कीजिये, अग्नि के तीन रूप हैं। एक ही तेज शक्ति, सूर्य्य अग्नि और विद्युत् रूप से क्रिया करती है यह बात ऋग्वेदमें सर्वत्र पाई जाती है। फिर,यह अग्नि क्रिया करती है, तब जल उत्पन्न होता है सो भी सर्वत्र स्पष्ट है। फिर यह भी भली भांति लिखा मिलता है कि यह अग्नि ही ओषधि व शस्यादि के भीतर ऊष्मारूप से वर्तमान है एवं यही प्राणी शरीर में जठराग्नि रूप से अवस्थित है। हम दो चार अंश उद्धृत करते हैं।

६ भौतिक शक्ति विविध क्रियाओं के आकार से परिणत होते हैं यही ऋग्वेदोक्त देवता है

त्रीणि जाना परिभूषन्त्यस्य
समुद्र एकं दिव्ये एकमप्सु ॥ १। ९५। ३
उन्ध्वं यमीति सवितेव बाहू
उभे सिचौ यतते भीमऋञ्जन्
उच्छुक्रमुत् कमजतेसिमस्मा-
न्न वा मातृभ्यो वसना जहाति ॥ १। ९५। ७
गर्भोयो अपां, गर्भो वनानां,
गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् ॥ १।७०।२

अर्थ—उस अग्निके तीन जन्म स्थान शोभा पाते हैं। एक आकाश में, एक समुद्र में (अन्तरिक्ष में) * एवं एक जल मध्य में॥ अग्नि सूर्यरूप से अपने दोनों बाहुओं को बारम्बार विस्तारित करते हैं, एवं दोनों स्थानों को अलंकृत कर अपना कर्म साधन करते हैं। वे सारी वस्तुओं से दीप्त व सारभूत रस आकर्षण कर, माताओं के निकट से (मातृस्थानीय जलके निकट से) नूतन आच्छादनकारी वसन की सृष्टि करते हैं (अर्थात् वृष्टि रूप से रस प्रदान कर शस्य तृणादि द्वारा जगत् को आच्छादित करते हैं)। यह अग्निदेव ही जल के गर्भ

*ऋग्वेद में अनेक स्थलों में अन्तरिक्ष का 'समुद्र, शब्दद्वारा निर्देश किया गया है। सृष्टि के प्राक्काल में आकाश में जो अपरिसीम लघु जलीय वाष्प राशि अभिव्यक्त हुई थी (जिस वाष्प-राशि से क्रमसे जगत् उत्पन्न हुआ है) यह उसी का निर्देश है यही घनीभूत होकर जल हुआ है॥

में वास करते, शस्यादि के गर्भ में रह कर उसे पकाते हैं। स्थावर-जंगम के मध्य में उष्मारूप से निवास करते हैं। मनुष्य देहमें जठराग्नि रूप से स्थित रहते हैं(१।६५।१०)

१८। सर्व-प्रथम परम-व्योम वा आकाशमें 'मातरिश्वाका, विकाश होता है।

ऋग्वेद का सृष्टितत्व। देवताओं की अभिव्यक्ति प्रणाली।

मातरिश्वा को प्राण शक्ति कहा जा सकता है। ऋग्वेद में यह अदिति नाम से भी प्रसिद्ध है। यही सकल देवताओं को उपादान-कारण शक्ति है। इसी से सब देवताओंका विकाश हुआ है, यही विश्व का बीज है। यह मातरिश्वा आकाश में स्पन्दित होकर * दो भांति से क्रिया का विकाश करता है। इसके एक अंश से अग्नि का विकाश होता है, दूसरे अंश से जल का। जिस अंश से स्थूल वायु, अग्नि, आलोकादि की अभिव्यक्ति होती है, ऋग्वेद में वह अंश भी 'अग्नि, नाम से कथित हुआ है। किन्तु यह अग्निकी सूक्ष्मावस्था है। और जिस अंश से जल की अभिव्यक्ति होती है, ऋग्वेद में उस अंशको 'सोम, कहते हैं। यह अग्नि-षोमीयं जगत्-अग्नि-सोम से ही सब स्थूल पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। अग्नि की इस सूक्ष्म और स्थूल-दोनों अवस्थाओं को समझाने के लिये सर्वत्र अग्नि को 'द्विजन्मा, कहा गया है। यथा—

उभा उदस्य जनुषं (१।१४१।४) अग्नि के दो जन्म स्थान हैं। अग्नि द्विजन्मा है (१।१४०।२)। (१४६।५)। रश्मिरिव यो यमति जन्मनी उभे (१।१४१।११)। अग्नि अपने उभय प्रकार जन्म का नियमन करता है। "विधेमते परमे जन्मन्नग्ने विधेम सोमैरवरे "सधस्थे" (२।९।३) हे अग्नि! तुम्हारे दोनों स्थानों की हम स्तुति करेंगे। एक परम स्थान दूसरा निकृष्ट स्थान है। इस प्रकार नाना स्थानोंमें अग्नि के कारणात्मक तथा कार्यात्मक अवस्थाद्वय की चर्चा हुई है। पर लोग भीतर घुस कर इस रहस्य को देखते नहीं हैं। विना देखे हास्यास्पद अर्थ करते हैं। दो काष्ठों के संघर्षण से उत्पन्न होने के कारण अग्नि को द्विजन्मा कहते हैं!!! यथार्थमें अग्नि दो प्रकार से व्यक्त होता है, इस लिये द्विजन्मा है"।

इस अग्नि की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में ऋग्वेद ने क्या कहा है, हम उन

अग्नि-सोम! एक ही इस शक्तिका द्विविध विकाश॥

स्थलोंका एकत्र संग्रह करके दिखाते हैं। "अग्नि ही 'आयुः, वा प्राण शक्तिका प्रथम विकाश है। अग्नि गूढ़भाव से स्थित था, मातरिश्वा वा प्राणशक्ति ने मंथन करते करते उसे प्रकट कर दिया। मातरिश्वा के निकट सबसे प्रथम अग्नि ही अपनी क्रिया द्वारा आविर्भूत हुआ था। मातरिश्वा ही अति-दूर वर्त्ती गूढ़ प्रदेश से अग्नि को ले आया है अग्नि आत्मगोपन कर रहता था, किन्तु मातरिश्वा ने मथकर उसे बाहर निकाल लिया। अतिनिगूढ़तर दूर देश से अग्नि प्रकाशित हुआ है। अति प्राचीन स्थान से अग्नि प्रकाशित होकर, सब से पहले आकाशमें चढ़ गया। आकाशमें आविर्भूत होकर अग्नि ने अपनी क्रिया से सकल

*मातरि अन्तरिक्षे श्वसतीति मातरिश्वा।

को उज्वल कर डाला, द्यावा-पृथिवी को निज ज्योति द्वारा पूर्ण कर दिया* । यह अग्नि ही सूर्यरूप से, विद्युत् रूप से और पार्थिवाग्नि रूप से † अभिव्यक्त हुआ है" । इत्यादि । पाठक देखते हैं कि, अग्नि के सूक्ष्म रूप की कथा कैसी सुन्दर चल रही है । नतुवा, स्थूल अग्नि किस प्रकार आकाश में सूर्यरूप और अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप में रहेगा ? इस सूक्ष्म अग्नि को लक्ष्य करके ही कहागया है कि —" अग्नि द्वारा ही वरुण अपनी क्रिया करते हैं, मित्र और अर्यमा भी इसी अग्नि के प्रभाव से निज निज क्रिया-निर्वाह में समर्थ होते हैं । रथचक्रके अर-गण जैसे रथ नाभि में प्रविष्ट रहते हैं, यह विश्व भी उसी प्रकार अग्नि के आश्रय में है+ । ऐसी उक्तियां कदापि स्थूल अग्नि के प्रति प्रयुक्त नहीं हो सकतीं ।

मातरिश्वा या प्राणशक्ति का एक अंश इस प्रकार तेज' आलोक, सूर्य चन्द्रादिरूप से अभिव्यक्त होता है । अपर अंश या सोम भी, साथ ही साथ घनीभूत होकर प्रथम जलके आकार में, पश्चात् पृथिवी के आकार में प्रकट होता है । इस प्रकार अग्नि-सोम ही एकत्र क्रिया करके स्थूल जगत् की सृष्टि करते हैं । आधुनिक विज्ञान जिसे matter कहता है, वही ऋग्वेद का सोम, है । यह भी शक्ति की ही अभिव्यक्ति है यह भी पहिले आकाश में ही अग्नि के साथ २ प्रकट होता है ÷ । यह matter है, इस बात को ऋग्वेद ने नाना प्रकार से कह दिया है । सोम सम्बन्ध में इस प्रकार उक्ति

---

* त्वामग्ने प्रथममायुमायवे इत्यादि । १। ३१ ११ गुहा सन्तं मातरिश्वा मथायति १।१४१।३ त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वने आविर्भव सुक्रतूया, १ ३१ ३ अग्निमभरत् विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ६ ।८ ४ तिरोहितं एनं नयत् मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि ३ ९ ५ परमात् चित्सधस्थात् ८ ११ ७ वैश्वानरः प्रत्नया नाकमारुहत् ३।३।१२ महान् सधस्थे ध्रुव आ निषत्तः ऋतस्य त्वा सदसि क्षेमयन्तं परिचरति ३ ६ ४। ३ ७ २ [सधस्थ, ऋत, प्रत्नथा, ये सब शब्द, कारण सत्ता को बतलाते हैं] दिवस्परि प्रथमं यज्ञे अग्निः १० ४५ २ [कारण सत्ता से प्रादुर्भूत होकर अग्नि आकाश में प्रकाशित हुआ यही अर्थ है] स जायमानः परमे व्योमन् अविर्भवदग्निरभवत् मातरिश्वने अस्यकृत्वा समिधानस्य मज्मना प्रद्यावा शोचिः पृथिवी अरोचयत् ११ ४३ २ ॥

† त्रीणि आयूंषि तव जातवेदः तिस्र आजानीः ३ १७३ अग्ने नक्षत्रमजरमासूर्य्यं रोहयो दिवि १० १५६ ४

+ त्वया ह्यग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः । यत्सीमनुक्रतुना विश्वथा विभुररान्न नेमिः परिभूरजायथाः ।। १ । १४१ । ९ । १ । १४९ । २ । अग्नि देवताओं का जन्म जानता है —"विश्वावेद जनिमा जातवेदाः देवानाम्-६ । १५ । १३ ।

÷ अयंदेवः सहसा (बलेन) जायमानः इन्द्रेण युजा ६।४४।२२। अयं त्रिधातु दिविरोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूढ़ ३ [अमृत शब्द का अर्थ अविनाशी कारण सत्ता है] अग्नि की भांति सोम का भी परम व्योम ही स्थान है । "पदं यदस्य परमे व्योमनि,, ९ । ८६ । १० इसलिये कहा गया है कि आकाश के दृढ़ स्थान से सोम दुहा गया था, "महो नाहात् दिव आनिरधुक्षत,, (९ । ११० । ३ । सोम शक्ति की ही अभिव्यक्ति है यह समझाने के लिये कहा गया है कि ,"सोम त्रिगुण तन्तु का आकर्षण करता है । "तन्तु तन्वानस्त्रिवृतं यथाविदे,, (९ । ८६ । ३२ ।)यह त्रिगुण तन्तु ही,क्या सत्व रज तमोमयी प्रकृति शक्ति नहीं ? इस त्रिगुणा तन्तु से ही सूर्यरश्मि व्यक्त हुई है यह भी लिखा है "स सूर्यस्य रश्मिभिः परिव्यत" (९ । ८६ । ३२ ।) तन्तु एवं रश्मि पर्याय वाचक शब्द हैं ।

देखी जाती है "आकाश में, पृथिवी में, पर्वत में और ओषधियों में — सोम का स्थान है" "सोम से ही जल एवं ओषधि वर्ग की उत्पत्ति हुई है"। सोम ही आकाश का आश्रय है, सोम ही पृथिवी का आश्रय है एवं सोम ही जल के भीतर विदित है आकाश में सोम की नाभि है; पृथिवी एवं पर्वत में सोमके अवयव उत्पन्न होते हैं; गो प्रभृति जीवों की त्वचा सोम से ही उत्पन्न होती है। सोम देवताओं के दोनों प्रकार के जन्मोंको जानता है * ये सब उक्तियाँ—कभी भी मत्तता जनक सोम नामक लतावृक्ष के प्रति प्रयुक्त नहीं हो सकतीं। इन उक्तियों का लक्ष्य सोम की सूक्ष्म कारणात्मक अवस्था mattor ही है। इसी लिये कहा गया है कि — मातरिश्वा,— अग्नि को आकाश से ले आया एवं सोम को पर्वत से संग्रह कर लाया †। इस भांति अग्नि सोम नामक मिथुनसे‡ स्थूल विश्व व्यक्त होता है। मातरिश्वा शक्तिके स्पन्दित होते रहने पर, अग्नि का उद्भव हुआ। साथ ही साथ उसका दूसरा अंश—सोम वा अन्न — घनीभूत हो चला, तब जल उत्पन्न होगया। इसी लिये अग्नि एवं जलको

---

* याते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीषु अप्सु ९।९१।४। त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वा त्वमपो अजनयः ।१।९१।२२। नाभा पृथिव्याः धरुणो महोदिवो अपामूर्मौ सिन्धुषु अन्तराहितः।९।७२।७।-दिविते नाभा परमो य आददे पृथिव्यास्ते रुरुहुः सा न विशिपः। अद्रयस्त्वा वप्सति गोरधित्वचि अप्सुत्या।९ ७९।४। अथा देवानामुभयस्य जन्मनो विद्वान्।९ ८१।२ पिता देवानां जनिता ९।८७।२।

† आ अन्यत् दिवो मातरिश्वा जभार आ मथ्नात् अन्यं परि श्येनो अद्रेः।१।९३।६। पृथिवी की प्रथम अभिव्यक्ति के समय जलव्याप्त स्थल भाग उन्नत Elevated होकर भूस्तरने पर्वताकार धारण किया था। इस समय पर्वत गात्र में जलज उद्भिज व ओषधि प्रभृति की उत्पत्ति हुई थी। इसी लिये 'पर्वत, से सोम को लाने की बात कही गई है।

‡ अग्नि—motion सोम--Matter है। प्रश्नोपनिषद् में अग्नि सोम का विस्तृत विवरण है। पाठक मूल ग्रंथ देखें। ऋग्वेद में ये दोनों कभी एकत्र पूषा सोम कभी इन्द्र सोम प्रभृतिरूप से वर्णित हुए हैं। पृथक् रूपसे भी वर्णन है। २ ४० । समग्र, एवं १।९३। समग्र देखो। सोम matter मात्र है, यही ऋग्वेद का अभिप्राय है। इसी कारण--सोम से तेज वा ज्योति उत्पन्न हुई है, एवं जल भी उत्पन्न हुआ है ये दोनों बातें लिखी हैं। "सोम जल एवं सूर्यरश्मि को धारण करता करता है। "स सूर्यस्य रश्मिभिः परि व्यात्, ।९।८६।३२। "अपोवसानः" दुहानः प्रत्नं पयः" (९ ४२।४) जनयन् अप्सु सूर्यम्।९।४२।१।

एकत्र उत्पन्न एवं सहवासी * कहा गया है।

ऋग्वेद के अनेक स्थलों में अन्तरिक्ष का निर्देश 'समुद्र' शब्द से किया गया है।

ऋग्वेद कथित 'समुद्र,

यह 'समुद्र,-असीम लघु जलीय वाष्पराशि से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं † है आकाशमें यह असीम जलीय वाष्पराशि आवर्तित होते होते जैसे उससे सूर्य चन्द्र नक्षत्रादि ज्योतिष्कमण्डली व्यक्त होती है वैसे ही साथ साथ स्थूल जल भी अभिव्यक्त होता है इस भांति सूक्ष्म तेज शक्ति से सूर्य अग्नि प्रभृति की उत्पत्ति हुई है। इस उद्देश्य से ही कहा गया है कि अग्नि—जल के क्रोड़ या आश्रय में रहता है एवं अग्नि-जल के गर्भ में अवस्थान करता है ‡ तभी तो हम दशम मंडल में देखते हैं कि-"अग्नि अपने आप जो जल उपार्जन करते हैं उनमें उद्भिज्जमण उत्पन्न होकर पृथिवी का पालन करते हैं। अग्नि की शुभ्र वर्ण शिखा "आकाश के घृत स्वरूप वृष्टि वारि का दोहन करती है" "आकाश में जो अपरिसीम

---

* यहां पर एक बात लक्ष्य करने की है। हम जिसे स्थूल 'वायु, कहते हैं, वह अग्नि के संहत संगत होकर ही व्यक्त होता है। "मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य, सर्गोऽभवत्सरीमणि,, (३ । २९ । ११) अग्नि जब चतुर्दिक प्रसृत व विकीर्ण होता है तभी वायु की सृष्टि होती है। "उ-पोजातस्य दहमानमेजो यदस्य वातो अनुवाति शोचिः,, (४ । ७ । १०) अग्नि व्यक्त होने के साथ ही वायु अग्नि की शिखा को लक्ष्य करके प्रवाहित होता है अतः ऋग्वेद में अग्नि को 'मारुत-श्रधः' मरुत् सम्बन्धी बल कहा है। और मरुत या वायु रुद्रका (अग्नि का) पुत्र माना गया है। "उत्पत्ति क्रम का अनुसन्धान करने पर मरुत् गण ने हमें बताया है कि पृथ्वी (अन्तरिक्ष) मरुत् गण की जननी है एवं रुद्र (अन्तर्युक्त अग्नि) जनक है,, (५ । ५२ १६ । १७) अग्नि वायु के उत्पन्न एवं वायु अग्नि से उत्पन्न है यह भी हम इस मन्त्र में देखते हैं मरुतों ने ही सूर्यरश्मि को वायुद्वारा सृजन किया है "सृजन्ति रश्मिमोजसा" सूर्याय (८।७।८) इयासति अप्सु हंसो न सीदन् (१ ६५ ५) इस की भांति जल में अग्नि रहता है। पावक देव अग्नि के स्पन्दन को स्वयं वायु द्वारा कैसे चमत्कारूप से समझाया है "(किंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे (१०-८२ ५ ६) मरुत जल प्रथम गर्भ धारण करते हैं. अग्नि ही जल का गर्भ स्वरूप है इस गर्भ में (अ-ग्नि में) सब देवता रहते हैं। सोम भी जल का गर्भ स्वरूप है-"सोमः" चकार अपां यद् गर्भः। ९ । ९७ । ४१।

† जलीय वाष्पराशि [illegible] स्वयो हुवे रजसो अस्य योनौ (७ । १७ । १४ ।) अन्तरिक्ष तेज का मूलोत्पत्ति एवं जल का योनिस्वरूप है। "या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्च अवस्तात् उपतिष्ठन्त आपः (३ । २२ । ३। सूर्य के ऊपर और नीचे असीम जल राशि है।

‡ "अपामुपस्थे इत्यादि (६ । ८ । ४) मातरिश्वाने यासि दूर प्रदेशसे अग्नि को लाकर जल में रक्खा था। यह दीनां गर्भो अप्स्वन्तः (। १ । ६५ । ४) त्वामग्ने पुष्करादधि अथर्वा निरमंथत(६। १६ । १३) आचार्य श्री महीधर सामवेद में पुष्कर का अर्थ जल एवं अथर्वा का अर्थ वायु करते हैं श्री शङ्कर भी प्रश्नोपनिषद् में अथर्वा से प्राण शक्ति लेते हैं अतएव मन्त्रका अर्थ हुआ वायु या प्राणशक्ति ने जल के ऊपर अग्नि का मंथन किया। "तत्राससुत्र आगृह मा सूर्यमजगर द॰ १० ७२ १

समुद्र है अग्नि उसीमें से जल दिया करता है"* इसी कारण ऋग्वेद में अग्नि का एक नाम—"अपांनपात्" × है "जल में गूढ़भाव से स्थित अग्नि को पहले भृगु ही जान सके थे" † अत एव ऋग्वेद के मत से सृष्टि प्रक्रिया यह है कि परम व्योम में मातरिश्वा शक्ति दो प्रकार से अपना विकाश करती है एक अंश सूक्ष्मतेज अग्नि व तेजः शक्ति दूसरा अंश सूक्ष्म—सोम शक्ति है इस सूक्ष्म अग्नि से ही स्थूल अग्नि सूर्य आलोकादि की अभिव्यक्ति होती है एवं सूक्ष्म सोमशक्ति से ही पहले जल की अभिव्यक्ति होती है फिर उसके घनीभूत होने पर पृथिवी प्रकट हो जाती है। इसी लिये जैसे अग्नि को कहा गया है कि अग्नि आकाश में सूर्य रूप से भूलोक में अग्नि रूपसे मेघ में विद्युत् रूपसे, नद्यादि जल में वाड़वाग्निरूपसे एवं ओषधियोंमें ऊष्मा रूप से स्थित है,वैसे ही सोम को भी कहा गया है कि, सोम आकाशमें, पर्वत में, भूलोक में, ओषधिमें जलमें और प्राणियों की त्वचा में स्थित रहता है ::।

---

* "द्यावाभूमिदेवस्यामृतं यदीगोरतो जातासो धारयन्तु उर्वी। विश्वेदेवा अनुतत्ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः।(१०।१२।३) अस्मात् समुद्रात् बृहतो दिवो नो अपां भूमानमुपनः सृजेह;" (१०। ६८। १२) "अश्वमिव अधुक्षत् धुनिमन्तरीक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् (१०। १४६। १) अन्तरिक्ष में समुद्र रूप असीम जलराशि अश्ववत् गात्र कम्पन करती है, यह निरुपद्रव स्थान में बद्ध है इस से सविता ही जल निकालते हैं। यह भी देखते हैं कि—"सोमने ही आकाश में पहिले समुद्र को धारण किया था एव सोम से ही ज्योति, दिक् प्रभृति की उत्पत्ति हुई है।" "त्वं समुद्रं प्रथम विधारयः" इत्यादि ६।१०७।२३

× द्वि० मं० के ३५ वें सूक्त में 'अपांनपात्' की वर्णना द्रष्टव्य है। 'अपांनपात् देवता' सर्व प्रथम उत्पन्न जल के सारभूत सोम का पान करती है"। एवं इसे चारों ओर से जल घेरे है। "अप्सुस पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् (पूर्वं उत्पन्नानाम् अपाम्—सायणाचार्य) "अपांनपात् परितस्थुरापः (२। ३५।५ व ३)।"वया ईदन्यो भुवनानि अस्यप्रजायन्ते वीरुधश्च प्रजाभिः" (२।३५।८) विश्व के सकल पदार्थ इस के शाखास्वरूप हैं एवं लता ओषधि प्रभृति इसी से उत्पन्न और पुष्ट होते हैं।

† इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनुग्मन्। गुहा चरन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवो विन्दन् १०।४६।२। अर्थात् भारत देशमें पहले इस थ्यूरी का आविष्कार महर्षि भृगु ने किया था।

:: अग्ने यत्ते दिविवर्चः पृथिव्याम् यदोषधीषु अप्स्वायजत्र। येनान्तरिक्ष मुर्वाततंथ (वायु रूपेण)—३।२२।२। "जठरे वावसानः" (३।२२।१) इत्यादि देखिये। "त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।१।९१।२२", अपामूर्मौ सिन्धुष्व अन्तराहितः......पृथिव्यास्ते रुरुहः सानविक्षिपः......गाराधि त्वचि......अप्सु आ।९।७९।४। "(सोमः) अधित्वचि गवां क्रोडति अद्रिभिः" ९।६६।२९॥

१६। अतएव एक ही शक्ति विविध रूप से—विविध देवताओं की मूर्ति धारण करके नाना स्थानों में क्रिया करती है। इस विषय को ऋग्वेद ने बड़ी ही स्पष्टता से खोल दिया है ऋग्वेद के स्थान २ में यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है कि, सूर्य अग्नि, विद्युत् वा वायु-ये सब एक ही केन्द्र के रूपान्तर मात्र हैं-एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं—

बाहर और भीतर एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न विकाश हैं।

—इन्द्र ही—सूर्य, अग्नि, विद्युत् वा वायुरूप से क्रिया करता है, पाठक एक दो स्थल देख लें:—

"आकाश, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी-ये सब-इन्द्र के दर्शनीय शरीर को धारण करते हैं" *। अर्थात् इन्द्र ही-आकाश में सूर्यरूप से, अन्तरिक्ष में विद्युत् वा वायु रूप से एवं पृथिवी में अग्निरूप से विकाशित हो रहा है। फिर कहा गया है कि, *"इन्द्र ही तीन स्थानों में तीन प्रकार की उज्वल ज्योति रूपसे निवास करता है () ?* एव 'सूर्य, वायु, अग्नि एवं नक्षत्रगण सभी इन्द्र की मूर्तियां हैं या इन्द्र के ही रूपान्तर मात्र हैं। ÷। केवल यही नहीं; ऋग्वेद में यह भी निर्देशित हुआ है कि, —"इन्द्र की ही एक मूर्ति आकाश में (सूर्य रूप से) एवं अन्य मूर्ति पृथिवी में (अग्नि रूप से) है और दोनों मिली हुई हैं। एवं पुरावेत्तागण यह भी जानते हैं कि प्राणी शरीर में इन्द्र ही इन्द्रिय शक्ति रूप से विकाशित है ×। हम स्पष्ट ही देख रहे हैं कि एक ही शक्ति जिस प्रकार बाहर चन्द्र, सूर्य, विद्युत् वायु, नक्षत्र, और अग्नि रूप से दर्शन दे रही है, उसी प्रकार वह भीतर इन्द्रिय शक्ति रूप से क्रिया शील है। और बाहर जो मरुत् वा।वायु है, वही प्राणी देह में इन्द्रिय शक्ति रूप से अभिव्यक्त है। यह बात भी ऋग्वेद में देखिये,-

आध्यात्मिक इन्द्रियों का विकाश।

---

*"अस्य""""विभ्रतिद्यावा-क्षामा-पृथिवीदर्शतं वपुः"१।१०२।२ भाष्यकार ने ऐतरेयारण्यकभाष्य में वैदिक इन्द्र को 'प्राण स्पन्दन, माना है। सूर्य, वायु, इन्द्रियादि प्राण की अभिव्यक्ति हैं।

()"तिस्रो भूमीर्नृपते त्रीणि रोचना""""त्रिधक्षिथ" १।१०२।८।

÷ "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि"(१।६।१) सायणकृत अर्थ देखिये) फिर यह भी है कि, जल के भीतर इन्द्र का ही चक्र गूढ़ रूप से निहित है; उसीसे ओषधि, लता वृक्ष प्रभृतिमें क्षीर वा रस उत्पन्न होता है (१०। ७३। ६) इन्द्र—'मन्यु, वा बल की प्रथम अभिव्यक्ति है एवं देवता इन्द्र के बल का ही अनुवर्तन करते हैं। (१०।७३।८-१०)॥

× "तत्ते 'इन्द्रियं, परमं पराचैः अधारयन्त कवयः पुरेदम्। क्षमेदमन्यत् दिव्यन्यदस्य समीपृच्यते (१।१०३।१) 'इन्द्र इन्द्रियैः शर्म यंसत्(१।१०७।२)'देहि इन्द्र इन्द्रियाणि विश्वा (५।३१।३)॥

"अर्चन्तो अर्कं जनयन्त इन्द्रियम्" (१।८५।२)। देहस्थ प्राण अपानादि पञ्च वायु बाहर के वायु वा मरुत् के ही रूपान्तर हैं, यह बात भी अनेक श्रुतियों में मिलती है। -"न ये ईषन्ते जनुषो अया न्वन्तः सन्तो अवद्यानि पुनानाः" (मरुतः) ६।६६।४। बाहर जो विश्वव्यापक मरुत् है, वही प्राणी शरीरमें परिच्छिन्न प्राणापानादि वायुरूप से रहकर मनुष्यको शुद्ध करता है"*। वायुसे प्रार्थना की गई है,-"मरुतो मरुद्भिः (प्राणादिभिः)शर्म यंसत्" १।१०७।२। त्रिनः पञ्च होतॄन् (प्राणादीन्) आवर्तयत् २।३४।१४। हे मरुत् गण ! तुम प्राणापानादि वायु द्वारा हमारा मङ्गल करो"। और एक स्थान में है कि, "रुद्राणामेति प्रदिशा विचक्षणः" १।१०१।७। सायणाचार्य रुद्र का अर्थ प्राणादि रूप से वर्त्तमान मरुद् गण करते हैं। इन्द्र ही देहाभ्यन्तरस्थ प्राणापानादि वायु के सहित सूर्य रूप से उदित होते हैं।

हमने उपनिषदों की आलोचनामें देखा है कि, जो शक्ति बाहर सूर्य अग्नि वायु प्रभृति रूपसे विकाशित है, वही प्राणीदेह में प्राणादि क्रिया शक्तिरूपसे विकाशित हो रही है। यह तत्व भी नूतन नहीं। यह ऋग्वेद का ही आविष्कार है। यह ऋग्वेद से ही निकला है। पाठक एक दो स्थल देखलें,

"सूर्य रश्मि ही सप्तप्रकार प्राणशक्तिरूप से देह में क्रिया शील है"।

"अग्नि ही प्राणाख्य देवताओं को देह में एकत्रित करता है।"

"सोम ही निज रस प्रदानकर इन्द्रिय शक्ति को पुष्ट करता है"।*

इस प्रकार, बाहरी भीतरी शक्ति की मौलिक एकता को ऋग्वेद उत्तम रीति से जानता है। हम वरुण की स्तुति में भी देखते हैं कि, बाहर जो सूर्य किरण है, वही देह में विज्ञान रूपसे प्रकट है।

नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषाम्।
अस्मे अन्तर्निहिताः केतवःस्युः ॥

---

*बृहदारण्यक में लिखा है,-इन्द्रियोंकी आध्यात्मिकरूप से परिच्छिन्नता 'असुरभाव, एवं आधिदैविक अपरिच्छिन्नअवस्था 'देवभाव,है। श्रीशङ्कर लिखते हैं-"अध्यात्मपरिच्छेदं हित्वा अधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलं प्रतिपद्यताम्"-ईशभाष्य।

*"अमी ये सप्तरश्मयस्तत्रा० मे नाभिः (आत्मा) आतता" १।१०५।६
अग्ने देवान् ऊचिषे धिष्ण्या ये, ३।२२।३। धिष्ण्या-धियं बुद्धि उपहितं देहमुष्णीकुर्वन्तीति प्राणाभिमानिनो देवाः(सायण)"सोमः......दधानं इन्द्रियं रसम् ९।२३।५

राजा वरुण ने आकाश के ऊर्ध्व देश में सब प्रकार के तेज के समष्टि (स्तूप) स्वरूप सूर्य को स्थापित किया है। उस सूर्य से बहिर्गत होकर किरणें नीचे की ओर विकीर्ण हो रही हैं। बाहर जो तेजःशक्ति रूपसे परिचित है, वही मानवदेह के भीतर बुद्धिरूप से, परिणत हो रहा है। और देखिये,

अन्तःसमुद्रे हृद्यन्तरायुषि।
अपामनीके विदथे य आभृतः॥
तमस्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम्॥

हे अग्नि! तुम बहुत स्थानों में बहुत रूपों से अवस्थान करते हो। तुम जैसे आकाश में सूर्यरूप व पृथिवी में अग्निरूप से क्रिया करते हो, वैसे ही तुम जल में भी विराजमान हो। समुद्र में तुम वाड़वाग्निहो और तुम ही मनुष्य में जठराग्निरूपसे एवं आयुरूप से (प्राणशक्तिरूपसे) ठहरे हो। संग्राम भूमि में सैनिकों के हृदय में तुम विक्रमवह्निरूपसे, वीर्यरूपसे, शौर्यरूप से अपना विकाश किया करते हो।

पाठक देखें, कितनी स्पष्ट बात है। बाहर जो सूर्यकिरण रूपसे, अग्निरूप से, तेजरूप से क्रियाशील है, वही मनुष्य शरीर के अभ्यन्तर में जिस प्रकार जठराग्नि रूप से अन्न का परिपाक कर देता है, उसी प्रकार वही मनुष्य के आयुरूप से, प्रज्ञा रूप से परिणत हो रहा है एवं वही वीर्य व विक्रम शक्तिरूप से भी विकाशित होता है *बाहर और भीतर एक ही महाशक्ति नाना रूपों से क्रिया करती है, यह शक्ति की एकता वाली बात बड़ी ही सुस्पष्टता से कही गई है। इसी उद्देश्य से प्रार्थना है कि हे देवगण! तुम्हारी दीधिति – तुम्हारा तेज - हमें प्राणप्रद हो (१ १८६ १) शक्ति की इस एकता के सम्बध में पाश्चात्य महापण्डित हर्बर्ट स्पेन्सर साहब की भी एक बात सुन लीजिये —

* अन्य प्रकार भी यह तत्व निर्देशित हुआ है। इन्द्र, सूर्य प्रभृति देवताओंकी समष्टि का नाम है 'आदित्यगण,। विश्वव्यापक यह आदित्यगण मनुष्योंके अन्तःकरण में रह कर उनके पापों का निरीक्षण करता है। "अन्तःपश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमाचिदन्ति"। आदित्यगण के दूर या निकट कोई नहीं, इससे यही सिद्धि होता है कि आदित्यगण विश्वव्यापक शक्ति स्वरूप है। एवं जो देवता बाहर विश्वव्यापक हैं वे ही मनुष्यों के भीतर पाप पुण्य के द्रष्टा हैं। यह कहने से यही जाना गया कि बाहर जो सब शक्ति है वही शक्ति भीतर भी रूपान्तरित होकर स्थित है।

How a force existing as motion, heat or light, can become a mode of consciousness how it is possible for aerial vibrations to generate the sensation we call sound those are mysteries which it is impossible to fathom.

२०। उपर्युक्त सब विचारों द्वारा हम इस निर्णय में आते हैं कि, देवता कार्य द्वारा भिन्न नहीं, नाम द्वारा भी भिन्न नहीं। एवं सभी देवता असीम, अनन्त बलस्वरूप हैं। हम यह भी समझ गए कि, बाहर और भीतर एक ही शक्ति बहु प्रकार से काम कर रही है। देवता उसी एक महाशक्ति के कार्यात्मक विकाश मात्र हैं। सुतरां देवता मूल सत्ता द्वारा भी अभिन्न हैं। देवताओं की मूलसत्ता एक ही होने से देवताओं के कामों और नामों की स्वतन्त्रता स्वीकृत नहीं होती। नतु वा देवता यदि परस्पर भिन्न स्वतन्त्र २ भौतिक वस्तु होते, तो एक के कार्य को दूसरा कैसे कर सकता? एकका नाम दूसरेमें नहीं लगाया जा सकता। एक विकाश दूसरे विकाश में परिणत नहीं हो सकता। तब तात्पर्य यही निकला कि देवताओं को मूलसत्ता एक है अतएव देवता भी एक हैं अनेक रूप नाम होकर भी एक हैं।

देवताओं में अनुप्रविष्ट कारण सत्ताही ऋग्वेद का उपास्य है।

(४) देवताओं में अनुप्रविष्ट मूलसत्ता वा कारण–सत्ता एक ही है, इस विषय में ऋग्वेद में अन्य भी उत्कृष्ट प्रमाण हैं। अब हम इसी विषय की संक्षेप से समालोचना करनेको अग्रसर होते हैं।

(क)। उपनिषदों के पाठक जानते हैं कि, उपनिषदों में एवं शङ्करभाष्य में प्रायः 'माया शब्द, व्यवहृत हुआ है। हम ऋग्वेद में भी इस 'माया, शब्द का व्यवहार देखते हैं। यह माया शब्द ऋग्वेद में जहाँ २ पर आया है, उस २ स्थल को परीक्षा करके हमने बहुत बार देखा है। भली भांति देखने पर अन्तमें हम इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि एक वस्तु भिन्न २ आकार धारण करती है इसी अर्थ में माया शब्द व्यवहृत हुआ है। पाठकों के सन्तोषार्थ हम कतिपय स्थल उद्धृत कर दिखावेंगे।

१। ऋग्वेद में उल्लिखित मायावाद।

मूर्द्धाभुवो भवति नक्तमग्निः ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्।
'माया, मूतु, यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्॥
१०। ८८। ६।

पूर्वापरं चरतो 'माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूंरन्यो विदधज्जायते पुनः।

नवो नवो भवति जायमानो अह्नांकेतुरुषसामेति अग्र् यम्।
भागं देवेभ्यो विदधाति आयन् प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥
१०। ८५। १६।१७।

जो अग्निरूप से रात्रिकाल में इस भूलोक के मस्तक-स्वरूप में दर्शन देते हैं; वे ही फिर प्रातःकाल उदित होकर सूर्यरूप से विकाशित होते हैं। और वे ही याज्ञिकगणों की नाना प्रकार की क्रियाओं (द्रव्यात्मक-क्रिया, ज्ञान-कर्म समुचित क्रिया एवं ज्ञान क्रिया) का सम्पादन करते हैं। यह उनको 'माया, के व्यतीत अन्य कुछ नहीं।

ये जो दो बालक, पूर्व और पश्चिम दिग्भाग में क्रीडा करते करते विचरण करते हैं; और ये ही क्रीड़ा करते २ यज्ञस्थल में गमन करते हैं, यह जो इनमें से एक जन (सूर्य) सब भुवनों को देखता रहता है अन्य जन (चन्द्र) ऋतु गणके विधानकारी रूपसे प्रकट होता है, इत्यादि कार्य 'माया, द्वारा ही निर्वाहित हुआ करते हैं। प्रति दिन प्रभात में नूतन २ होकर मानों ये जन्म लेते हैं एवं ऊषा के आगे आकर दिवस के केतु वा प्रज्ञापक हुआ करते हैं पुनश्च, ये अग्निरूप से सब देवताओंको यज्ञभाग प्रदान करते हैं। ये ही दीर्घ आयु वितरण करते हैं ये सब काम 'माया, द्वारा ही होते हैं।

पाठक देखते हैं, एक ही वस्तु जो विविध मूर्ति धारण कर नानाविध क्रिया करती रहती है; वही बात ऋग्वेद में 'माया, शब्द द्वारा समझी जाती है।

इमासूष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं 'मायां, वरुणस्य प्रवोचम्।
मानेनेव तस्थिवान् अन्तरिक्षे वियोममे पृथिवीं सूर्येण॥
इमासूनु कवितमस्य 'मायां, महीं देवस्य न किरा दधर्ष।
एकं यदुद्गान पृणन्त्येनीः आसिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्॥५।८५।५।६।

हम सुप्रसिद्ध एवं महा वान् वरुण की इस महती माया, को घोषित करते हैं कि, वे अन्तरिक्ष में रह कर मानदण्ड की भांति सूर्य के द्वारा पृथिवी का परिमाण करते हैं। कोई भी महाज्ञानी वरुणदेव की माया का खण्डन नहीं कर सकता। वारि-मोक्षणकारी नदी समूह, वारिराशि द्वारा समुद्र को पूर्ण तृप्त कर देने में समर्थ नहीं होते, यह भी उन वरुण की 'माया, ही है।

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य 'मायया,।

ऋतेन विश्वं भुवनं विराजथः सूर्यमाधत्थो दिविचित्र्यं रथम् ॥
'माया' वां मित्रावरुणा दिविश्रिता सूर्योज्योतिश्चरतिचित्र-मायुधम्। तमभ्रेण वृष्टया गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्तईरते ॥ ५।६३।४।७।

हे मित्रावरुण! तुम ज्ञान विशिष्ट निज धर्म द्वारा एवं अपने सामर्थ्य की माया द्वारा अपना कार्य करते रहते हो। तुम नियम बल से आकाश में विचित्र गतिशील सूर्य को धारण कर रहे हो एवं सारे विश्व को प्रदीप्त करते हो। जब तक विचित्र सूर्य आकाश में ज्योति दान कर विचरण करता रहता है, तब तक तुम्हारी ही माया आकाश में प्रकाश पाती है। और तुम मेघद्वारा जब उस सूर्य को आकाश में आवृत कर देते हो, तब भी आकाश में तुम्हारी माया ही प्रकटित होती है। जब मधुमयी वृष्टिधारा बरसाते हो, तब भी तुम्हारी माया दर्शन देती है।

अप्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाधराचीनमकरोदपामपः।
अधारयत् पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्ना'न्मायया,द्यामवस्रसः ॥
२।१७।४।

इन्द्र ने अपने बल से पुराने पर्वतों को दृढ कर दिया है, मेघस्थ जलराशि को निम्नाभिमुख प्रेरित किया है, विश्वधात्री पृथ्वी को धारण कर रक्खा है, द्युलोक को पतन से बचाया है। यह सब इन्द्र की माया से हुआ है।

प्रिय पाठक कहें कि, किस अर्थ में ऋग्वेद में 'माया, शब्द का प्रयोग मिलता है विविध रूपान्तर धारण करके जो अनेक प्रकार से कार्य करने का सामर्थ्य है-उसी का नाम 'माया, है। भाष्यकार ने भी इसी उद्देश्य पर माया शब्द का व्यवहार किया है। यह बात भी इस ग्रन्थ के पाठकों को विदित है। हम माया शब्द के अर्थ का निर्णय कर अब इन्द्र के सम्बन्ध में दो सुप्रसिद्ध मन्त्र उद्धृत करेंगे।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो 'मायाभिः, पुरुरूप ईयते युक्ताह्यस्य हरयःशतादश ॥
५।४७।१८।

रूपं रूपं मघवा बोभवीति 'मायाः, कृण्वानः तन्वं परिस्वाम्।

त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥३। ५३। ८॥

इन दोनों मन्त्रों की सायण-सम्मित व्याख्या लिखी जाती है। इन्द्र-देवताओं के सर्वप्रकार रूपों के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र अपने माहात्म्य द्वारा सकल देवों का रूप या आकार धारण करके वर्त्तमान हैं। इन्द्र अपनी माया द्वारा बहुरूप बहुत आकार धारण किये हुये हैं। साधारण लोग जानते हैं कि इन्द्र का रथ दो घोड़ों से चलता है किन्तु यथार्थ बात ऐसी नहीं। इन्द्र के अश्व सहस्र-अपरिमित हैं। इन्द्र माया द्वारा विश्व के तावत् पदार्थों के आकार में अवस्थित होकर अर्थात् अगणित रूप धर कर क्रियाओं के कर्त्ता हैं (ईहते, चेष्टते)। क्यों इन्द्र ये सब रूप धरते हैं? अपने निजी स्वरूप के विकाशार्थ ही उनका यह रूप धारण है। जीवों के निकट वे अपना विविध ऐश्वर्य प्रकाशित करते हैं, इसलिये वे विविध रूपों को धारण कर रहे हैं। इन्द्र असंख्य प्रकार के इन्द्रिय-वृत्ति-विशिष्ट जीव रूपों से प्रकाशित हैं। वास्तविक तत्वज्ञान प्रदानके लिये ही वे जीवाकार और विविध पदार्थाकार से-विराजमान हैं।

जब जो रूप धारण करने की इच्छा करते हैं, तभी वे वह रूप धर लेते हैं। वे अपने शरीर से अनेक शरीर ग्रहण कर लेने का सामर्थ्य प्रकट करते हैं*। इन्द्र मुहूर्त मात्र में अन्तरिक्ष से सब यजमानों के यज्ञों में (तीन प्रकारों के यज्ञों में) युगपत् उपस्थित हो जाते हैं। इन्द्र सत्यकर्मा हैं, इनका बड़ा सामर्थ्य है।

हम 'माया' शब्द के अर्थ से और उक्त दोनों मन्त्रों से ऋग्वेद का गूढ़ अभिप्राय समझ जाते हैं। देवता एक ही सत्ता के विविध विकाश-विविध रूप, विविध आकार हैं—इस बात को ऋग्वेद ने बड़ी स्पष्टता के साथ बता दिया है। इससे हम यही तत्व पाते हैं कि देवता मूलमें एक ही सत्ता मात्र हैं—उस सत्ता के ही विकाश हैं। एक ही इन्द्र अपने सामर्थ्य के प्रभाव से अपने स्वरूप के प्रकाशार्थ, सूर्यचन्द्रादि अनेक आकार धारण कर अनेक क्रियाओं का निर्वाह करते हैं सुतरां देवता-एक ही सत्ता के, एक ही सामर्थ्य के,-भिन्न भिन्न रूप या क्रिया निर्वाहक मात्र हैं। इसकी अपेक्षा और किस प्रकार अधिक सुन्दरता से ऋग्वेद इस महान् तत्व की घोषणा कर सकता है?

(२)। किन्तु इसकी अपेक्षा अन्य प्रकार से भी यह महा तत्व बताया गया है। देवताओं की मूलगत सत्ता एक है, भिन्न नहीं, इस विषय पर एक और अति

*मायाः = अनेक रूप ग्रहण—समर्थोपेताः। -श्रीसायणाचार्य।

स्पष्ट सूक्त है। यह तृतीय मण्डल का ५५ वाँ सूक्त है। इस सूक्त में २२ मन्त्र हैं।

२। देवताओंका मूल सामर्थ्य भिन्न नहीं

प्रत्येक मन्त्रका अन्तिम चरण है"महत् देवानामसुरत्वमेकम्"। ऋग्वेदमें असुर शब्दका अर्थहै बल वा सामर्थ्य। भिन्न २ देवताओं का महत् असुरत्व एक ही अर्थात् देवताओंका मूल सामर्थ्य एक है, स्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं। इस प्रसिद्ध सूक्त का प्रत्येक मंत्र अभ्रान्तरूप से हमें यही तत्व सिखाता है कि देवता मूलमें भिन्न नहीं हैं, उनका मौलिक सामर्थ्य एक ही है। भिन्न भिन्न देवता. उस मौलिक-सामर्थ्य के ही भिन्न २ विकाश हैं। हम सँक्षेप से लिखते हैं कि, सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में कौन कौन सी बात है।

"एक ही वस्तु बहुत प्रदेशों में बहुत प्रकारों से ठहरती है। वह आकाश, पृथिवी, वन ओषधि तथा यज्ञ स्थल में नाना आकारों से वर्त्तमान है। आकाश में सूर्यरूप से पृथिवी में अग्निरूप से, वनमें दावाग्निरूप से, ओषधियों में ऊष्मारूप से एवं यज्ञों में हविर्वाहक अग्नि-रूप से किया करती रहती है। देवताओंका महत् बल एक ही है।

ओषधियों के सब भांति के अवस्थान्तरों में एक ही वस्तु अवस्थान करती है सब ओषधियाँ जब नवीन उत्पन्न होती हैं, तब वह वस्तु उनके भीतर रहती है, जब वे तरुण होती हैं तब भी वह रहती है। जब वे ओषधियां नवकुसुम व फल धारण कर सुशोभित होती हैं, तब भी वह वस्तु ज्यों की त्यों बनी रहती है। इस वस्तु के सामर्थ्य से ही ओषधियों में गर्भ सञ्चार होता है और वे फूलती फलती हैं। एवं जब ओषधियां जीर्ण हो कर वृद्धावस्था को प्राप्त होती हैं, तब भी वह वस्तु उनमें रहती है। देवताओं का महत् बल एक ही है।

एक ही देवता सूर्य-रूप से पश्चिम में अस्त होकर फिर प्रभात काल में पूर्व दिशा में उदित होता है। वही फिर (मध्याह्न में) आकाश में विचरण करता-घूमता रहता है। देवताओं का महत् बल एक ही है।

जो सबके पोषक रूप से ओषधियों के मध्यमें व्याप्त हो रहा है वही सूर्य के सहित द्यावा-पृथिवी में विचरण करता है वही नानाविध रूप धारण करके हमें दर्शन देता है। देवताओं का महत् बल एक ही है।

एक ही वस्तु शुक्लवर्ण दिवा-रूप एवं कृष्णवर्ण रात्रि-रूपमें प्रकाशित हो रही है। देवताओं का महत् बल एक ही है।

एक ही देवता के नियम से, आकाश और पृथिवी-वृष्टि और वाष्प रूप से

दोनों परस्पर रस प्रदान करते रहते हैं। आकाश, पृथिवी के अन्तस्थ:की अग्नि का जलधारा द्वारा लेहन करता है *। एवं उस समय मेघों द्वारा शब्द करता रहता है। यही शस्यरूप वसन-द्वारा पृथिवी को समाच्छादित करता है। देवताओं का महत्व बल एक ही है।

एक ही देवता एक ओर (मेघरूप से) वज्रध्वनि कर रहा है, दूसरी ओर जलधारा का वर्षण कर रहा है। फिर वही ग्रीष्म वर्षादि ऋतुरूप से-महाकालस्वरूप से दण्डायमान है। देवताओं का महत्वबल एक ही है।

एक ही निर्माता त्वष्टा मनुष्य, पशु और पक्षियों का उत्पादन तथा पालन किया करता है, वह विश्वरूप है। वह अनेक भांति से बहुत प्रजाओं को उत्पन्न करता है। यह विश्व भुवन उसी का है। वही इस पृथिवी और अन्तरिक्ष में वास करता है। देवताओं का महत्वबल एक ही है।

वही ओषधि उत्पादन करता है, शस्य को पुष्ट करता है वही वृष्टिदान करता है और वही धनधान्य प्रदान करता है। देवताओं का महत्वबल एक ही है।

इस प्रकार प्रकृति की कार्यावली का मूल नियन्ता एक है, इस बात का अनुभव वैदिक ऋषियों को पूर्ण रीति से था। प्रकृति के सकल कार्यों के मूल में एक ही सत्ता एक ही नियन्ता, एक ही देवता वर्त्तमान हैं, सभी देवता उस एक मूल-सत्ता के ही विकाश हैं--इस महातत्व का अनुभव वैदिक ऋषियों ने भलीभाँति किया था, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। बहुत्व के मूल में एकत्व की धारणा, इससे अधिक सुस्पष्टतर और कैसे हो सकती है? देवताओं के मूल में जो बल वा सामर्थ्य निहित है, वह भिन्न नहीं-वह एक है-इससे देवताओं के नामों तथा कार्यों में लक्षित होनेवाली भिन्नता वास्तव में कहने मात्र के लिये भिन्नता है। मूलगत सत्ता की एकता को लक्ष्य में रखकर ऋग्वेद में देवताओं के कार्यों व नामों की स्वतन्त्रता भी रक्षित नहीं हुई। यह हम ऊपर बता आये हैं मूल-सत्ता के इस एकत्व को प्रस्फुटित कर देने के निमित्त ही ऋग्वेद ने देवताओं के नामों एवं कामों का ऐसा वर्णन किया है।

(ग) पाठकवृन्द देवताओं के मौलिक एकत्व के सम्बन्ध में एक सुन्दर सूक्त

*आकाश का धेनुरूप से वर्णन है।

३। ऋग्वेदमें व्यवहृत "ऋत" शब्द द्वारा भी देवताओं का मौलिक एकत्व सूचित हुआ है।

देख चुके। हम इस सत्ता की एकताके सम्बन्ध में ऋग्वेद में व्यवहृत एक और शब्द की ओर लक्ष्य करने के लिये अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। ऋग्वेद में सर्वत्र ही "ऋत" शब्द का व्यवहार किया गया है* इस ऋत शब्द का अर्थ सत्य, अविनाशी सत्ता है। इस ऋत शब्द द्वारा ग्रथित एक मन्त्र बहुत ही सुप्रसिद्ध है। यह "हंसवती ऋक्" नाम से प्रख्यात है। यह चतुर्थ मण्डल के ४० वें सूक्त की पाँचवीं श्रुति है। इस प्रसिद्ध ऋचा में यही महत्तत्व उद्घोषित हुआ है कि, एक ऋत व अविनाशी सत्ता सब पदार्थोंमें ओत प्रोत होरही है। यह ऋत, आकाश में, अन्तरिक्ष में, पृथिवी में, जल में, समुद्र में, अग्नि में सूर्य में और मनुष्य में अनुस्यूत होरहा है। सूर्य, अग्नि, आकाशादि—इस ऋत सत्ता के ही विकाश मात्र है। हँसवती ऋचा यह है:—

हंसः शुचिषत् वसुरन्तरिक्षसत् ।
होता वेदिषत् अतिथिर्दुरोणसत् ॥
नृषत् वरसत् ऋतसत् व्योमसत् ।
अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा—ऋतम् बृहत् ॥

श्री सायणाचार्य कहते हैं—आदित्य मण्डल के भीतर जो पुरुष सत्ता अनुस्यूत होरही है, वह सत्ता ही जीव हृदय में अनुस्यूत है। ऋत वा निर्विशेष ब्रह्मसत्ता ही यह है। एक ही ऋतसत्ता वा ब्रह्मसत्ता-असंख्य, अनन्त पदार्थों में अनुस्यूत हो रही है। इस महामन्त्र में यह महातत्व उपदिष्ट हुआ है। सूर्यमण्डलस्थ सत्ता जीव हृदय में स्थित सत्ता एवं निरुपाधिक ब्रह्मसत्ता—एक ही पदार्थ है। हंसवती ऋचा का अर्थ भी सुनिये—

"दीप्त द्युलोक में स्थित सूर्य (शुचिसत्) एवं अन्तरिक्षस्थ वायु (वसु) पृथिवी में अवस्थित (वेदिसत्) अतिथिवत् पूज्य यज्ञीय अग्नि होता)—ये एक ही ऋतसत्ता के भिन्न भिन्न रूप हैं। एक ही ऋतसत्ता-नाना रूपों में अनुप्रविष्ट है। एवं यह ऋतसत्ता ही मनुष्य में आत्मचैतन्य रूप से अवस्थित (नृषत् है। यह ऋत वा परब्रह्म

*श्रीशङ्कराचार्य, ऐतरेयारण्यक भाष्य के एक स्थान में 'ऋत, शब्द का अर्थ 'प्राणशक्ति, (कारणसत्ता) करते हैं। "ऋतं सत्यं मूर्तामूर्तविषयं प्राणः,, । २ । ३ । १८ : द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त ञ्चैवामूर्त ञ्च । बृहदारण्यक । सत्यं प्राणादिकारणं । असदनृतं विकारजातम् ।

शङ्कर ऐ० आ० भा० २ । १।

सत्ता—वरणीय सूर्य मंडल में है (वरसत्), यह कर्मात्मक यज्ञ वा ब्रह्म यज्ञ के अग्नि में अनुगत है (ऋतसत्), यह अन्तरिक्षस्थ वायु में है (व्योमसत्), यह उदक में विद्युत रूप से उत्पन्न होती है, एवं समुद्रजल में वाड़वाग्नि है (अब्जा), उदयाचल में यह सूर्य-रूप से है (अद्रिजा), सूर्यचन्द्रादि की किरण रूप से (गोजा), सबके प्रत्यक्ष सत्य * सूर्यरूप व अग्नि रूप से है (ऋतजा)।—और यही सबका अधिष्ठान-स्वरूप "ऋत" वा परब्रह्म सत्ता है †।

ऋत शब्द के अन्यान्य प्रयोग — हम इस 'ऋत' शब्द के सम्बन्ध में इसी मंडल के २३ वें सूक्त की ओर भी पाठकों की दृष्टि आकर्षित करते हैं।

ऋतस्यहि शुरुधः सन्ति पूर्वीः ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य दृढ़ा धरुणानि सन्ति पुरूणिचन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्तपृक्ष ऋतेन गावऽऋतमाविवेशुः।
ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते ॥४।२३।८-१०।
ऋतस्य सा पयसा पृणवतेला ॥ ३। ५५। १३ ॥
ये ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिवि अप्रथयन् पृथिवीं मातरंवि।१०।६३।३।
रुद्रा ऋतस्य सदनेषु वावृधुः ॥ २। ३४। १२
ऋतस्य राश्मिमनुयच्छमाना (ऊषा)। १। १२३। १३
ऋतेन देवः सविता समायत।
ऋतस्य शृंगमूर्विया विपप्रथे। ८।८६। ५
ऋतावान् ऋतजाता ऋतावृधः (मरुतः) ७। ६६।१३

ऋत-सत्य के आश्रय में पुरातन जलस्थित है। ऋत-सत्य का ध्यान करने से पाप नष्ट होता है। ऋत-सत्य के विविध आकार विविध मूर्तियां हैं। ये आकार ही विश्व को धारण किये हैं एवं ये आल्हादकार हैं। जल में जो तेज शक्ति है, सो इस ऋत के ही स्वभाववश है। साधक जन इस ऋत से ही अन्न की प्रार्थना करते हैं।

* अग्नि के तीन प्रसिद्ध "सत्यभूत" जन्म हैं। "त्रिरस्य ता परमा सन्ति 'सत्या, स्पार्हा देवस्य जनिमानि अग्नेः"। ४। १। ७। ३ ५६। ८ ऋचा में इसे 'ध्रुवा' वा अविनाशी कहा है। "त्रिषत्तमा दूत्या रोचनानि"।

† आज भी प्रति दिन द्विजगण इस ऋतकी उपासना करते हैं। "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" इत्यादि।

अति विस्तीर्ण व गम्भीर इस द्यावा-पृथिवी का होना ऋतके निमित्त ही है। अर्थात् ऋतसत्ता है-तभी आकाश व पृथिवी है। इस ऋत के निमित्त ही द्यावा-पृथिवी दुग्धदोहन करती है। इस ऋत-सत्ता से ही जल बरसता है और पृथिवी सिक्त होती है *। विश्व के सारभूत हे देवताओ! तुमने ऋत द्वारा सूर्य को आकाश में चढ़ाया है। तुम ऋत द्वारा जननी स्वरूपिणी माता को विस्तारित कर रहे हो। मरुत् गण ऋत के आश्रय में ही वृद्धि पाते हैं। ऊषा ऋत की ही रश्मि का अनुसरण करती है। सूर्य ऋत के द्वारा ही राशियों को संयत करता एवं फिर ऋतके शृंग को विशेषरूप से प्रथित (विस्तारित) करता है। मरुद्गण-ऋत से ही उत्पन्न हुए हैं, ऋत द्वारा ही वृद्धि-प्राप्त वा पुष्ट हुए हैं एवं ऋत का अवलम्बन कर ही स्थित हैं" ॥

इन प्रमाणों से जाना गया कि, यह ऋत-सत्य ही सकल पदार्थों के मूल में, सब आकारों के मूल में, सब क्रियाओं के मूल में वर्तमान है। हम उपनिषदों की आलोचना में, कार्यों में अनुस्यूत कारण सत्ता की बात कह चुके हैं,-यह ऋत, उस कारण सत्ता व्यतीत अन्य कुछ नहीं। एक ऋत वा कारण सत्ता ही सब देवताओं के मूल में है। सब देवता-ऋत से उत्पन्न तथा पुष्ट हैं। ऋत ही उनमें अनुस्यूत है, यह सब चर्चा ऋग्वेद में अतिशय स्पष्ट रूपसे पाई जाती है। ऋग्वेद में सर्वत्र ही लिखा है कि, सूर्य, चन्द्र, ऊषा, मरुत्, प्रभृति सभी देववर्ग ऋत से उत्पन्न, ऋत के अवलम्ब से अवस्थित हैं। ऋत ही देवताओं की नाभि है। देवता ऋत विशिष्ट एवं ऋत द्वारा पुष्ट हैं। क्यों ऐसा लिखा गया? सब देवताओं-सब कार्यों के मध्य में जो ऋत वा कारण सत्ता अनुप्रविष्ट है, उस सत्ता से ही समस्त कार्यवर्ग (देवतावर्ग) स्थित होरहे हैं। यही इस 'ऋत' शब्द के प्रयोग का उद्देश्य है। हम समस्त मण्डल से इस ऋत शब्द प्रयोग के कतिपय दृष्टान्त उद्धृत कर दिखावेंगे पाठक देखें यह ऋत शब्द कार्यों में अनुप्रविष्ट कारणसत्ता का ही बोध कराता है—

द्यावा-पृथिवी का निवास ऋत की योनि में है (१०।६५।८) सोम-ऋत से उत्पन्न ऋत द्वारा वर्द्धित ऋतस्वरूप है (९।१०८।८) मरुद्गण ऋतसे उत्पन्न है (३।५४।१३) ऋतद्वारा पुष्ट एवं ऋत विशिष्ट है (७।६६।१३) अग्नि गूढ़ रूप से ऋत के पद में अवस्थित है (४।५।९) बृहस्पति-ऋत के रथमें आरोहित

* अग्नि पहिले स्पन्दित होती है, तब उसके एक अंश से जल उत्पन्न होता है। यहीतत्व देखना चाहिये।

है (२ । २३ । ३) सूर्य-ऋतद्वारा आच्छादित एवं स्वयं ध्रुव ऋतरूप है (५ । ६२ । ११) ऊषा-ऋतद्वारा ही प्रकाशित हुई है (७ । ७५ । १) मित्र और वरुण-ऋत के रक्षक हैं (७ । ६४ । २) ऋत विशिष्ट हैं (७ । ६१ । २) एवं ऋत द्वारा वर्द्धित और ऋत के अवलम्ब से स्थित हैं (१ । २ । ८) * । पृथिवी और आकाश ऋत के घरमें वसते हैं (७ । ५३ । २) वरुण-ऋतपेशा हैं अर्थात् वरुण का अंग ऋतसे सुगठित है (५ । ६४ । १) वाक् (वाक्य) ऋत का स्पर्श किये है (८ । ७६ । १२) जो लोग ऋतके उद्देश्य से उपासना करते हैं सोम-उनके निकट ऋतको ले आता है (६ । ६७ । २३) सोमके गर्भ में ऋत निहित है (६ । ६२ । ५) सूर्यने ऋतको ही विस्तारित किया है एवं नदियां ऋत को ही वहाती हैं (१ । १०५ । १२) इत्यादि।

ऋग्वेद में ऐसी उक्तियां भरी पड़ी हैं। सब देवताओं को एक संगमें भी ऋत की योनि बताया गया है। "योनिम् ऋतस्य......आसते" (१० । ६५ । ७) एवं "विश्वेदेवा ऋतावृधः" (६ । ५० । १४) एवं "ऋतस्य वावृधुः" (७ । ६० । ५) अर्थात् समस्त देवगण ऋतको योनि में अवस्थित एवं ऋतद्वारा परिवर्द्धित हैं।

(घ) सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट 'कारण-सत्ता. को समझाने के लिये जैसे ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द व्यवहृत हुआ है, इसी प्रकार अन्य भी दो तीन शब्द व्यवहृत हुए हैं। पाठक उनकी ओर भी दृष्टिपात करें। 'परावतः' शब्द 'सनात्' शब्द, एवं 'प्रत्न-ओकः, वा 'परमसदः, ये कतिपय शब्द ही हमारे सिद्धान्त के समर्थक हैं। परावतः शब्द का अर्थ है दूर प्रदेश से, सनात् शब्दका अर्थ है सनातन, नित्य। 'प्रत्न ओकः,शब्दका अर्थ पुरातन स्थान है। ये शब्द जिस भावसे ऋग्वेद में व्यवहृत हुए हैं एवं देवताओं के प्रति प्रयुक्त हुए हैं, उस भावके अनुसार इनका तात्पर्य कार्यों में अनुप्रविष्ट कारण सत्ताका जानना ही है। इसके अतिरिक्त इन शब्दों का अन्य कोई सुसंगत अर्थ नहीं बैठता। नीचे उद्धृत स्थलों पर विचार कीजिये—

अन्य कई शब्दोंके प्रयोगसे भी देवताओंका मौलिक एकत्व सिद्ध है।

'आयाति सविता परावतः, [१ । ३५ । ३]

'अग्निमभरत् मातरिश्वा परावतः, (६ । ८ । ४)

'एषायुक्त परावतः सूर्यस्योदयनादधि, (१ । ४८ । ७

---

* भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं। कि "जैसे रस के स्पर्श से लोहा सुवर्ण बन जाता है वैसे ही सत्के स्पर्श से असत्य भी सत्य होजाता है। ऋत=मायाशक्ति,, ऐ० भा० भा० २ । ३ ।

'आसमुद्रादवरात् आ परस्मात् ।
अग्निर्नदे दिव आ पृथिव्याः [७ । ६ । ७]
'यन्नासत्या परावति अर्वावति अस्ति भेषजम्, (८ । ९ । १५)
'य एक एक आयय परमस्याः परावतः, (५ । ६१ । १)
'प्रयद्धूहध्वे मरुतः पराकात् (१० । ७ । ६)

इनका क्रमशः अर्थ यह है—सूर्य–परावत् से अर्थात् अति दूर देशसे आया है [अति दूर देशसे कार्यों के अतीत स्थान से] मातरिश्वा अति दूरके स्थानसे अग्निको ले आया था। ऊषा सूर्य के भी ऊपर वाले अति दूर स्थान से आई है ॥ हे अग्नि! तुम आकाश, पृथिवी और समुद्र से धन ला दो। अवर या निकृष्ट स्थान से एवं बहुत दूर स्थानसे भी धन लेकर आना। हे अश्विनो कुमारो! दूर देशमें तुम्हारी जो ओषधियां हैं एवं निम्नप्रदेश में जो ओषधियां हैं; वे हमें दे दो। हे मरुद्गण! तुम एक एक करके परम 'परावत, या दूर स्थान से आते हो। तुम अति दूर स्थान से बहकर आते हो ॥

इन सब मन्त्रों में 'परावतः, शब्द द्वारा, कार्यों से परे की 'कारण–सत्ता ही, ज्ञात होती है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं, दशम मण्डल में मृत जीवके मनका एक सूक्त में आह्वान है। उस सूक्त में सब कार्यवर्ग का अलग निर्देश किया है एवं सब के अन्त में 'कारण–सत्ता का निर्देश 'परावतः, शब्द द्वारा ही किया गया है *। निम्नोद्धृत स्थलों का अभिप्राय भी कारण सत्ता मात्र है, सो भी पाठक सहज में समझ लेंगे—

'सवृत्रहा 'सनयो, विश्ववेदाः, (३ । २० । ४)
'सनजा अप्रतीतः, (१० । १११ । ३)
'सनामते गोतम इन्द्र, (१ । ६२ । ३)
'इन्द्र जनुषा सनादसि, (८ । २१ । १३)
'अशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि, (१ । १०२ । ८)
'सनात् सुजाता·····धृतव्रता, (८ । २५ । २)
'सनादेव तव वायो गभस्तौ न क्षीयन्ते (१ । ६२ । १२)

* "यत्ते समुद्रमर्णवं मनो जगाम दूरकम्। तत्त आवर्त्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे ॥"···· यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम इत्यादि ॥ यत्ते विश्वमिदं जगत् मनो जगाम इत्यादि ॥ यत्ते पराः 'परावतो, मनो जगाम इत्यादि ॥ सब कार्यों का एक २ करके उल्लेख कर अन्तमें 'पराः परावतः' शब्द द्वारा एकबार ही मूल कारण सत्ता का निर्देश किया गया है।

अग्नि-वृत्रहननकारी, विश्ववेदा एवं सनातन (नित्य) है। हे इन्द्र! तुम सनातन सत्ता से उत्पन्न हो। हे इन्द्र! हे गोतम! तुम नित्य सनातन हो। हे इन्द्र! तुम जन्मावधि सनातन सत्ता से प्रकट हुए हो। हे इन्द्र! तुम जन्मावधि शत्रुरहित एवं तुम सनातन सत्तासे उत्पन्न हो। हे मित्र और वरुण! तुम दोनों सनातन सत्ता से अभिव्यक्त हुये हो। जिस नित्यसत्ता से तुम हाथ में धन लाये हो, उस धनका भी क्षय नहीं होता। पाठक लक्ष्यकर देखें, 'सनात्' शब्द कारण-सत्ता को ही बताता है या नहीं?

"प्रत्नस्य ओकसो हुवे" (१ : ३० । ९)

"आदित्प्रत्नस्य रेतसः ज्योतिः पश्यन्ति" (८ । ६ । ३०)

"विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने०

विधेमस्तोमैरवरे सधस्थे" [२ । ९ । ३]

"आते वत्सो मनोयमत् परमाच्चित्सधस्थात्। ८ । ११ । ७

रुद्रा ऋतस्य सदनेषु वावृधुः ॥ २ । ३४ । १३ *

अग्निः पदे परमे तस्थिवांसम् १ । ७२ । ४

ध्रुवे सदसि सीदति ॥ ९ । ४० । ३

सीदन् ऋतस्य योनिमा ९ । ३२ । ४

प्रत्नं सधस्थमासदत् ॥ ९ । १०७ । ५

वरुणस्य ध्रुवं सदः ॥ ८ । ४१ । ९

त्रीणि पदा विचक्रमे........

........विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ १ । २२ । २१

उस प्राचीन निवास स्थान से हम इन्द्र को बुलाते हैं। सब लोग अति प्राचीन रेत (जन्म स्थान) से उदित सूर्य की ज्योति का दर्शन करते हैं॥ हे अग्नि! दो स्थानों में तुम्हारा जन्म है एक परम स्थान वा कारण सत्ता, दूसरा अवर वा स्थूल स्थान है हे अग्नि! वत्स ऋषि-परम स्थान से तुम्हारे मनको खींच कर ले आए हैं॥ मरुद्गण

*" रथ चक्रकी अरियां जैसे एक नाभिमें गुंथी रहती हैं वैसे ही मरुद्गण भी एक ही नाभिमें ओत प्रोत हैं"(रथानां न ये अराः सनाभयः) १० । ७८ । ४। इस मन्त्र में भी यही कहा गया है कि, मरुद्गण एक ही कारण सत्ता से उद्भूत हैं॥

ऋतके वासस्थान में वर्द्धित हुए हैं। अग्नि—परमपद में (कारण सत्ता में) अवस्थित है। सोम-ध्रुव, नित्य स्थान में वास करता है। सोम,—ऋत के (कारण सत्ता के) बीज स्थान में अवस्थान करता है। सोम—अति प्राचीन स्थान में बसता है। आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी से पृथक् भी वरुण का एक गुप्त नित्य स्थान है। आकाश, अन्तरिक्ष, पृथिवी —इन तीन पदों से अलग भी विष्णु का एक परम पद है इस परमपद का दर्शन केवल मननशील व्यक्ति ही पा सकते हैं।

इन 'परमपद, 'प्राचीन स्थान, प्रभृति शब्दों द्वारा भी देवतावर्ग में अनुप्रविष्ट 'कारणसत्ता, ही लक्षित होती है। ऋग्वेद में 'अमृत, शब्द भी इस कारण सत्ता का ही बोधक है।

विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ (३ । ३८ । ४)

देवेषु अमृतमजुर्यम् [३ । ५३ । १५]

स्थिरं हि जानमेषाम् (१ । ३७ । ९)

जनुषा"अमृतं नाम भेजिरे [५ । ५७ । ५]

आतस्थिवांस अमृतस्य नाभिम् (६ । ४७ । २)

इन्द्र, विश्वरूप धारण कर अमृत में (कारणसत्ता में) अवस्थान करते हैं। ऊषा-देवताओं के उद्देश्य से जरारहित (अव्यय) अमृत का विस्तार करती है। मरुद्गण का जन्मस्थान स्थिर, अचल ध्रुव है। मरुत् जन्म द्वारा अमृत को प्राप्त हुये हैं। सभी देवता अमृत की नाभि में निवास करते हैं। रथचक्र की अरियां जैसे चक्र की नाभि में प्रविष्ट रहती हैं, वैसे ही सब देवता अमृत की नाभिका आश्रय कर रहे हैं। अन्य भी अनेक स्थानोंमें'अमृतकी नाभि, कही गई है।

और अधिक उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। इन सब शब्दों द्वारा भी सरलता से हम यही समझते हैं कि देवता कारणसत्ता से अभिव्यक्त हुए हैं एवं देवताओं के भीतर अनुप्रविष्ट कारणसत्ता ही ऋग्वेद का लक्ष्य है। षष्ठ मण्डल के नवम सूक्त में हम एक बड़ी सुन्दर चमत्कार उपजाने वाली बात देखते हैं। इस सूक्त के अन्तिम कई एक मन्त्रों में हमारे पूर्वज ऋषिगण बारम्बार निर्देश करते हैं कि.- "हमारा मन हमारी बुद्धि अति दूर स्थान में चली जाती है।" इस उक्ति का यथार्थ अभिप्राय यही है कि ऋषिगण केवल कार्यवर्गको लेकरही तृप्तिलाभ नहीं कर पाते। कार्यवर्ग द्वारा समाच्छादित कारणसत्ता के अनुसन्धानार्थ उनका मन व्याकुल हो

उठा है और ढूंढ़ता २ बहुत दूर चला गया है। अर्थात् देवताओंमें अनुप्रविष्ट कारण सत्ता (ब्रह्मसत्ता) के लिये ऋषियों का मन व्याकुल है *।

(३७) देवताओं में अनुप्रविष्ट इस कारणसत्ता को बताने वाली एक और प्रणाली ऋग्वेद में अवलम्बित हुई है। प्रत्येक देवता का ही एक स्थूल, दृश्य रूप है एवं एक और अदृश्य सूक्ष्म गूढ़रूप है यह बात बार बार कही गई है। ऐसा कहने का क्या उद्देश्य है? यही उद्देश्य है कि, देवताओं में अनुप्रविष्ट गूढ़ कारण सत्ता ही इसके द्वारा सुस्पष्ट लक्षित होती है। देवताओं का जो सूक्ष्म गूढ़रूप है, वही कारणसत्ता वा ब्रह्मसत्ता है। ऋग्वेदने इस प्रणालीका अवलम्बन किस भांति किस उपाय से लिया है, सो इस स्थान में लिखा जाता है।

५ ऋग्वेद में देवताओं के दो रूप हैं। इनके रूपके द्वारा देवताओं का मौलिक एकत्व ही निर्देशित हुआ है।

ऋग्वेद ने हमें कह दिया है कि, सूर्य के दो चक्र हैं। एक स्थूलचक्र, दूसरा गूढ़चक्र। सततमनन परायण ध्यानशील योगीगण सूर्य के इस गूढ़ चक्र को जान सकते हैं, सब लोग इसे नहीं जानते +। एक दूसरी ऋचा में लिखा है कि, "अनन्त आकाश में सूर्य गूढ़भाव से स्थित है, देवता उस गूढ़सूर्य को प्रकाशित करते हैं ×। हम इन स्थलों में सूर्य के एक स्थूलरूप एवं एक सूक्ष्म रूप की चर्चा पाते हैं। सूर्यमें अनुस्यूत कारण सत्ता को लक्ष्य करके ही सूर्य के गूढ़रूप की बात कही गई है।

सूर्य के दो रूप।

* वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्। वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये? ६।९।६ हमारी चक्षु कर्णादि इन्द्रियां न जाने क्या ढूंढनेके लिये चतुर्दिश दौड़ती हैं। हमारी बुद्धि हमारा मन चहुंदिश दौड़ रहा है। हम क्या कहें? हम क्या मनन करेंगे? जिस अग्निकी उपासना करते हैं, यह अभय अमृत ज्योति ही हमारे हृदयमें निहित है। हृदय निहित इस अमृत ज्योति को ही इन्द्रियां निज निज विज्ञान रूप उपहार अर्पण करती हैं। इन्द्रियां इस ज्योति की क्रियाओं का ही अनुवर्तन कर रही हैं। "विश्वेदेवाः (इन्द्रियाणि) समनसः सकेताः एकंक्रतुमभिवियन्ति साधु" (६, ९, ५)!

+ द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः। अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः। १०, ८५, १६ सूर्य के इस गूढ़ चक्र को केवलमात्र ध्यान परायण विद्वान् ही समझ पाते हैं।

× "यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्रे आगूढ़मासूर्यमजभर्तन" १०,७२,७ देवताओं ने सब भुवनों को आच्छादित किया है। समुद्रवत् विस्तीर्ण आकाश में जो सूर्य गुप्त था उसे प्रकट किया है। अर्थात् कारणसत्ता से सूर्य अभिव्यक्त हुआ। १, १६४, ६७ मन्त्रों में सूर्य के गूढ़ स्वरूप का उल्लेख है॥

उपनिषद् में जैसे सबको अधिष्ठान स्वरूप कारणसत्ता वा ब्रह्मसत्ता को 'मन का मन' 'प्राण का प्राण' चक्षु का चक्षु कहा है, ऋग्वेद में भी वैसे ही स्थूल रूप के भीतर और एक सूक्ष्म रूप का-उस कारणसत्ता का-ही निर्देश किया गया है। हम अन्य रीति से भी, सूर्य में अनुप्रविष्ट इस कारण सत्ता का उल्लेख पाते हैं। प्रथम मण्डल के ५० वें सूक्त के एक मन्त्र में ऐसी वर्णना है,—"सूर्य का तीन प्रकार की अवस्था वा रूप है। एक 'उत्, दूसरा "उत् + तर" तीसरा "उत् + तम"। जिस सूर्य की ज्योति यहाँ भूलोक में आती है, वह 'उत्, सूर्य है। जो सूर्य आकाश में ऊर्ध्व में विकीर्ण होता है, वह "उत्तर" सूर्य है। इनके अतिरिक्त जो 'उत्तम, सूर्य है, उसका उदय नहीं, अस्त भी नहीं*। इस प्रकार के वर्णन द्वारा हम एक सूर्य की कार्यात्मक, कारणात्मक एवं कार्य-कारण से परेकी अवस्था का ही बोध करते हैं। वेदान्तदर्शन के १।१।२४ वें सूत्र में भी यही सिद्धान्त किया गया है कि जो सूर्य ज्योति आकाश में किरण विकीर्ण करती रहती है, उसके मध्य में अनुप्रविष्ट ब्रह्मसत्ता ही "ज्योति" शब्द का लक्ष्य है। श्रुति में जो ज्योति शब्द है, उससे उसमें अनुगत कारण सत्ता या ब्रह्मसत्ता ही जानी जाती है। हम ऋग्वेद में भी सूर्य के सूक्ष्मरूप के उल्लेख द्वारा वह कारणसत्ता ही जानते हैं।

अब अग्नि के सम्बन्ध में ऋग्वेद का सिद्धांत दिखाया जाता है। अग्नि के सम्बन्धमें लिखा है कि—"हे अग्नि! दो स्थानों में तुम्हारा जन्म वा अभिव्यक्ति है। एक परम उत्कृष्ट स्थान है, दूसरा निकृष्ट स्थूल स्थान है, हम तुम्हारे दोनों स्थानों की स्तुति करते हैं। जिस "योनि"-जिस कारण-सत्ता से तुम उत्पन्न हुए हो, हम उसी का यज्ञ करेंगे †। इस स्थल पर बड़ी ही

अग्नि के दो रूप

---

* 'उत्' वयं तमसःपरि ज्योतिःपश्यन्त 'उत्तरम्,। देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज् ज्योति'रुत्तमम्,।--१।५०।१०। जो ज्योति पृथिवी का अन्धकार मिटाती है, वह "उत्" (सूर्य का स्थूल रूप) है। जो ज्योति देवताओं में देवता है, वह 'उत्तर, है। (यह सूर्य का सूक्ष्म रूप वा कारण सत्ता है)। अन्य जो सूर्य की 'उत्तम, ज्योति है, वह निरूपाधिक ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं। हम इस स्थल में यह भी पाते हैं कि, जिसको 'देवता' कहा जाता है, वह कारण सत्ता है, वह स्थूल रूप नहीं। यह मन्त्र छांदोग्य में भी मिलता है। छान्दोग्य में सूर्य मधुचक्र रूप से भी वर्णित हुआ है। वहां पर है कि; प्रकृत सूर्य- "ननिम्लोच, नोदियाय"--उदित नहीं होता, अस्त भी नहीं होता। पाठक देखें, सूर्य कहने से केवल जड़ वस्तु नहीं समझी जाती।

† "विधेम ते परमे जन्मन् अग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे। यस्मात् योनिरुदारिथा यजेतम्।--१।९।३। इसीलिये अनेक स्थानों पर अग्नि 'द्विजन्मा, कहा गया है।"

स्पष्ट भाषा में अग्नि मध्य गत ब्रह्मसत्ता की बात कह दी गई है। एक अन्य मन्त्र में भी इस विषय का उल्लेख है। "हे अग्नि! तुम्हारा जो एक अति निगूढ़ नाम है, उसको हम जान गये हैं। तुम जिस "उत्स" से जिस कारणसत्ता से—उद्भूत हुए हो हम उसे भी जान सके हैं †। अन्य प्रकार भी यह महातत्त्व उल्लिखित हुआ है। श्मशानाग्नि को सम्बोधन करके कहा गया है कि-"अग्नि का जो स्थूल अंश है,-अग्नि का जो अंश मृत शरीर के मांस का भक्षण करता है—वह अंश दूर रहे। इस अग्नि के ही भीतर जो एक अग्नि है वही अग्नि विश्व के यावत् पदार्थों का ज्ञाता है ‡। और वही अग्नि देवताओं के निकट यज्ञ को ले जाता है।

पाठक पढ़ रहे हैं, अत्यन्त स्पष्टरूप से अग्नि के दो स्वरूपों की बात लिखी मिलती है। जो अग्नि का सूक्ष्मरूप है, वह अग्निमें अनुस्यूत 'कारण-सत्ता' व्यतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होसकता। आशा है कि, हमारे विवेकी पाठक एक और प्रयोजनीय तात्पर्य को भी लक्ष्य बनावेंगे। वह तात्पर्य यह है कि देवताओं के उद्देश्य से जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ का उपास्य 'देवता' स्थूल भौतिक अग्न्यादि वस्तु नहीं, यह बात भी ऋग्वेद कौशल के साथ हमें बतला रहा है। हमने ऊपर सूर्यके सम्बन्ध में जो लिखा है, उससे विदित होगया कि जिस सूर्य को देवता कहते हैं, वह सूर्य कारण सत्तामात्र है, स्थूल भौतिक सूर्य नहीं। यहाँ भी कहा गया कि, अग्नि का जो सूक्ष्म रूप है वही देवताओंके समीप यज्ञीय हवि ले जाता है। हम इन बातों से यज्ञ का एवं यज्ञके देवताओं का गुप्त रहस्य स्पष्ट समझ जाते हैं। पाठक इस रहस्य को कभी न भूलें।

अब सोमदेवता की कथा कहेंगे। सोमके विषयमें इसभांति वर्णन मिलता है कि

---

† "विद्मानेनाम परमं गुहायत्। विद्मा "तमुत्संयत' आजगन्थ। १० । ४५ । २। यही नहीं, सकल जल जिस एक 'उत्स' वा कारणसत्ता से उत्पन्न हुए हैं, उसका भी ऋग्वेद में उल्लेख है। "परित्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्" । १० । ३० । ९१ । यह उत्स 'त्रितन्तु' कहा गया है।"

‡ क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु विप्रवाहः। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्। १० । १६ । ९। हम और भी देखते हैं कि-"हे अग्ने! इस स्थूल शरीर के व्यतीत तुम्हारा जो कल्याणमय शरीर है, तद्द्वारा इस मृत जीव को उन्नत स्वर्गलोक में ले जाओ,, । १० । १६ । ४ ईशोपनिषद् में भी इस प्रकार प्रार्थना देखिये "हे सूर्य! अपनी स्थूल किरणें सिकोड़ लीजिये। इन स्थूल किरणों के भीतर छिपी हुई तुम्हारी जो एक कल्याणमय मूर्ति है हम उसी मूर्ति का दर्शन करना चाहते हैं।

"सोमलता को निपीड़ित कर (कूटकर) जब उसका रस बाहर करके पान किया जाता है तब लोग मन में अवश्य ही विचारते हैं कि, सोम पी लिया गया। किन्तु मननशील महात्मा जानते हैं कि, जो यथार्थ में वास्तविक सोम है, उसे कोई पी नहीं सकता। पृथिवी का कोई भी मनुष्य प्रकृत सोमके पान करनेमें समर्थ नहीं होता"*। इस मन्त्रमें भी हम दो सोमों का उल्लेख पाते हैं। सोम का जो स्थूल अंश है उसी को लोग पीसते कूटते और पान करते हैं, किन्तु सोमका जो सूक्ष्म रूप है सोममध्यगत कारण-सत्ता, उसे कौन पान कर सकता है? इसी कारण अन्यत्र सोमके उद्देश्य से कहा गया है कि, "ध्रुव सत्य सोम की दो प्रकार की ज्योति है" †। एवं "अमृत के आधार स्वरूप सोम के दो अंश तेज द्वारा समाच्छादित रहते हैं" ‡। इन सब स्थलों में भी सोम के दो अंशों की चर्चा पाई जाती है। सोमका यह सूक्ष्मांश कारणसत्ताभिन्न अन्य कुछ नहीं, यह बात हम अल्प आयास से ही समझ जाते हैं। कारण सत्ता माने बिना ये सब उक्तियाँ कदापि संगत नहीं हो सकतीं——

सोम के दो रूप।

"हे सोम! तुम्हारे निगूढ़ और लोकलोचनों के अगोचर स्थान में तेंतीस देवता निवास करते हैं"। एवं "तुम्हारे इस सत्य स्थान में ही भक्तोंकी सब स्तुतियां केन्द्रीभूत होती हैं" ×। सोम यदि केवल स्थूल उद्भिद् लता ही है, तो उस सोम से क्योंकर कहा गया कि,—"हे सोम! तुम ही पृथ्वी के अव्यय "नाभिस्वरूप" हो एवं "तुम्हारे ही दिव्य रेत (वीर्य) से विश्व की तावत् प्रजा उत्पन्न हुई है" एवं तुम ही त्रिभुवन के एक मात्र "रेतोधा"-अर्थात् उत्पादक बीज हो" ×। इत्यादि कथन सोम में अनुप्रविष्ट कारणसत्ता को ही लक्ष्य करते हैं। इसके सिवा सोम के

---

* सोमं मन्यते पपिवान्यत्, संपिंषन्ति ओषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुः न तस्याश्नाति कश्चन।" न ते अश्नाति पार्थिवः। १०। ८५। ३-४।

† उभयत पवमानस्य (सोमस्य) रश्मयः ध्रुवस्य सतः परियन्ति केतवः। ९। ८६। ६

‡ द्विता व्यूर्ण्वन्नमृतस्य धाम, स्वर्विदे भुवनानि प्रथन्त ९। ९४। २

* तव त्ये सोम पवमान निण्ये विश्वेदेवास्त्रय एकादशासः ९। ९२। ४ तन्नु सत्यं पवमानस्य अस्तु यत्र विश्वे कारवः सन्नसन्त ९। ९२। ५

+ पवमानो अव्ययं नाभा पृथिव्याः ९। ८६। ८ तवेमाः प्रजाः दिव्यस्य रेतसः ९। ८६। २ रेतोधा इन्दो भुवनेषु अर्पितः ९। ८६। ३९ पिता देवानां जनिता ९। ८७। २ ये दो विशेषण भी कारणसत्ता का ही जय घोष कर रहे हैं।

एक 'तुरीय' स्थान की भी बात मिलती है * । एतावता हम वेद में सोम की कार्यावस्था, कारणावस्था, एवं कार्यकारणातीत तुरीयावस्था का उल्लेख बहुत ही स्पष्ट रीति पर पा रहे हैं।

इन्द्र के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। इन्द्र का एक स्थूल, दृश्यरूप है, एवं उसमें अनुप्रविष्ट दूसरा सूक्ष्मरूप कारणसत्ता है। यथा-"यत् शक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन्" ८। ६७। ४ अर्थात् हे इन्द्र! आप दो स्थानों में निवास करते हैं। एक निम्न स्थान दूसरा अति ऊर्ध्व स्थान है"। इसके द्वारा हम कारण-सत्ता ही तो पाते हैं? दूसरे स्थान पर यों लिखा है कि, हे इन्द्र! आपके दो शरीर हैं। एक शरीर अत्यन्त गोपनीय अति गुप्त है। यह गूढ़ शरीर अति प्रकाण्ड एवं विस्तृत स्थान को व्याप्त कर रहा है। इस शरीर के द्वारा ही आपने भूत, भविष्यत् सृष्टि की है एव इच्छानुसार ज्योतिर्मय पदार्थों को बनाया है" †। कारणसत्ता को लक्ष्य में रखकर ही पञ्चम मंडल में कहा गया है-"हम इन्द्र के परम निगूढ़ पद को जान सके हैं" ‡ इन्द्र के स्थूल रूप के अन्तराल में जो सूक्ष्म कारण सत्ता अनुस्यूत है, उसके लिये ही सब मन्त्रों में ऐसी वर्णना है कि, इन्द्र ने ही द्यावा पृथिवी की सृष्टि की है इन्द्र ने ही सूर्यके भीतर ज्योति निहित की है इन्द्रने ही गौ के स्तनोंमें दूध भर दिया है, इत्यादि। इन सब वाक्यों की संगति कारण सत्ता स्वीकार करने पर ही ठीक २ लग जाती है। नहीं तो जो लोग इन्द्र को केवल जड़मात्र भौतिक पदार्थ मान बैठते हैं वे किसी प्रकार भी इन श्रुतियों का सामञ्जस्य वा संगति नहीं दिखा सकते! सूर्य सोम और अग्नि की तीन अवस्थाओंका वर्णन जैसे ऋग्वेद में देखा

इन्द्र के दो रूप।

---

* ऋषिमनाय ऋषिकृत् स्वर्षाः सहस्रणीथः पदवीः कवीनाम्। तृतीयं धाम महिषः सिषासन् सोमोविराजमनु राजतिष्टुप् (९। ९६। १८) सोम का मन ऋषि है यानी सोम सब वस्तु जानता है सर्वज्ञ है। विद्वान् व्यक्ति की भूल को भी सोम जानता है सोम अपने तृतीयधाम में विराट् पुरुष का अनुगामी होकर दीप्तिमान् है। सोम का तुरीयधाम इस प्रकार कहा गयाहै. 'तुरीयं धाम महिषो विवक्ति (९। ९६। १९)

† दूरे तन्नाम (शरीरं) गुह्यं पराचैः।"'महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृक् येन भूतं जनयो येन भव्यम् प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं (१०। ५५। २) इन्द्र के इस गूढ़ शरीर को 'प्रत्नं ज्योतिः, एवं 'पुरुस्पृक्' कहा है। यह अति प्राचीन ज्योतिः स्वरूप है, एवं सब वस्तुओं को पकड़े हैं। पाठक देखें, यह कारणसत्ता ही है या नहीं?

‡ अवाचचक्षं पदमस्य सस्वरुग्रं निधातुरन्वायमिच्छन्। अपृच्छमन्यां उतनेमऽआहुः इन्द्रं नरो बुबुधाना अशेम (५। ३०। २)" 'बुबुधाना' अकृत रहस्यज्ञ यज्ञकारी ही इन्द्र के निज आधारभूत गूढ़ पद को जानते हैं। पाठक लक्ष्य करें।

जाता है, वैसे ही हम इन्द्र की भी तीन अवस्थाओं का वर्णन वेद में देखते हैं। अष्टम मंडल के ५२ सूक्तके ७वें मंत्रमें लिखा है-"इन्द्र अपने द्विविध जन्म या अभिव्यक्तिका परिपालन करता है। इसका सिवा आकाश में इन्द्र का एक 'तुरीय" पद है। यह पद "अमृतपद" है"* हम विष्णु के वर्णन में भी ऋग्वेद में, विष्णु के एक परमपद का उल्लेख देखते हैं। विष्णु के तीन स्थूल पद आकाश अन्तरिक्ष और भू को व्याप्त किये हैं। किन्तु विष्णु का जो गूढ़ अमृतपद है उसे कोई देख नहीं पाता। वह मधु-

विष्णु के दो रूप।

पूर्ण है। † इस वर्णन द्वारा इन्द्र और विष्णु दोनों की ही कार्यावस्था, कारणावस्था एवं कार्य कारणातीत अवस्था या 'तुरीय' स्वरूप की बात अत्यन्त सुस्पष्ट रूप से निर्देशित हुई है। बिना समझे ही कई लोग कह डालते हैं कि ऋग्वेद तो खाली भौतिक जड़ पदार्थों के प्रति विस्मय सूचक स्तुतियोंकी पोथी है! हम ऋग्वेद में वायु के भी दो रूप पाते हैं। यहां भी स्थूल वायु एवं वायु की अन्तर्गत सत्ता का तत्व ही ग्रात हो जाता है। कारण सत्ता की बात किस भांति कही गई है, सो पाठक देखें। "वायु दो प्रकार का है। एक वायु सागर से बहकर आता है दूसरा वायु बहुतही दूरके स्थानसे आता है। पहला सामर्थ्य प्रदान करे और दूसरा पाप नाश करे" ‡। जो वायु पाप नाशक कहा गया है, वह निश्चय ही ब्रह्म-

वायु के दो रूप।

सत्ता व्यतीत कोई जड़ वस्तु नहीं होसकता। इसलिये हम स्थूल वायु की मध्यगत कारणसत्ता का ही अटल बोध करते हैं। यह सूक्ष्म वायु ऋग्वेद में "मातरिश्वा" नाम से वर्णित हुआ है। मातरिश्वा-सब क्रियाओं की बीज शक्ति है। इसीसे सबसे पहिले जड़ीय वायु अभिव्यक्त होता है। प्रथम मण्डल के १६८ सूक्तमें भी पवन के दो रूपों का उल्लेख है। "यह पृथिव्यादि सब महान् लोक हैं,

---

* "उभे निपासि जन्मनी। तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रिय मातस्थावमृतं दिवि। ८।५२।७ ५१ सूक्त के ४ र्थ मन्त्र में कहा गया है, "इन्द्र के निगूढ़ उत्तम पदको लक्ष्य कर ही त्रिधातुविशिष्ट स्तुति का याज्ञिक उच्चारण करते हैं। उस इन्द्र ने ही त्रिभुवन को उत्पन्न किया है एवं इन्द्र का यही परमबल है"। बड़ी चतुरता से यहां "ज्ञानयज्ञ" की बात भी कहदी गई है। [त्रिधातु स्तुति का अर्थ क्या है? कार्य, कारण एवं कार्य कारणातीत अवस्था सूचक स्तुति ही क्या नहीं?]

† "त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः" ।"तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम् (१।२२।१८, २१) 'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः' १।१५४।५ जो विद्वान् जागरणशील मननपरायण साधक हैं, केवल उनको ही विष्णु के परमपद का दर्शन होता है। सुतरां विष्णु की भी दो अवस्थाएं वर्णित हुई हैं। एक स्थूल कार्यात्मक अवस्था है दूसरी सूक्ष्म कारणात्मक अवस्था है।

‡ द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरापरावतः। दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः॥ १०।१३७।२। मरुत् का बल दो प्रकार का है "द्वितावसः" ।१३७।९

–इनके उस पार से क्या वायु आया है ? नहीं, अवर वा स्थूल प्रदेश से वायु आया है ? * इस भाँति के प्रश्न द्वारा भी हम स्थूल और सूक्ष्म वायु की बात पाते हैं। स्थूल वायु में अनुप्रविष्ट कारण–सत्ता ही सूक्ष्म वायु है। इसी वायु को लक्ष्य करके अष्टम मण्डल के ६४ सूक्त में लिखा है कि–"वायु के क्रोड़ में सब देवता निज निज कार्य किया करते हैं" †। एवं इस वायु को कहा गया है कि–"मरुद्गण ने समस्त पार्थिव वस्तुओं को एवं आकाश के ज्योतिष्मान् पदार्थों को विस्तारित कियाहै" ‡। मरुद्गणका 'त्रिपधस्थ, शब्दसे भी निर्देश है। कार्यात्मक, कारणात्मक एवं कार्य कारण की अतीत अवस्था–इन तीन अवस्थाओं को ध्यान में रख कर ही वायु को 'त्रिपधस्थ, कहा गया है। इसी लिये तो" कोई मरुद्गण का जन्म नहीं जानता। मरुद्गण स्वयं ही अपने जन्म को जानते हैं। धीर, विद्वान् सज्जन ही मरुद्गण के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं" +। इस कारणसत्ता को लक्ष्य करके ही मरुद्गणको "सनाभय" कहा गया है ×। सकल मरुद्गणोंको एक ही नाभि वा आश्रय है। अरियां जैसे रथ चक्र की नाभि में आश्रित रहती हैं उसी प्रकार मरुत् भी एक कारण सत्ता का आश्रय कर रहे हैं। "हे वायु ! तुम्हारेघर में अमृत का कोश निहित है" ÷। यह अमृत की निधि–कारणसत्ता नहीं तो क्या है ?। इसी प्रकार ऋग्वेद में हम आकाश भी दो पाते हैं। उपनिषदों में दो प्रकार के आकाश की बात आकाशके दो रूप। मिलती है। एक भूताकाश है दूसरा परम व्योम है। महाकाश में प्राणशक्ति की क्रिया प्रकट होने पर, उस क्रिया शक्ति से विशिष्टरूप में जो आकाश है, वही भौतिक आकाश है। किन्तु इस भौतिक आकाशके भीतर एक और आकाश है उसको परम व्योम कहते हैं। उपनिषदोंमें इस परम व्योम वा महाकाशका,–नाम

* क्वस्विदस्य रजसो महस्परं क्वावरं मरुतो यस्मिन्नायय ॥१। १६८। ६।

† यस्या देवा उपस्थे व्रता विश्वा धारयन्ते (८। ९४। २)

‡ आये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् रोचना दिवः। ८। ९४। ९ " त्रिपधस्थस्य जावतः ,, ८। ९४। ५।

+ न किर्ह्येषाम् जनूंषि वेद्ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम्। ७। ५६। २ [एतानि धीरो निण्ये चिकेत ७। ५६। ४

× रथानां न ये अराः सनाभयः १०। ७८। ४ दशम मंडल में सब जलों को भी सयोनिः कहा है—अर्थात् जल एक कारण सत्ता (योनि) से उत्पन्न हुए हैं। १०। ३०। १०।

÷ यददो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः। १०। १८६। ३।

"पुराणं खम्" है। और भौतिक आकाशका नाम है,"-वायुं खम्"। ऋग्वेदमें हम जैसे द्यौः शब्द देखते हैं, वैसे ही 'परम व्योम शब्द भी देखते हैं। द्यौः भौतिक आकाश है और परम व्योम ही महाकाश है। इस परम व्योम में ही मातरिश्वा या प्राणशक्ति का प्रथम विकाश होता है *।

सभी देवताओं के दो रूप हैं।

इस भांति हम प्रत्येक देवता का ही एक कार्यात्मक रूप तथा एक कारणात्मक रूप ऋग्वेद में उल्लिखित देखते हैं। इसीलिये सब देवता "द्विजन्मा" "द्विजन्मानो ये ऋतशापः सत्याः ६।५०।२ कहे गये हैं। एवं हम यह भी पाते हैं कि-"अग्नि ही देवताओं की गुप्त जन्म कथा जानते हैं" और "सूर्य ही-देवताओं की निगूढ़ जन्म कथा से परिचित हैं"। एवं सभी देवताओं का एक गूढ़ नाम है, इस बात को सोम ही जानता है" †। "वरुण-उपयुक्त साधक को एक परम गूढ़ पद की बात बता चुके हैं" ‡।

*(इन्द्रः) परमे व्योमन् अधारयत् रोदसी।१।६२।७। सजायमानः परमे व्योमन् आविरग्निरभवत् मातरिश्वने १।१४३।२। ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवो अधिविश्वे निषेदुः (१।१६४।३९) इत्यादि। यह भी है कि, इस भूलोक और द्युलोक के ऊपर भी एक जन है, जो इनको धारण कर रहा है। " नेतावदेना परो अन्यो अस्ति उक्षास द्यावा-पृथिवी बिभर्ति" (१०।३१।८)

† अश्विनीकुमारों के भी स्थूलरूप और कारणरूप एवं कार्यकारणातीत रूप का उल्लेख है। एवं यह भी है कि अश्विद्वय के दृश्य रूप के व्यतीत भी एक निगूढ़ रूप है। "त्रीणि पदानि अश्विनोः आविः सन्ति गुहा परः" (८।८।२३)। वरुण का एक परम स्थान या पद एवं एक निम्न पद का भी उल्लेख है (८।४१।४) ऊषा भी 'द्विवर्हा' है (५।८०।४) रुद्र भी-"द्विवर्हा (१।११४।१०)। जल भी द्विविध है"। "जो जल इस लोक व उस लोक में गमन करता है, उसे प्रेरित करो ऐसी तरंग प्रेरित करो जिसकी उत्पत्ति आकाश में है एवं जो 'त्रितन्तु' उत्स के प्रति उठ जाता है"। "प्रहेत य ऊर्मिमीर्यति।...नभोजाँ परि 'त्रितन्तु' विचरन्तमुत्सम्" (१०।३०।६) त्रितन्तु उत्स=सत्व-रज-तम,-यह त्रिगुणात्मक कारणसत्ता नहीं क्या? जल को 'भुवनस्य जनित्री' भी कहा गया है।

‡ वेद यस्त्रीणि विदथानि एषां देवानां जन्म।६।५१।२। अग्निर्जाता (जन्म) देवानां.....अपीच्यम्।८।३९।६। देवो देवानां गुह्यानि नाम आविष्कृणोति ९।९५।२ विद्वान् यदस्य गुह्यानवोचत्।७।८७।४। वरुण के सम्बन्ध में भी यह बात है कि—वरुण, दर्शनीय पद एवं प्राचीन पद दोनों जानते हैं।(८।४१।४)

(च)। हम और अधिक उद्धृत करने की इच्छा नहीं करते। उपर्युक्त प्रमाणों से यह भली भांति जान लिया गया कि प्रत्येक देवता के भीतर एक विशाल कारणसत्ता व ब्रह्मसत्ता अनुप्रविष्ट हो रही है और इस कारणसत्ता का बोध कराने के लिये ही ऋग्वेद में देवताओं के दो रूप वर्णित हुए हैं। सूर्यादि देवतागण यदि परिच्छिन्न भौतिक जड़ पदार्थ मात्र ही होते, तो हम ऋग्वेद में देवताओं के दो रूपों की चर्चा न पाते। हमने ऊपर जो प्रणाली दिखाई है, तदनुसार ही ऋग्वेद ने कारणसत्ता का तत्व बता दिया है। प्रायः प्रत्येक सूक्त में प्रत्येक देवता का एक 'गूढ़ पद, बताया गया है। कहीं कहा गया है कि अग्नि प्रभृति देवताओं का एक गूढ़ पद है *। देवताओं के इस गूढ़ पद वा नाम का तात्पर्य क्या है? गूढ़ पद से श्रुति का अभीष्ट देवताओं में अनुप्रविष्ट कारणसत्ता ही है। सब देवताओं में अनुप्रविष्ट यह कारणसत्ता शक्ति स्वरूप-बल-स्वरूप है, सो हम पहिले ही देख आये हैं। देवता जब कम्पनस्वरूप, बल-स्वरूप, शक्ति स्वरूप कहे गये हैं, तब देवता जिस कारणसत्ता के विकाश हैं, वह कारण सत्ता भी अवश्य ही शक्तिस्वरूपा बलस्वरूपा है। देवताओं की उत्पत्ति सम्बन्ध में दशम मण्डल में कुछ ऐसी ऋचायें हैं; जिनको देखने से अनायास ही जाना जा सकता है कि देवताओं में अनुप्रविष्ट कारणसत्ता बलस्वरूप है। हम अति संक्षेप से उन ऋचाओं का भावार्थ लिखकर अपने मन्तव्य को पूर्णतया सुदृढ कर देंगे।

६। प्रत्येक देवता का एक 'गूढ़ पद, है। इस गूढ़ पद द्वारा देवताओं का मौलिक एकत्व सूचित हुआ है।

२१। १० म मण्डल के ७२ वें सूक्त में लिखा है—देवताओं की उत्पत्ति से पूर्व असत् से सत् उत्पन्न हुआ था। असत् सेही जगत्में असंख्य नामों और रूपों की अभिव्यक्ति हुई है 'असत्, था, इस का अभिप्राय यह कि, सृष्टिके पहले सब नामरूप इसरूपमें नहींथे। ये बीजाकार में थे। नाम-रूपोंकी अव्यक्त अवस्थाका ही नाम 'असत्, है †। यह अव्यक्तावस्था ही जगत् का पूर्व-रूप है। इसीसे विश्व व्यक्त-प्रकट

७ देवताओं की उत्पत्ति प्रणाली। इसके द्वारा भी देवताओं का मौलिक एकत्व प्रदर्शित हुआ है।

---

* सब देवताओं के गूढ़ पद और गूढ़ नाम के सम्बन्ध में प्रधानतः ये सब स्थल दृष्टव्य हैं। यथाः—१। ६५। १; १। ७२। २; ४। ७। ६; ५। ११। ६; ५। १५। ५; ५। ४३। १४; ८। ८०। ९; ३। ६। ४; ९। ९५। २; ५। ३०। २; प्रभृति।

† श्रीशङ्कराचार्य और श्री सायणाचार्य दोनों भाष्यकारों का यह एक ही सिद्धान्त है। इस ग्रन्थके द्वितीय खंड की अवतरणिका में "सृष्टितत्व" देखिये। वहां पर ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त, की व्याख्या कर के सृष्टिका मूल बताया गया है "नाम-रूप रहितत्वेन असत् शब्द वाच्यं 'सत्, एव अवस्थितं परमात्मतत्वम्" तैत्तिरीय ब्राह्मण, २। १। ६। १॥

हुआ है । किस प्रकार विश्व व्यक्त हुआ?महाकाशमें जगत्की बीज-शक्ति स्वरूपिणी 'अदिति, उपस्थित हुई । अदितिसे दक्ष,दक्षसे अदिति उत्पन्न हुई । शक्तिके सर्व प्रकार विकाश के-अवस्थानन्तर के साथ २ चैतन्य वर्तमान है । मूलमें जो एक मात्र पूर्ण चैतन्य सत्ता है, वही अदिति रूप से आविर्भूत हुई । सुतरां, इस चैतन्य को ध्यानमें रखने के उद्देश्य से ही अदिति के साथ 'दक्ष, की बात कही गई है । इस अदितिं के पश्चात् देवताओं की उत्पत्ति है । "तां देवा अनु अजायन्त"। सभी देवताओं में अदिति-शक्ति अनुप्रविष्ट है । देवता नृत्य करने लगे और उनके द्वारा त्रिभुवन पूर्ण हो गए । जब इन्होंने जलके * ऊपर नृत्य आरम्भ किया, तब विपुल रेणु-राशि उठ खड़ी हुई । देवताओं के नृत्य का अर्थ स्पन्दन समझना चाहिये । उपनिषदों के सृष्टि तत्व की आलोचना में हमने देखा है कि शक्ति का एक अंश † तेज, आलोकादि के आकार से विकीर्ण होता रहता है एवं उसका दूसरा अंश ‡ साथ ही साथ घनीभूत होते ૪ प्रथम स्थूल जलीय आकार, पश्चात् कठिन पृथिवी के आकार में अभिव्यक्त होता है । स्थूलाकार में शक्ति के विकाशित होने की यही प्रणाली है । उक्त बात समझाने के लिये कहा गया है कि देवतावर्ग जलके गर्भ में स्थित थे × । देवता जल में स्पन्दित होने लगे, तब सूर्यका प्रकाश हुआ एवं (जलके भी घनीभूत

---

* यहां पर जल वा समुद्र का अर्थ है-सृष्टि की आदि में अभिव्यक्त असीम लघु वाष्प राशि वा आधुनिक विज्ञानका (Mass of diesipated nebulous matter.

† एक अंश-आधुनिक विज्ञान का Motion है (यही ऋग्वेद का 'इन्द्र, वा सूक्ष्म अग्नि है) ।

‡ दूसरा अंश mattor है [इसीसे कहा गया है कि, 'सोम, जल द्वारा एवं अन्न द्वारा (पृथिवी-काठिन्य] स्वपद को तृप्त करता है, "पयसा पिन्वदक्षिता" "स्वधया पिन्वते पदम्" (६ । ६८ । ३, ४)

× तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।, अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः-१० । ८१ । ६ । [यह जल-सृष्टि की आदि में व्यक्त लघु तरल वाष्पराशि (Nebulous matter) है । ऋग्वेदमें यह 'समुद्र, नाम से परिचित है] "आकाशस्थ इस समुद्र में (नीहारिकापुञ्ज में) सूर्य गूढ़रूप से निहित था, नृत्य करते करते देवताओंने सूर्यको प्रकाशित कर दिया" अत्रो वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ।...."अत्रा समुद्र आगूढ़मासूर्य मजभर्त्तन"

होते २) रेणुराशि (पृथिवी के अणु) प्रादुर्भूत हुए। इस प्रकार अदिति के शरीर से अदिति के आठ पुत्र (देवता) उत्पन्न होगये। देवताओं की उत्पत्ति के इस विवरण से हम समझते हैं कि, देवता सभी वल स्वरूप, शक्तिस्वरूप हैं, ८३ एवं ८४

"मन्यु,, की वर्णना मौलिक शक्ति को ही सूचित करती हैं।

सूक्त देखने पर भी यह तत्व अनिवार्य रूप से हृदयंगम होजाता है। इन दो सूक्तों में हम 'मन्यु, का वर्णन पाते हैं, आज कल हम लोग'मन्यु,शब्दसे क्रोध नामक मानसिक वृत्ति वा वल समझते हैं,किन्तु ऋग्वेदमें मन्यु शब्द भिन्न अर्थमें व्यवहृत हुआहै,विश्वव्यापक ओज या वलका नाम ही ऋग्वेदका'मन्यु'है*सभी देवता इस मन्यु वा वलसे उत्पन्न हुए हैं देवता इस वलके आश्रयमें ही क्रियाशील हैं।'मन्यु ही इन्द्र है,मन्यु ही वरुण है,मन्यु ही अग्नि है, मन्यु ही देवता है। मन्यु ही वृत्रनिधनकारी, शत्रुसंहारकारी है। मन्यु के तेजका पराभव कोई नहीं कर सकता, मन्यु स्वयम्भू है। मन्यु ज्ञान-स्वरूप है मन्यु मधुमय है। मन्यु एक है, सभी मन्यु की स्तुति करते रहते हैं। हम मन्यु के

इत्यादि (१० । ७२ । ६-७) प्रथममण्डल के १०५ सूक्त के प्रथम मंत्र में हम देखते हैं कि,--"चन्द्रमा जल के भीतर होकर इन रश्मि विस्तार करता है" (चन्द्रमा अप्सु अन्तरा सुपर्णो धावते दिवि") यास्काचार्य, इस सूक्त को ही ११ वें मन्त्र की व्याख्या में 'अप्, शब्द का अर्थ-"अन्तरिक्षस्थ जल" करते हैं। सुतरां हम देखते हैं कि ऋग्वेद के मतमें, सृष्टि के प्रथम अभिव्यक्त आकाशस्थ असीम तरल वाष्पराशि,-घूर्णित होते २ पहले जैसे एक अंशसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि ज्योतिष्क पदार्थ उत्पन्न हुये, वैसे ही दूसरे अंशके घनीभूत होने पर स्थूल जल व पृथिवी और क्रमसे पृथिवीस्थ ओषधि प्रभृति की उत्पत्ति हुई है। ऋग्वेद का यह सृष्टि-तत्व आधुनिक विज्ञान के भी नितान्त अनुगत है, पाठक अवश्य ही, यह बात समझते हैं। इसी लिये १। ७६। ३ मन्त्र में लिखा है,-"अग्नि ने' जिस समय जल द्वारा अन्तरिक्ष को पूर्ण किया, उसी समय मित्र, अर्यमा, वरुणादि देवताओं ने अन्तरिक्ष में जलका आच्छादन खोल दिया"। अभिप्राय यह कि,सभी देवता-सभी कार्यवर्ग-इस(Nebulous matter)से ही क्रमशः व्यक्त हुये हैं। भीतर घुसकर इन सब रहस्यों को जाने विना ऋग्वेद के इन सब मंत्रों की अनेक अयोग्य व्याख्याएं होने लगी हैं !!!

*"सहः ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्...त्वया...सहस्कृतेन सहसा सहस्वता" मन्यु स्वयं वल-स्वरूप, वलद्वारा निर्मित एवं वल-विशिष्ट है। १० । ६३ । १ । ७३ सूक्तके दशम मन्त्रमें कहा गया है कि, इन्द्र ही वलकी पहली अभिव्यक्ति है। इस इन्द्र वल से उत्पन्न मन्यु से उत्पन्न है। "ओजसो जातं...मन्योरियाय"।

प्रिय नाम का उच्चारण करते हैं। मन्यु जिस मूल-कारण से जन्मा है, हम उस कारण (उत्स)को जान गए हैं"। हम पहिले देख आए हैं कि, इन्द्र,सूर्य, सोम प्रभृति सभी देवता बल-स्वरूप हैं, प्राण-स्वरूप हैं, स्पन्दन स्वरूप हैं, शक्ति-स्वरूप हैं। अब देखते हैं कि देवताओं की मूलसत्ता व कारणसत्ता भी बलस्वरूप शक्तिस्वरूप है "सभी देवता ज्ञान और शक्ति द्वारा अग्नि के उत्पादक हैं" *। इसलिये सब देवता ही शक्ति-स्वरूप में, ज्ञान-स्वरूप सिद्ध होजाते हैं।

८। प्रत्येक देवतामें ही अन्य देवता आश्रित हैं। इससे भी देवताओं का मौलिक एकत्व सूचित हुआ है।

२२। अग्न्यादि देवतावर्ग कोई जड़ पदार्थ नहीं हैं, अग्नि आदि देवता कारण सत्ता व्यतीत अन्य कोई वस्तु नहीं हैं, यह सिद्धान्त सुदृढ करने के लिये ऋग्वेदमें एक और प्रणाली अवलम्बित हुई है। हम पाठकगणोंको वह प्रणाली भी दिखा देंगे। ऋग्वेदके अनेक मन्त्रों में ऐसा देखा जाता है कि, जभी उन स्थलों पर किसी देवता का उल्लेख किया गया है तभी ऐसी बात कही गई है कि, अन्यान्य देवता उस देवता को ही धारणा करते हैं, उस देवता का ही व्रत पालन करते हैं, उस देवता की ही स्तुति करते हैं। वैदिक महर्षियों के चित्त में यदि अग्नि आदि देवताओं को 'कारण-सत्ता या ब्रह्मस्वरूप' मानने का बोध न होता, तो हम ऋग्वेद में ऐसी उक्तियां देखने को न पाते। यदि अग्नि कोई स्वतन्त्र जड़ पदार्थ ही है, तो फिर यह बताना पड़ेगा कि-अन्यान्य देवता किस प्रकार अपने में उस अग्नि को धारणा करते हैं, किस प्रकार देवता उस अग्नि का व्रत व कार्य पालन करते हैं, और क्यों उस जड़ अग्नि की स्तुति करते हैं ? इन प्रश्नों का समाधान नहीं मिल सकने से अनिवार्य रूपेण यही मानना पड़ता है कि, अग्नि प्रभृति देवताओं में जो कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है, वही स्तुति-पात्र है, क्योंकि वही ब्रह्मसत्ता है। आगे हम कुछ मन्त्र लिखकर बताते हैं—

"देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्"

अग्निं देवासो अग्रियमिन्धते। ६। १६। ४८।

त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवाः अभिसंनवन्ते।

(६। ७। ४)

* क्रत्वा दक्षस्य(बलस्य कर्मणा)...देवासो अग्निं जनयन्त चित्तिभिः (ज्ञानैः) ३। २। ३ अग्नि स्वयं भी बलस्वरूप एवं ज्ञान-स्वरूप-"सुदक्षो दक्षैः क्रतुना सुक्रतुः अग्ने कविः काव्येन असि विश्ववित्" । १०। ९१। ३।

त्वयाहि अग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः।
यत्सीमनु क्रतुना विश्वथा विभुः अरान्ननेमिः परिभूरजायथाः।
(१।१४१।९)

त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुहः।२।१।१४।
तव श्रिया सुदृशो देव देवाः।५।३।४
अग्ने नेमिररां इव देवांस्त्वं परिभूरसि।५।१३ : ६।
ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशयेकं मनोजविष्ठं पतयत्सु अन्तः।
विश्वेदेवाः समनसः सकेताऽ एकं क्रतुमभिवियन्तिसाधु॥
(६।९।५)

सविता, मित्र, वरुण प्रभृति देवता धन प्रदाता अग्नि को धारण कर रहे हैं। रथ-चक्र की अरियां को जैसे नेमि व्याप्त किए है। हे अग्नि! तुम भी वैसे सबको सर्वतोभाव से व्याप्त कर रहे हो। तुम्हारे साहाय्य से वरुण स्वीय व्रत धारण करते हैं, मित्र अन्धकार नाश करते हैं, एवं अर्यमा मनुष्य की कामनाओं की सामग्री प्रदान करते हैं। सब देवता अग्नि का ही याग करते हैं अग्नि में ही होम करते हैं। प्रथमाभिव्यक्त अग्नि को सब देवता नमस्कार करते हैं। हे अग्नि! अन्य सब अमर देव वर्ग तुम में ही अवस्थित हो रहे हैं, सभी देवता तुम्हारे आश्रित हैं। हे अग्नि! तुम्हारा ही ऐश्वर्य देवताओं का ऐश्वर्य है। देवता अग्नि में प्रविष्ट होकर निवास करते हैं॥ प्राणियों के हृदय में अग्नि अचल ध्रुव ज्योति रूप से प्रविष्ट है। सब इन्द्रियाँ इस नित्य अग्नि के समीप ही विविध विज्ञानरूप उपहार प्रदान करती हैं। सभी इन्द्रियां इस अग्नि की क्रिया का अनुवर्त्तन करती हैं*॥ पाठक गण विवेचना कर देखें. इन स्थलों में 'अग्नि' शब्द द्वारा सब देवताओं में अनुस्यूत 'कारणसत्ता' ही जान पड़ती है॥ कारण सत्ता माने विना, देवता अग्नि को धारण किये हैं—इस उक्ति का कोई अर्थ नहीं बनता॥ "ध्रुवं ज्योतिः" मन्त्र में अग्नि स्पष्ट ब्रह्मसत्ता रूप से वर्णित है॥

अग्नि।

* कठोपनिषद् में आत्मा के सम्बन्ध में ठीक ऐसी ही बात देखिये, "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते" २।५।३। हृदय पुण्डरीकाकाशे आसीनं बुद्धावभिव्यक्तं .... सर्वे देवाश्चक्षुरादयः रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानं .... तदर्थ्यन अनुपरत-व्यापारा भवन्तीत्यर्थः, शङ्करभाष्य)। पाठक पढ़ें, ऋग्वेद में अग्नि का वर्णन भी ऐसा ही है। अन्य स्थान में भी ऐसी बात है 'क्रतुं दक्षस्य मनसो जुनन्ति' ७।१।४। [क्रतु = ज्ञान एवं शक्ति]।

*। मरुत् नामक देवता के विषय में सुनिये—

यस्या देवा उपस्थे व्रता विश्वे धारयन्ते । ८ । ९४ । २ ।

आत्मा देवानां वरुणस्य गर्भः । १० । १६८ । ४ ।

मरुत् की गोद में आश्रित रहकर, देवतावर्ग निज २ व्रत वा क्रिया निर्वाह

मरुत् । करते हैं। पाठक सोच लें, मरुत् का अनुभव यहाँ पर कारण-सत्ता रूप से हो रहा है। इसी लिये इन्द्र को 'मरुत्वान्' रुद्र को मरुत्वान्, कहा गया है। और इसी उद्देश्य से वायु को दूसरे मन्त्र में देवताओं का आत्मा माना है। वरुण के लिये लिखा है—

वरुणस्य पुरः""विश्वे देवा अनुव्रतम् । ८ । ४१ । ७ ।

न वां देवा अमृत आमिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि
५ । ६९ । ४ ।

यस्मिन् विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिवश्रिता । ८ । ४१ । ६ ।

वरुण के ही सन्मुख सब देवता निज २ क्रिया सम्पादन करते हैं। हे मित्रा-

वरुण । वरुण ! कोई भी देवता तुम्हारे कर्मों का परिमाण नहीं कर सकता। रथचक्र की नाभि में जैसे अरियां ग्रथित रहता हैं, वैसे ही वरुण में त्रिभुवन ग्रथित है। इन स्थानोंमें 'वरुण, शब्द कारण सत्ता को ही लक्ष्य करता है। सविता पर भी ऐसी ही उक्तियां मिलती हैं।

न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ।
२ । ३८ । ९

यस्यप्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवाः । ५ । ८१ । ३ ।

अभि यं देवी अदितिर्गृणाति सवं देवस्य सवितुर्जुषाणा ।
अभिसम्राजो वरुणो गृणन्ति अभिमित्रासो अर्यमा सजोषाः॥
७ । ३८ । ४ ।

तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम् । ५ । ६२ । १

---

* और यह भी है-"तमग्निये मरुतो मर्जयन्तः । ५ । ३ । २ । अग्नि के ही आश्रयार्थ मरुद्गण अन्तरिक्ष का मार्जन करते हैं यह भी देखते हैं कि,-अग्नि ही देवताओं का जन्म जानता है । ८ । ३९ । ६ । सर्वत्र ही अग्नि शब्द द्वारा कारणसत्ता निर्देशित हुई है,, ।

चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
देवानामजनिष्ट चक्षुः। ७। ७६। १।

इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा और रुद्र कोई भी सविता के व्रत वा कर्म का

सविता। परिमाण नहीं कर सकता। सूर्य की गति के ही अनुगत होकर अन्यान्य देवता गमन करते रहते हैं। सूर्य की गतिसे पृथक् स्वतन्त्ररूप से किसी भी देवता का गमन सिद्ध नहीं होता। सविता द्वारा प्रेरित होकर ही अदिति, वरुण मित्र, अर्यमा प्रभृति देवतावर्ग सविता की स्तुति किया करते हैं। वह एक सूर्य सब देवताओं में श्रेष्ठ है सविता मित्रादि देवों का चक्षु है। इत्यादि सब स्थानों में सविता शब्द कारण-सत्ता का ही बोधक है*। सोम शब्द भी कारण सत्ता का निर्देश करता है। पाठक दो चार मन्त्र देखलें—

सोम। अस्य व्रते सजोषसो विश्वेदेवासो अद्रुहः। ९। १०२। ५।
विश्वस्य उत क्षितयो हस्ते अस्य। ९। ८६। ६।
विश्वा संपश्यन् भुवनानि विचक्षसे। १०। २५। ६।
तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे। ९। ६२। २७।
जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः जनिता अग्नेः।
जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनिता विष्णोः। ९, ९६। ५।
पिता देवानाम्। ९। १०९। ४, ९। ८७। २।

सोम के ही व्रत वा कर्म में अन्य देव अवस्थित हैं। विश्व के सभी प्राणी सोम के हाथ में हैं, सोम ही त्रिभुवन का वहन करता है, यह विश्व सोम की ही महिमा में स्थित है। सोम सब देवताओं का जनक है। इन सभी स्थलों में सोम—कारण-सत्ता है।

तव त्ये सोम पवमान निण्ये।
विश्वे देवास्त्रय एकादशासः। ९। ९२। ४॥
देवो देवानां गुह्यानि नाम आविष्कृणोति। ९। ९५। २।

हे सोम! तेंतीस संख्यक देवतावर्ग सभी तुम में ही-तुम्हारे ही भीतर अव-

* और लिखा है कि, सविता ही देवताओंके जन्म का तत्व जानते हैं। "वेद यः देवानां जन्म" ६। ५१। २। "प्राणवंत् देवाः सविता जगत्" । १। १५७। ११।

स्थित हैं। सोम ही समस्त देवताओं का जो गूढ़ नाम है, उसे प्रकाशित करता है। इन्द्र को लक्ष्य करके जो कुछ कहा गया है, सो भी यही तत्व है।

इन्द्र। विश्वेत इन्द्र वीर्यं देवा अनुक्रतुं ददुः। ८। ६२। ७

न यस्य देवा देवता न मर्त्या आपश्चन शवसो अन्तमापुः।
। १। १००। १५

यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः। १। १०१। ३

त्वां विष्णु र्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः।

त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम्। ८। १५। ९

यमिन्द्रो अधूनुत संक्षोणी समु सूर्यम्। ८। ५२। १०

हे इन्द्र! तुम्हारी ही प्रज्ञा एवं बल का अनुसरण कर, अन्य समस्त देवता प्रज्ञावान् एवं बलवान् हैं॥ देवताओंमें कोई भी इन्द्रके बलका अन्त नहीं पाता। वरुण और सूर्य प्रभृति देवतावर्ग इन्द्र के ही व्रत या कर्म में अवस्थित हैं; अर्थात् इन्द्र के ही कर्म का अनुसरण कर, सूर्य वरुणादि देवगण निज निज क्रिया करते रहते हैं *। विष्णु, मित्र वरुण और मरुत् प्रभृति देववर्ग, हे इन्द्र! तुम्हारी स्तुति किया करते हैं इन्द्र ही द्यावा-पृथ्वी को अपने कार्य में प्रेरण करते हैं एवं इन्द्र ही सूर्य की प्रेरणा करते हैं॥ इन्द्र में विश्वग्रथित है "अरान्न नेमिः परिता बभूव"। १। ३२। १५।

विष्णु के विषय में लिखा है कि—

विष्णु। जनयन्ता सूर्य मुषासमग्निम्। ७। ९९। ४

नते विष्णो जायमानो न जातो

देव महिम्नः परमन्तमाप। ७। ९९। २

विष्णु ने ही—सूर्य, ऊषा, एवं अग्नि को उत्पन्न किया है। हे विष्णो! कोई मनुष्य हो वा देवता हो—तुम्हारी महिमा का अन्त पाता नहीं। अश्विनीकुमारों को लक्ष्य कर कहा गया है कि,

अश्वि-द्वय। युवमग्निञ्च वृषणावपश्च वनस्पतींरश्विनावैरयेथाम्।
१। १५७। ५।

* देवताओं में जो सामर्थ्य है, उसे इन्द्र ने ही देवताओं में रक्खा है। "यद्देवेषु धारयथा असुर्यम् (बलम्)—६। ३६। १।

युवं ह गर्भं जगतीषु धत्थो युवं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ॥

अश्विनी कुमार ही अग्निको उसके काम में लगाते हैं। अश्विनीकुमार ही-इस जगत् के गर्भस्वरूप (कारण-बीज) हैं, एवं विश्व भर में टिके हुए हैं ॥

*। पाठक ! अग्नि, सोम, इन्द्र, विष्णु, सविता, अश्विद्वय सम्बन्ध में ऊपर जो उक्तियां उद्धृत की गईं, वे निश्चय ही देवताओं में अनुस्यूत ब्रह्म-सत्ता को लक्ष्य करती हैं अन्यथा सारी उक्तियां निरर्थक हो पड़ेंगी। फिर हम नाना स्थानोंमें ऐसी भी उक्तियां पाते हैं कि,-अग्नि सब देवताओं का समष्टि-स्वरूप है, सूर्य भी सब देवों का समष्टि स्वरूप है, ऊषा भी आदित्यगण का समष्टि-स्वरूप है एवं देवताओं की माता हैं।

त्वमदिते सर्वताता (१। ९४। १५)-, स नो यक्षत् देवताता, यजीयान् (१०। ८३। १), स्तोमेन हि देवासो अग्निमजीजनत् शक्तिभिः (१०। ८८। १०) †।

इन स्थलों में अग्नि देवताओं का समष्टिस्वरूप कथित हुआ है सूर्य भी देवताओं का समष्टिरूप है सो भी देखिये,

इदमुत्यन्महि महामनीकम् (४। ५। ९),--

सूर्य-मंडल ही सकल महान् देवताओं का समूह-स्वरूप है। ऊषा को भी देवताओं का समूह स्वरूप कहा गया है,

माता देवानामदितेरनीकम् (१। ११३। १९)।

इसी प्रकार-इन्द्र के वज्रको मरुद्गणोंका समष्टि-स्वरूप मित्रका गर्भ-स्वरूप एवं वरुण का नाभि-स्वरूप माना है ‡।

* ऊषा ऋत को एवं अग्नि को धारण करती है, ऐसी बात भी है। इन्द्राग्नी की गोद में यह जगत् है (८। ४०। २) बृहस्पति में सब देवता रहते हैं (१। ४०। ५)

† सप्तशती चंडी (दुर्गा) पाठ में जैसे कहा है कि, सब देवताओं की तेजःशक्ति एकत्र मिल कर श्री दुर्गा प्रकट हो गईं उसी प्रकार यहां भी कहा गया है कि,सब देवताओं की शक्ति के मेलसे अग्नि का विकाश हुआ है।

‡ इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः (६। ४७। २८) अतएव इन्द्र भी कारण-सत्ता है।

इस उपलक्ष में हम पाठकों से और एक बात बात कहेंगे। अद्यापि दैनन्दिन उपासना और संध्यावन्दन के समय हिन्दूगण 'जल, की प्रार्थना किया करते है। और समुद्र नदी भागीरथी गङ्गा यमुना आदि की पूजा किया करते हैं। यह जल, जड, जल, नहीं, ऋग्वेद ने सो बात स्पष्ट कर दी है। जल के निकट जब प्रार्थना की जाती है, तब उस प्रार्थना का लक्ष्य जड़ जल नहीं हो सकता। जल में अनुस्यूत कारण-सत्ता या ब्रह्म ही उसका लक्ष्य है। जल के प्रति जो हमारी पूजा-प्रार्थनाहै, वह जड़ोपासना नहीं चैतन्यघन परमात्मा की ही उपासना है। ऋग्वेदने हमें जनाया है कि-"वरुण देव मनुष्योंके पाप-पुण्यों को देखते हुए जल में सञ्चरण करते हैं"। और ऋग्वेद से यह भी उपदेश पाते हैं कि अग्नि ही जलका गर्भ स्वरूप है, जलके भीतर अग्नि ही निरन्तर स्थित रहताहै। यथाः-

"राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्(७ ४९।३) वह्नीनां गर्भो अपसामुपस्थात्" (१ । ९५ । ४) 'गुहा गूढमप्सु' (३ । ३९ । ६) 'वैश्वानरो यासु अग्निः प्रविष्टः' (७ । ४९ । ४) । ३ । १ । ३ एवं "सोमः"अपां यद् गर्भोऽवृणीत देवानाम्" (९ । ९७ । ४१) सोम जलका गर्भरूप है।

किन्तु हम ऊपर आलोचना कर चुके हैं कि ऋग्वेद में 'अग्नि' 'वरुण' प्रभृति शब्दों द्वारा, कार्यवर्ग में अनुप्रविष्ट कारण सत्ता या चेतन्य सत्ता ही निर्देशित हुई है। सुतरां पाठक वर्ग सहज ही समझ लेंगे कि ऋग्वेद जब भी जल के निकट कोई स्तुति प्रार्थना करता है, तभी उसका लक्ष्य भौतिक जड़ जल नहीं, किन्तु जल में ओत प्रोत 'कारण-सत्ता' ही है। कारण या ब्रह्मसत्ता के लिये ही प्रार्थना एवं उपासना की जाती है।*

---

* "जल 'त्रितन्तु उत्स' की ओर उत्थित होता है" (१ । ३० । ९)। यह बात कही गई है। त्रितन्तु उत्स सत्त्व रज तमोगुणात्मक कारण सत्ता व्यतीत अन्य कुछ नहीं। सुतरां जल के मध्य में कारण सत्ताका ही निर्देश किया गया है।

जिस समय भारतवर्ष में घर घर में नित्य ही वेदग्रंथ पढ़े जाते थे उस समय सभी लोग जानते थे कि ऋग्वेद में व्यवहृत अग्नि आदि देवताओं का अर्थ क्या है तब किसी को भ्रम नहीं होता था। इस समय वेदों की आलोचना नहीं इससे किस अर्थ में वरुण अग्नि आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं सो बात लोग भूल गये हैं। इसीलिये संध्या वन्दनादि के समय जलके प्रति प्रार्थना देखकर अनेक व्यक्तियों को भासित होने लगता है कि, मानो जड़ जल की ही प्रार्थना उपासना कर रहेहैं अतएव इस काल में ब्राह्मण बालक भी संध्या वंदनादि करना नहीं चाहता।

इस भाँति भी आप समझ सकते हैं कि, ऋग्वेद में जो देवता कहे गये हैं, वे जड़ पदार्थ नहीं। ऋग्वेद की उपास्य वस्तु देवताओं में अनुस्यूत कारण–सत्ता अथवा ब्रह्म–सत्ता ही है।

एक ही ब्रह्म शक्ति भिन्न २ देवताकार से प्रकट हुई है, इस बात का स्पष्ट निर्देश।

२३। हमने इतनी दूर तक, किस २ प्रणाली से ऋग्वेदमें कारण–सत्ता निर्देशित हुई है, इस विषय की आलोचना कर दी है। अब यह भी जान लेना चाहिये कि ऋग्वेद ने स्पष्ट स्वर से भी कारण-सत्ता हमें बता दी है। एक ही कारण–सत्ता अग्नि, वरुणादि भिन्न भिन्न देवताओं के नाम से आहूत हुई है, इस बात का ऋग्वेद के नाना स्थानों में स्पष्ट उल्लेख है। दो चार स्थल उद्धृत किये जाते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं 'सद्, विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(१। १६४। ४६)

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं 'सन्तं, बहुधा कल्पयन्ति।
१०। ११४। ५।

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति। ८।५८।१।
एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषा सर्वमिदं विभाति एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।
८। ५८। २॥

अर्थात् तत्वदर्शी जन एक ही 'सत्ता, का विविध नामों से निर्देश करते हैं। एक ही सद्वस्तु-इन्द्र नाम से, मित्र नाम से, वरुण नाम से, अग्नि नाम से, परिचित है। शोभन-पक्ष-विशिष्ट गरुत्मान् नामसे भी * पण्डितगण उसे बुलाते हैं। वही सद्वस्तु अग्नि; यम और मातरिश्वा कही जाती है। सुपर्ण वा परमात्मा एक ही सत्तामात्र है इस एकही सत्ता को तत्वज्ञानीगण विविध नामों से कल्पना करते हैं। बुद्धिमान् ऋत्विक्‌गण एक ही सद्वस्तु को-बहुप्रकार से-बहुत नामों से-कल्पना करके, यज्ञ-सम्पादन किया करते हैं। एक ही अग्नि-बहुप्रकार से बहुत स्थानों में प्रज्वलित हुआ करता है। एक ही सूर्य समग्र विश्व में अनुगत-अनुस्यूत होरहा है। एक ही ऊषा सब

---

* सोम को 'सुपर्ण, कहा जाता है। 'दिव्यः सुपर्णो अवचक्षत क्ष्मां (९। ७१। ९) प्राणशक्ति को भी 'सुपर्ण, कहते हैं। (अथर्ववेद द्रष्टव्य है) विष्णु को भी 'सुपर्ण, कहा जा सकता है। सूर्य को भी 'सुपर्ण, कहा है। "सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान् पूर्वो जातः" (१०। १४९। ६)

वस्तुओं को विविध रूपों से प्रकाशित करती है। एक ही वस्तु विश्व में विविध वस्तुओं का आकार धारण कर रही है। इन मन्त्रों में पाठक देखें, अग्नि, यम, मित्र वरुणादि एक ही वस्तु के नामान्तर और एक ही वस्तु के विविध आकार हैं।

अग्नि, सूर्य, वरुणादि देवता एक ही सत्ता के, एक ही वस्तु के भिन्न २ रूप और भिन्न २ नाम मात्र हैं, यह तत्व ऋग्वेद में उत्तम रीति से मिलता है। इस तत्व को हम ऋग्वेद में एक अन्य प्रकार से भी देखते हैं। अग्नि की स्तुति करते हुए ऋषि अनुभव करते हैं कि इन्द्र, चन्द्र वरुणादि सब देवता अग्नि के मध्य में अन्तर्भुक्त हैं—ये सब अग्नि के ही शाखा स्वरूप हैं। विष्णु की स्तुति के समय भी कहा गया कि—अन्यान्य देवता विष्णु के ही शाखा-स्वरूप हैं*। बड़े प्रकांड वृक्ष की शाखा प्रशाखाएँ जैसे वृक्ष के ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वरूप हैं, वृक्ष की सत्ता में हो जैसे शाखा प्रशाखाओं की सत्ता है, वैसे ही सभी देवता एक ही परम देवता के अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वरूप हैं। उस परम देवता की सत्ता में ही इनकी सत्ता है, उस महासत्ता के व्यतिरिक्त देवताओंकी 'स्वतन्त्र' सत्ता नहीं। "यो देवानामधिदेव एकः (१०।१२१।७)"। इसीलिये निरुक्तकार यास्क ने—देवताओं का एक ही परमात्मा के अङ्ग प्रत्यंग रूप से स्पष्ट निर्देश किया है†। अथर्ववेद ने भी स्पष्ट कहा है कि एक ही वस्तु अवस्था-भेद से भिन्न २ नाम ग्रहण करती रहती है—

देवता एक ही देवता के अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वरूप हैं।

स 'वरुणः' सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स 'सविता' भूत्वा अन्तरीक्षेण याति स 'इन्द्रो' भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्॥
१३।३।१३।

पाठक गण समझ रहे हैं कि ऋग्वेद के देवतावर्ग कोई 'स्वतन्त्र' 'स्वतन्त्र' कुछ वस्तु नहीं है। एक ही ब्रह्मसत्ता—इन्द्र नाम से, उषा नाम से; रुद्र नाम से; अग्नि नाम से; जगत् की विविध क्रियाओं का निर्वाह करके, विश्व के नानाविध कल्याण में नियुक्त है। ऋग्वेदका देवता तत्व यही है।

ऋग्वेद के देवता, एक ही कारण-सत्ता के कार्यात्मक विकाश मात्र हैं, कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं।

एक शिव, सत्य, सुन्दर ब्रह्म-सत्ता प्रतिदिन प्रभात-कालमें ऊषारूपसे उज्वला लोक द्वारा समस्त जगत्को प्रकाशित करके, आलस्य तन्द्रा को हटाती हुई जीवों को

---

* "वयाः (शाखाः) इदन्या भुवनानि अस्य" (२।३५।८)। "अस्य देवस्य......वया विष्णोः" (७।४०।५) "त्वे विश्वे सहसः पुत्र देवाः" (५।३।१)।

† "एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः इत्यादि (निरुक्त।७।४)। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी सूर्य, अग्नि प्रभृति देवतावर्ग को पुरुष के अङ्ग प्रत्यङ्ग रूप से वर्णना की गई है।

प्रबोधित एवं उनको निज २ कर्मों में प्रवर्तित करती है। यह कल्याणमयी ताप-नाशनी और जीवों की प्राणदायिनी है इसके उदर में, घन-कृष्ण तिमिरराशि अन्तर्हित होती एवं समग्र भुवन में प्रकाश भर जाता है। ऊषा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

यह शिव; सत्य; सुन्दर; ब्रह्म सत्ता—सृष्टि में **इन्द्ररूपसे** विपुल वाष्पराशि वर्षण करता हुई पृथिवी में नदी और समुद्र की अमृत धारा प्रवाहित कर, अशेष प्रकार से जीवों का बहुत कल्याण-साधन करती है। नदी समुद्र; पर्वत; स्थलभाग उत्पन्न व विरचित होकर; इसी के प्रभाव से पृथिवी जीवों के वासोपयोगी हुई है। नहीं तो निविड़-कृष्ण अम्ल वाष्पराशि द्वारा पृथिवी का मुख आच्छादित होजाता यही आज भी; वज्र विद्युन्निर्घोष; वर्षण प्रभाव से पृथिवी को शस्य शालिनी बना कर जीवों का प्राण यात्रा के सहायक रूप से नित्य क्रियाशील होरही है *। इन्द्र कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

यह शिव सत्य; सुन्दर; ब्रह्म-सत्ता—**रुद्र रूपसे** जगत् के उपद्रवों को विनष्ट करती है। जो लोग धर्म के विरोधी; सत्य के द्रोही मानव समाज के शत्रु हैं—उनको रुद्र शक्ति सुशाणित धनुबाण द्वारा विनष्ट करती है। और उपद्रव नाश करके संसार में विपुल मङ्गल-रूप औषधि का दोनों हाथों से वितरण करती हैं। रुद्र कोई स्व-तन्त्र पदार्थ नहीं है।

यह शिव सत्य; सुन्दर; ब्रह्म-सत्ता—जगत् की आदि में **सोम रूप से** पृथिवी में समुद्भूत औषधि वर्ग और सब वृक्षों की उत्पत्ति का कारण हुई थी †। जगत् में जो विविध शक्तियों का विकाश हुआ है; उसका कारण सोम ही है। सोम ने ही, वृक्षादि रूप से परिणत हो कर, पृथिवी को मनुष्यों के बसने योग्य किया है। सोम-लता का रस ही यज्ञ में मंगल्य द्रव्य रूप से व्यवहृत होकर, धर्मवृद्धि में सहायता करता है। आकाशस्थ तिथि प्रभृति का नियम संस्थापित होकर, सोम वा चन्द्र पृथिवी का कल्याण विधान करता है। सोम कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

यह सत्य, शिव, सुन्दर ब्रह्म-सत्ता ही-**ओषधि वर्ग रूप से**, मनुष्यों का कितना ही हित; मंगल साधन करती है। कितने ही शारीरिक रोगों में, यह ओषधि

* विश्व में जो कुछ बल का कार्य, वीर्य का कार्य पराक्रम का कार्य है, वह 'इन्द्र' है। "या का च बलकृतिः स इन्द्रः" (शङ्कराचार्य, वेदान्त भाष्य। "मा मार्यन्ति कृतेन कर्त्वेन च" (७।४८।१) जो कोई जो कुछ भी करता हैं सो सब हमारे ऊपर निर्भर करता है।

† पाठक पहिले ही देख चुके हैं कि सोम आधुनिक विज्ञान के 'मैटर' रूप से भी ऋग्वेद में व्यवहृत हुआ है। शक्तिके इस Matter अंश से ही पहले जल (तरल) फिर पृथिवी (कठिन) एवं क्रमा में पृथिवी में ओषधिवर्ग की उत्पत्ति हुई है।

शक्ति अद्भुत प्रभाव फैला कर मनुष्य के शरीर को रोग-जनित विनाश के हस्त से विमुक्त करती है। ओषधि वर्ग के भीतर अमंगल-निवारक भेषज निहित है। ओषधिवर्ग कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

यह सत्य, शिव, सुन्दर ब्रह्म-सत्ता-**विष्णु रूप** से जगत् के पोषण-कार्य में विनियुक्त हो रहा है। आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी-कोई भी स्थान इसके पालने की सीमा से बहिर्भूत नहीं है। एक मधुपूर्ण अमृत की खान से विष्णु की इस पोषण क्रिया से क्षरित होकर पृथिवी को अन्तरिक्ष को और आकाश को पूर्ण व स्निग्ध कर रक्खा है। विष्णु कोई 'स्वतन्त्र' पदार्थ नहीं है।

यह सत्य, सुन्दर, शिव ब्रह्म-सत्ता-**अग्नि रूप** से मनुष्यों के घर में नित्य उपस्थित रह कर, धर्म-कार्य यज्ञ में सहाय होकर मनुष्यों के धर्मको पुष्ट करती है। यह अग्नि ही-विश्व में नाना श्रेणी के रत्न, माणिक्य आदि धनरूप में परिणत हो रहा है। यह जल वाड़वाग्नि और मेघ में विजली रूप से, स्वर्ग या आकाश में सूर्य रूप से समुदित होकर जीवराज्य और जड़राज्यका नियमन करता है यह ओषधिवर्ग के भीतर ऊष्मा—रूप से शस्य पका कर, जीवों के प्राण धारण के उपाय रूप से स्थित है। यही प्राणियों के जठरमें अग्नि रूप में प्रवेश कर अन्न को पचाता हुआ शरीर वर्द्धन व शरीर पोषण करता है अग्नि कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

यह शिव, सत्य, सुन्दर ब्रह्म-सत्ता-ऊषा के उदय के पश्चात् आकाश में **सूर्य रूप** से आविर्भूत होकर, न जाने जगत् का कितना कल्याण करती है सूर्य न हो, तो-स्थावर जंगम-कोई भी अपना काम नहीं ठीक कर सकता, सब मृतवत् हो जांय। सूर्य का हो अनन्त कल्याणप्रसू रश्मि-राशि चहुँदिशि विकीर्ण होकर, अन्धकार विनाश के साथ साथ, पृथिवीस्थ सभी पदार्थों का निज निज विषय और व्यापार में प्रेरित करता है। सूर्य-किरण ही प्राणी वर्ग में स्व प्राण-शक्ति रूप से क्रिया करती है एवं मनुष्य की बुद्धि-वृत्ति को स्फुरित व प्रेरित करती है। सूर्य कोई 'स्वतन्त्र, पदार्थ नहीं है।

यह शिव, सत्य, सुन्दर, ब्रह्मसत्ता ही—जड़राज्य और जीवराज्य में नियम की शृंखला स्थापित करती है, इसी से **वरुण नाम** से परिचित है इस के प्रवर्तित नियम से अन्तरिक्ष पथ में सूर्य गमनागमन करता है। इसीकी नियम शृंखलामें बंध कर, पृथिवी में नद-नदी सफल भूमि की उर्वरता-शक्ति बढ़ा कर, सागराभिमुख दौड़े, जा रहे हैं। प्राणी राज्य में भी, वरुण-नैतिक नियमका प्रतिष्ठाता है। मनुष्य हृदय में समुत्थित पाप-पुण्यका विधान और दर्शन वरुण ही करता है। वरुण दुरित क्षयकारी है। इसके नियमों का उल्लघन करके ही मनुष्य अगणित दुःखों को बुलाता और अमंगल मार्ग खोल लेता है फिर इसी के अनुग्रह से, पुनः नियम प्रणाली के वशवर्ती हो कर जीवन यात्रा निर्वाह करता हुआ मनुष्य इसी की कृपा से पापके बन्धन तथा दुःख के पाश से मुक्त होने में समर्थ हो जाता है। मनुष्य वरुण के ही

प्रसाद से अपने कर्त्तव्य सम्पादन में समर्थ होता है। वरुण कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

यह शिव, सत्य, सुन्दर, ब्रह्म-सत्ता-अश्विनीकुमार रूपसे, संसार का महान् मंगल, अशेष कल्याण करती है। जगत् में जो कुछ अमगल है, जो कुछ आपात-रोग जो कुछ अनिष्ट व नीतिका व्यभिचार है-सो सबही फिर अद्भुत नियम-कौशल से मङ्गल में परिणत होता है। आकाश में अन्तरिक्ष में, पृथिवी में-अश्विनी कुमार अनेक प्रकार से बार बार रोगों की ओषधि ले आते हैं। इन्हीं के प्रदत्त भेषज को पाकर जगत् विविध रोगों तथा अनिष्टों से बच जाता है। अश्विनीकुमार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं *।

पाठक-देखें एक ही ब्रह्मसत्ता जगत्में जिन विविध क्रियाओंका निर्वाह करती है, उन क्रियाओं का नाम ही 'देवता' है। सुतरां देवता कोई स्वतन्त्र जड़ीय पदार्थ नहीं हैं। एक मङ्गलमय चेतन—सत्ता ही देवता नाम से परिचित है। अर्थात् सब देवता उस ब्रह्मसत्ता के ही विविध आकार मात्र हैं ब्रह्म से भिन्न इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

ऋग्वेद के देवतावर्ग कारणसत्ता वा कारण-शक्ति से उद्भुत हैं, यह विषय आलोचित हो गया। अब यह आलोचना की जायगी कि, देवतावर्ग अन्ध जड़-शक्ति नहीं, किन्तु वे ज्ञान-स्वरूप एवं कल्याण-स्वरूप हैं।

२४। ऋग्वेद के देवता अन्ध जड़-शक्ति नहीं हैं। जो मूल में चैतन्य सत्ता है; उस चैतन्य सत्ता के विकाश का ही नाम 'देवता' है। सुतरां शक्ति के प्रत्येक विकाश के साथ चैतन्य वर्तमान है। पाठक यह बात भूलें नहीं। इसी लिये ऋग्वेदमें शक्ति के प्रथम विकाश 'अदिति' के साथ २ 'दक्ष' की बात कही गई है। शक्ति जब स्थूल भाव से पहिले विकाशित होती है, उसका नाम 'वायु' है। यही सब प्रकार के शब्दों की जननी है। यही ताल ताल में (Rhythm) रूप से, छन्दरूपसे वाक्-रूपसे अभिव्यक्त होती है। शक्ति की यह जो अभिव्यक्ति है, शक्ति की यह जो वाक्‌रूप से अभिव्यक्ति है इसके भी साथ चैतन्य वर्तमान है। यही बताने के लिये ऋग्वेद में 'ब्रह्मणस्पति' या 'बृहस्पति' की वर्णना है। बृहस्पति सब देवताओं का प्रतिनिधि है, देवताओं के मध्य में देवतम है, बृहस्पति प्रथम एवं यह विभु—व्यापक

ऋग्वेद के देवता जड़ीय पदार्थ नहीं, ज्ञानस्वरूप हैं।

वाक्य की अभिव्यक्ति।

* देवताओं का यह सब वर्णन अक्षर अक्षर—ऋग्वेद से लिया गया है। सभी देवताओं का ऐसा ही वर्णन है। बाहुल्य—भय से मन्त्र नहीं उद्धृत हुए।

है*। यह वस्तुओंका संयोग वियोगकारी है। यह परम व्योममें सबसे प्रथम आविष्कृत हुआ था। एवं यह ज्योतियोंमें आदिम है। यह सप्तास्य एवं सप्तरश्मि है। यह अति दूर देशसे उत्पन्न एवं ऋतको स्पर्शकर ठहरा है†। सप्त-शीर्षधारिणी एवं ऋत से उत्पन्न वाणीका यही पितृ-स्थानीय है। यह गोपति है‡। बृहस्पतिने ही सब से प्रथम वाक् शक्ति को प्रेरित किया था। इस भांति ऋग्वेद में बृहस्पति का वर्णन है। इसी प्रकार, शक्तिके प्रत्येक अवस्थान्तर के साथ चैतन्य वर्त्तमान है। यही समझानेके लिये 'देवता' शब्द का प्रयोग है। अतएव कोई भी देवता जड़ या भौतिक वस्तु नहीं। सभी देवता जैसे क्रिया-स्वरूप हैं, तैसे ही ये ज्ञान-स्वरूप भी हैं।

बृहस्पति।

(क)। देवतावर्ग स्वतन्त्र स्वतन्त्र जड़ीय वस्तु मात्र नहीं, उनमें एक चेतन कारण-सत्ता अनुस्यूत हो रही है, यह तत्व ऋग्वेद में नाना प्रकार से वर्णित हुआ है जो चैतन्य-सत्ता के विकाश हैं, वे कदापि अचेतन जड़ नहीं हो सकते। इस लिये सर्वत्र ही देवताओं में 'ज्ञान का, आरोप किया गया है। अग्नि को लक्ष्य करके कहा गया है—

देवताओं में ज्ञान का आरोप।

---

* स देवो देवान् प्रति (२।२४।११) देवानां देवतमाय. विभु प्रभु प्रथमम्। (२।२४।३,१०) ससनयः, स विनयः (२।२४।९) संयोग वियोग कारी Repulsive & attractive force, ये दो शक्तियां युगपत् क्रिया करती हैं, तभी तो क्रियामात्रकी अभिव्यक्ति प्रतिताल में Rhythm रूप से होती है।

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो, महोज्योतिषः परमेव्योमन् (४।५०।४) क्रिया सर्व प्रथम ताल ताल में प्रकाशित होती है। वही फिर वायुरूप से, अग्निरूप से अभिव्यक्त होती है। सप्तास्यः तुविजातो रवेण विसप्तरश्मिः (४।५०।४) नाभि कण्ठ प्रभृति सात स्थानोंमें स्पर्श करके शब्द उच्चारित होता है इससे सप्तास्य कहा जाता है। सात प्रकार के छन्द को लक्ष्य करके सप्त-रश्मि कहा गया है। कोष्ठाग्नि प्रेरित वायु ही शब्दाकार से व्यक्त होता है। सुतरां "प्राण ही" शब्द का आत्मा है। भाष्यकार बृहदारण्यक में (१।३।१९।२०) प्राणको ही 'बृहस्पति" कहते हैं। प्राणेन हि पाल्यते वाक्, अप्राणस्य शब्दोच्चारणसामर्थ्याभावात्। तस्मात् बृहस्पतिः ऋचां प्राण "आत्मा,,। [अङ्गानां रसः प्राणः बृहस्पतिः अङ्गिराः]

† बृहस्पते या परमा परावदत आन ऋतस्पृशो निषेदुः (४।५०।३३)। 'दूर प्रदेश, (परावत्)—यह 'कारण-सत्ता, व्यतीत अन्य कुछ भी नहीं। ऋत शब्द का अर्थ भी अविनाशी 'कारण-सत्ता" है। "कारण-सत्ता" ही तो वाक् रूप से स्पन्दन-रूप से व्यक्त होती है। "धुनेतयः" शब्द द्वारा स्पन्दन ही समझा जाता है।

‡ धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋत प्रजातां"'अविन्दत्। सप्त प्रकार छन्दोमय वाक्य। अयोगाः गुहा तिष्ठन्तीः (१०।६७।१,४)॥ ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में 'गो, शब्द वाक्यके बदले व्यवहृत हुआ है। बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः (१०।६।१)। हम सप्तम मंडलके ८७ सूक्त में देखते हैं कि—"वरुण ने ही

"जो देवता सर्वदा जागता रहता है, सब ऋक्मन्त्र उसीकी कामना करते हैं। जो देवता सर्वदा जागता रहता है, उसीको सब सामगान प्राप्त होते हैं। जो देवता सर्वदा जागता रहता है, उससे सोम यह बात कहता है कि,—हम मानो सदा आपके साथ रहें।

अग्नि ही निरन्तर विनिद्र रहता है, सब ऋक् मंत्र उस अग्नि की ही कामना करते हैं। अग्नि निरन्तर विनिद्र रहता है, सब सामगान उस अग्नि को ही प्राप्त होते हैं। अग्नि निरन्तर विनिद्र रहता है, सोम उसीसे कहता है। कि,—हम तुम्हारे ही सा" रहेंगे *।

अग्नि को जागरणशील और विनिद्र कहा है। अग्नि—सृष्टवस्तु, मात्र को जानता है इसलिये अग्नि—जातवेदा है, । इन्द्र इस विश्व को दर्शन और श्रवण करते हैं (८।७८।५) सोम विपश्चित् (६, ८१; ४४) एवं विचक्षण (१ ६.६.२३) कहा गया है। अग्नि भी कवि (३, १४ ७) सोम भी कवि (६, ६२ १३) है। वरुण-सह नृचक्षु है (७ ३४ १०) सोम भी नृचक्षा है (८, ४८, ६) अग्नि चेता है (६।५।५) अग्नि विचेता है (४ ५।२) और अग्नि-सुचेता है (७.४।१०) द्यावा-पृथिवी सुचेता है (१।१५६।४) †। अग्नि चेकितान है (३।५।६)।

हमें कह दिया है कि, गोरूपिणी वाक् २१ गूढ़ नाम धारण करती है" सायणाचार्य कहते हैं, ७ प्रकार के गायत्री आदि छन्द—वक्षःस्थल मस्तिष्क एव कण्ठ इन तीन प्रदेशोंमें २१ प्रकारके आकार धारण करते हैं। नवम मण्डलमें है कि,—सोम गोरूपिणी वाणी का गुह्य नाम जानता है (६।८७।३१)। कई लोग मानते हैं कि, ब्रह्मणस्पति वा बृहस्पति के वर्णन में बहुत कुछ ब्रह्म का एकत्व-सूचक वर्णन है। एव यह वर्णन दशम मडल में पीछे से संयोजित हुआ है। ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि हम प्रथम से लेकर अनेक मण्डलों में ही बृहस्पति का वर्णन पाते हैं। एव वागधिष्ठाता चैतन्य ही बृहस्पति है. इसमें कुछ सन्देह नहीं गोरूपिणी वाणी का स्वरूप-सप्तम मण्डल में वरुण के वर्णन में तथा अन्य मंडलों में है। दशम मंडल में ऐसा कोई वर्णन नहीं जो किसी न किसी रूप में अन्य मण्डलों में नहीं। यथा—"वाक्येन वाकं द्विपदा चतुष्पदा, अक्षरेण मिमते सप्तवाणीः (१।१६४।२४) पाश्चात्य पण्डित दशम मण्डल को पीछे से मिलाया मानते हैं, यह बात असम्भव है। तथापि हमने दशम मण्डल से बहुत कम प्रमाण लिए हैं, पाठक लक्ष्य करेंगे।

* अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते इत्यादि (५।४४।१४–१५) देखो।

† विपश्चित्, विचक्षण, कवि-प्रभृति शब्दों का अर्थ 'सर्वज्ञ' है। प्रचेता, चेकितान प्रभृति का अर्थ भी 'प्रकृष्ट ज्ञानविशिष्ट' है। सब ही देवता उत्तम ज्ञान विशिष्ट एवं उत्तम बुद्धि विशिष्ट हैं। 'प्रचेतसः', 'मन्तारः' (१०।६३।८) 'भूरिचक्षसः', 'अनिमिषन्ताः' (१०।६३।४)। बहुत स्थानों में देवता शोभन-कीर्ति विशिष्ट भी कहे गये हैं। १०।६६।१३। प्रभृति देखो।

इस प्रकार सर्वत्र देवता वर्णित हुए हैं। और सभी देवता समान-मन-विशिष्ट समान प्रीति-विशिष्ट; समान-क्रिया-विशिष्ट और समान-ज्ञान विशिष्ट कहे गये हैं *। फिर अग्नि; ऊषा प्रभृति देवगण-कर्मानुसार जीवों की किस २ लोक में गति होती है; सो बात जानते रहते हैं; यह भी कहा गया है †।

देवता परलोक में जीव की गति की बात जानते हैं।

(ख)। और एक प्रकार से भी देवताओं के ऊपर ज्ञान का आरोप किया गया है। सब देवता ही—"बुद्धि के प्रेरक" "सुमति के पोषक" एवं "बुद्धि-वृत्ति में प्रविष्ट" माने गये हैं ‡। देवताओं के निकट प्रार्थना की गई है कि—हमें सुमति प्रदान करो; हमारी दुर्गति दूर करो' इत्यादि। यह भी लिखा है कि;—देवता मनुष्यों के गुप्त हृदय में पाप पुण्य देखते हैं। क्या जड़ भी कभी पाप-पुण्य का द्रष्टा हो सकता है?

देवता बुद्धि के प्रेरक एवं पाप पुण्य के दर्शक हैं।

इस प्रकार सर्वत्र हम देवताओं को ज्ञानविशिष्ट; चेतन पाते हैं।

(ग)। देवता जिस भांति ज्ञान-विशिष्ट कहे गये हैं; उसी भांति ऋग्वेद में देवता मङ्गलमय भी माने गये हैं। इसलिये ऋग्वेद के देवता जड़ भौतिक पदार्थ मात्र कदापि नहीं हो सकते। किस प्रकार देवता मंगलमय माने गये हैं; सो दिखा कर हम इस विषय को समाप्त कर देंगे। ऋग्वेद के देवता जीव और जगत् के कल्याणकारी हैं। देवता माताकी भाँति हितकारी हैं। प्रत्येक देवता भवरोग नाशक औषधि रखता है। संसारके शोक दुःखों पाप तापोंका उपशम करने वाली औषधि सब देवता रखते हैं एवं जीवों को देते हैं इस संसारूपी मरुभूमि पर देवतागण अनवरत मधु की खान, अमृत की धारा बरसाते रहते हैं। विष्णु का परमपद मधुपूर्ण है। अश्वद्वय मधुके भाँडार-स्वरूपहैं एवं वे मधुवर्षण द्वारा यज्ञस्थल आप्लावित

देवता मङ्गल कारक और मधुक्षरण कारी हैं।

---

* समनसः (७।४३।४), (७।७४।२), प्रभृति देखो। सजोषसा (७।५।९) (८।५३।१), (८।२७।१७)। समानविदु (३।५६।६) प्रभृति द्रष्टव्य है।

† विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् (अग्नि, ६।१५।१०)। अभिपश्यन्ती वयुना जनानाम् (ऊषा, ७।७५४)। सविता""""वयुना विदेक ईम् (सविता, ५।८१।१)।

‡ मित्रा-वरुण-'प्रविष्टः' 'धियः, (बुद्धि में प्रविष्ट)-७।६५।५ सविता बुद्धिवृत्तिको प्रेरण करते हैं (३।६२।१०। प्रविष्ट धीषु अश्विना (७।६७।६)। वरुण बुद्धि शिक्षक हैं (८।४२।३) इन्द्र बुद्धि के प्रेरक हैं (६।४७।१०)। विष्णु सुमति दो (७।१००।२)। ऊषा-बुद्धि की प्रेरणाकारिणी है (७।७९।५)। अग्नि बुद्धि प्रेरक है (८।६०।१२। आदित्य गण दुर्गति दूर करते हैं (८।६७।१६) इत्यादि। 'अपां मध्ये याति वरुणः, सत्यानृते अव पश्यञ् जनानाम्'। सूर्य मनुष्य का पाप देखते हैं, (६।५१।२) इन्द्र मनुष्यका अन्तस्थल देखते हैं 'मर्त्याहिंश्यो जनानाम्' १।८१।९। "यां मे धियं""देवा अददात""तां पीपरय" (१०।६४।१२)

करते हैं । और जीवको मधुपूर्ण करते हैं अग्निकी जिह्वा मधुमयीहै । द्यावापृथिवी मधु के कोपसे मधु क्षरण किया करते हैं । सोमके भीतर मधु निहित है । वरुण अमृतके रक्षक हैं । ऊषा-मधु धारण करके, मधुमय मुख से नित्य ही हंसती हंसती, जीवों की दुःख-दुर्गति तन्द्रा-आलस्य आदि को तिरोहित करती और पापान्धकार को हटाती है । मेघ, औषध और जल यह सब सर्वदा मधु व मङ्गल वितरण करते हैं । वायु के गृह में मधु का कलश संस्थापित है । पूषा का धन भांड कदापि क्षय को प्राप्त नहीं होता * । ऋग्वेद ने इस रीति से देवताओं की अशेष कल्याणमय मूर्तियों का वर्णन किया है । जब ही देवगण एक अमृत की खान से निकले हुए हैं और जगत् जीवों का नित्य कल्याण किया करते हैं । पाठक विचार करलें, जो देवता इस भांति संस्तुत हैं, वे केवल भौतिक जड़पदार्थ मात्र नहीं हो सकते । देवता कभी भी स्वतंत्र जड़ीय वस्तु मात्र नहीं माने जा सकते ।

देवता पिता, माता, भ्राता भगिनी की भांति आत्मीय हैं ।

(घ) । अनेक स्थलों में देवताओं के ऊपर पितृत्व, मातृत्व, भ्रातृत्व प्रभृति आत्मीयता का बंधन आरोप कर लिया गया है । यथा, अग्नि-सुविवेचक पिता की भाँति हमारा सुहृद् है, हम अग्नि के पुत्र-स्थानीय हैं । पिता जैसे यत्न से दुर्वलमति पुत्र को उपदेश और सुशिक्षा प्रदान करता है, वैसे अग्निभी यत्न पूर्वक हमारी बुद्धि-वृत्ति को सदुपदेश द्वारा परिपक्व करता है । सोम एवं वरुण ने जो सारी सुनीति पृथिवी में स्थापित की है, उस नीति का पालन करके हमारे पूर्व पुरुष गण देव-सायुज्य लाभ में समर्थ हुए थे । हम इन्द्र को नित्य बुलाते रहते हैं, इन्द्र पिता की भाँति हमारे आह्वान और निवेदन को सुनते हैं । अदिति पिता है और अदिति ही माता है । रुद्र हमारे पिताहैं । हे जनक द्यौ ! जननी पृथिवि ! हे भ्राता अग्नि ! और वसुगण ! तुम हमें सुखी करो । हे सोम ! पिता जैसे पुत्र का सखा व सुहृद् होता है, आप भी हमें वैसे ही सुखकर हों । हे शतक्रतु ! तुम हमारे पिता और माता हो, हम आपसे सुख मांगते हैं । हे वायु ! आप ही हमारे पिता, भ्राता और सखा हैं । अग्निको हम पितृस्थानी और आत्मीय मानते हैं । अग्नि ही चिरकाल का साथी है । मित्र जिस प्रकार मित्र के लिये, पिता-माता पुत्रों के प्रति हितकारी होते हैं हे अग्नि ! तुम भी हमारे लिये उसी प्रकार हितकारी बनो । द्यौ-हमारा पिता है, पृथिवी हमारी माता है, सोम-भ्राता और अदिति हमारी भगिनी है † इत्यादि प्रकार से ऋग्वेद देवताओं के सहित आत्मीयता-सम्बन्ध स्थापित करता है । जो देवता इस भाँति स्तुति किये जाते हैं, वे भला जड़ पदार्थ कैसे हो सकते हैं ?

२५ इस प्रकार जब साधक के चित्तमें देवताओं का स्वातन्त्र्यबोध तिरोहित

*हमने ऋग्वेद के नाना स्थलों से इन उक्तियों का संग्रह कर लिया है ।

† ये सब युक्तयां ऋग्वेद के भिन्न भिन्न स्थलों से संग्रहीत हुई हैं ।

होकर देवताओं में अनुप्रविष्ट कारण सत्ता वा ब्रह्म-सत्ता जागरित हो उठती है, तब अन्य कोई भी वस्तु स्वतन्त्र रूप से अनुभूत नहीं होती। उस समय सर्वत्र ही एक ब्रह्मसत्ता ही अनुभूत हुआ करती है। उस समय इन्द्र, सूर्य सोम प्रभृति देवताओं का ब्रह्मरूप से ही बोध होता है। अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्म दीखता है। यही साधन की अन्तिम अवस्था है। इमने पहिले जो दो श्रेणी के साधन की बात कही है, सो पाठक जान चुके हैं। यह तीसरी श्रेणीका साधन है। उपनिषदों में ऐसे साधक "केवल ज्ञानी" कहे गये हैं*। सब देवताओंके भीतर भरी हुई कारणसत्ता का अनुभव करते २ चित्त से देवताओं की स्वतन्त्रता पृथकता का भाव सर्वथा दूर हो जाता है, उस समय 'सर्वं खलु इदम् ब्रह्म हो उठता है। इसी कारण हम ऋग्वेदमें कुछ ऐसे सूक्त देखते हैं जो केवलमात्र ब्रह्ममें ही प्रयुक्त हो सकते हैं इस अवस्था में, सोम भी ब्रह्म है, इन्द्र भी ब्रह्म है; सविता ब्रह्म है और सभी देवता ब्रह्म हैं। (क) यहां पर इस प्रकार के कुछ मन्त्र उद्धृत कर दिखाते हैं।

ऋग्वेद का अद्वैत-वाद। साधन की चरम-श्रेणी का निर्देश।

केवल ज्ञानी।

इन्द्रादि देवोंकी ब्रह्मरूपसे उपासना। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,यह ज्ञान।

हे इन्द्र! तुमने सूर्य को ज्योति देकर उज्ज्वल किया है, तुम सबको अभिभूत कर, सब के अतीत होकर अवस्थान करते हो। कोई देवता, कोई मनुष्य तुम्हारी इयत्ता नहीं कर सकता। तुम अपने बल द्वारा सृष्ट-पदार्थ-मात्र को अभिभूत कररहे हो। तुम सबके परे हो। (८-९८-२, ८-९७-९) हे इन्द्र! तुम समस्त लोकों के (भू आदि सप्त भुवनों के) अपर पार में स्थित हो। तुम आत्म-बल द्वारा आकाश के भी ऊपर रहते हो। द्यावा-पृथिवी, जल-राशि, समुद्र,अन्तरिक्ष कोई तुम्हारा अन्त नहीं पाता। तुम सब को व्याप्त किये हो, किन्तु तुम सबके अतीत हो (१-५२-१२; १४) हे इन्द्र! भूलोक और ज्योतिर्मय अन्तरिक्ष लोक, दोनों कोही सब प्रकार पूर्ण कररहे

* उपनिषदों में साधना के तारतम्यवश परकाल की गति में "केवल कर्मी" पितृयान मार्गद्वारा चन्द्रलोकशासित निम्न स्वर्ग में जाते हैं एवं वहां से पुण्यक्षय होने पर फिर लौट आते हैं। और कारण सत्ता बोध से देवताओंके उपासक "ज्ञान विशिष्ट कर्मी" देवयानमार्ग द्वारा सूर्यलोकशासित उन्नत स्वर्ग में गमन करते हैं। इनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। क्रमसे ब्रह्मलोक पर्यन्त गति होती है। सर्वत्र ब्रह्मैश्वर्य दर्शन करते हैं। किन्तु यथार्थ अद्वैतदर्शी केवल ज्ञानी पुरुषों की किसी लोकविशेष में गति नहीं होती। वे सर्वदा "जीवन्मुक्त नित्य ब्रह्मानन्द में मग्न रहते हैं। इनमें किञ्चित् भी भेद बुद्धि नहीं। यह वर्णन स्पष्ट मिलता है।

हो। जो सब सृष्ट पदार्थ वर्तमान हैं। जो भविष्य में जन्मेंगे उनमें तुम्हारे समक्ष कोई नहीं। तुम विश्व के अतीत होकर विश्व का धारण करते हो। (१-८१-५) हे बहुकर्मा इन्द्र! तुम कर्मद्वारा क्षेत्र में पुष्पों और फलवती ओषधियों की रक्षा व पोषण करते हो। सूर्य की विचित्र दीप्ति को उन्नत करते हो। तुमने स्वयं महान् हो-कर चहुँदिश महान् जीवगणों को उत्पन्न किया है। (२-१३-७) हे इन्द्र! कोई आ-श्रय नहीं, पर तुम शून्य में आकाश एवं रोदसी को स्तम्भित किये हो। तुम पृथिवी को विस्तारित करके उसे धारण किये हो (२-१५-२) इस विश्व में कोई भी वीर्यमें इन्द्र की अपेक्षा अधिक नहीं है। इसके मस्तक में महान् बल एवं हाथ में क्रिया है। (२-१६-२)।

ब्रह्मणस्पति, अचल अटल पर्वत को भी स्थान च्युत कर सकता है। कोमल, मृदु वस्तुओंको दृढ व कठिन बना सकता है। इन्होंने आकाश को सूर्य्य रश्मि द्वारा प्रकाशित किया है। ब्रह्मणस्पति की प्रज्ञा विचित्र एवं सनातन है। यह सर्वतो व्याप्त है। सबल और निर्बल दोनों के रक्षा कर्ता ब्रह्मणस्पति मुख्य देवता हैं। सब प्राणियों के ये अधिपति हैं (२-२४-३,४,१०)

हे आदित्यवर्ग! हे देवगण! हमें दक्षिण-उत्तरका बोध नहीं, हम अज्ञानी मूढ़ हैं। हमें पूर्व पश्चिम का ज्ञान नहीं, हम दुर्बल मति हैं। परिपक्व ज्ञानद्वारा, तुम्हारे प्रसाद से हम जानो असीम अन्धकारसे मुक्ति पाकर, उज्ज्वल अभय ज्योति को प्राप्त हो सकेंगे। (२-२७-११,१४)

हे अग्नि! तुम इस रोदसी एवं विश्व-भुवन को परिपूरित करके व्याप्त करके अवस्थित होरहे हो। तुम अपने स्वरूप द्वारा त्रिभुवन के अतीत होरहे हो (३-३-१०) हे अग्नि! तुम सब देवताओं के समष्टि स्वरूप हो। तुम सनातन; वृत्रनिहन्ता; एवं विश्व के सब पदार्थों को तुम जानते हो। समस्त पाप-तापों से हमें मुक्त करो; दुःख दारिद्र के उस पार ले जाओ (३-२०-४;२)*

सामने यह विश्वपट विस्तारित हो रहा है। इस विश्व पट के सूत्रों के तत्त्वको हम लोग नहीं जानते। वस्तु मात्र ही दो प्रकारके सूत्रोंकी रचना द्वारा निर्मित हुआ करती है। कुछ सूत लम्बे और कुछ सूत्र तिरछे (ताना बाना) होकर सज्जित वस्त्र निर्मित होता है। इस विश्व-पट के अवयव स्वरूप सूत्रों में कौन सूत्र है कौन ताना है और

* अग्नि मनुष्यों का उत्पादक है, द्यावा पृथिवी का उत्पादक है, अग्नि सर्वत्र वर्तमान है। अग्नि से ही जीवगण सृष्टि का रस प्राप्त करते हैं। अग्नि गर्भाशय में प्रविष्ट होकर समस्त जीवों की सृष्टि करते हैं। (१।१४९।२)

कौन क्या वस्तु बाना है सो कुछ भी हम जानते नहीं। क्योंकि हम विश्व की सृष्टिके पीछे जन्मे हैं। सो अब सृष्टि का रहस्य हमें कौन बता देगा? इस सूक्ष्म तत्त्व को केवल अग्निदेव ही जानते हैं। सूक्ष्म-तन्मात्रा और स्थूल पञ्चभूत ही इस विश्वपट के सूत्र तानी हैं। इन सूक्ष्म और स्थूल भूतों के योग से किस कौशल के साथ यह विश्वरूप वस्त्र विरचित हुआ है सो बात अग्निदेव ही भलीभांति जानते हैं। जब काल प्रभावसे सभी विषयोंका विज्ञान ध्वंस-प्राप्त होजाता है, तब फिर पुनः सृष्टिके आरम्भमें(ऋतुथा) अग्निदेव ही सब विज्ञानोंको व्यक्त करते हैं। अग्नि सर्वज्ञ हैं ये ही अमृत की रक्षा करते हैं। अर्थात् अग्नि ही अविनाशी ब्रह्म-सत्ता है। अग्नि जैसे सूर्य रूप से तावत् पदार्थों का प्रकाशक है, वैसे ही यह विश्व के अतीत (परे) वर्त्तमान है। यह ज्योति अपने हृदय में बुद्धि द्वारा ध्यान योग से जानी जा सकती है। अग्नि सूर्य-रूप से द्यावापृथिवी को देखते एवं 'स्वधा' (अन्न) द्वारा सब रत्नों को धारण करते हैं (३।२६।७-८)

[इस विश्व की सब वस्तुयें दो भागों में विभक्त हैं। एक "अन्नाद" दूसरा भाग "अन्न" है*। अग्नि उभयरूप है, अर्थात् अग्नि अन्न रूप से और अन्नाद-रूप से भी स्थित है।] "हे मर्त्यलोक निवासी मानवगण! मुझे अग्नि समझो, मेरे दो रूप हैं, मैं अन्नादरूप से, अपने को तीन भागोंमें विभक्त करके-अन्तरिक्ष में वायु नामसे, आकाश में सूर्य नाम से, एवं भूलोक में अग्नि नाम से स्थित हूँ। सूर्य, वायु, अग्नि मेरे ही भिन्न २ रूप और भिन्न २ नाम हैं। घृत मेरा अवभासक है। घृत अन्न शक्ति का ही रूपांतर है। मैं अन्न के आश्रय में व्यक्त होकर प्रकाशित होता हूं। और मेरे मुख में अमृत वर्त्तमान है। अर्थात्मैं ही भोक्ता हूँ और भोग्य भी मैं ही हूं। मैं भोक्तृ भोग्यात्मक जगत् रूप से स्थित हूं। और मैं ही जीवों के हृदय में प्राणरूप से प्रकाशित हो रहा हूँ। (३।२६।७-८)

हे राजा वरुण! आपने ही इस वनराजि के ऊपर विस्तृत विपुल अन्तरिक्ष को विस्तारित कर रक्खा है। आपने ही द्रुतगामी सब अश्वों में सामर्थ्य भर रक्खा है और गौओं के थनों में दूध। मनुष्यों के हृदय में बुद्धि-वृत्ति और क्रिया प्रवृत्ति के अर्पण कर्ता आपही हैं। आकाश में सूर्य और जलमध्य में तेज शक्ति को आपने रक्खा है। आपसे ही पर्वत में सोम उत्पन्न हुआ है (५।८५।२) हे वरुण! हमने अज्ञानता वश आपके नियमों का उल्लंघन किया है। तदर्थ, यज्ञ द्वारा, हविद्वारा,

* अन्नाद—Force वा Motion अन्न Matter.

स्तुति द्वारा और नमस्कार द्वारा बार २ क्षमा प्रार्थना करते हैं। हे वरुण! आप सर्वदा मनुष्य हृदय में वास करते हो एवं पाप पुण्य देखते हो,—हमारे हृदय में उठे हुए सभी भावों को आप जानते हैं। हे सर्वज्ञ! हे शक्तिमन्! हमारे आचरित पापों को शिथिल कर दीजिये (१।२४।१४)।

हे वरुण! जंगम जगत् में कोई पदार्थ (कोई भी प्राणी) आपकी भांति बल, आपकी भांति पराक्रम, आपकी भांति शक्तिको प्राप्त नहीं हुआ। इस अनिमिष-चारी जल और वायु की गति आपके वेग का अतिक्रम नहीं कर सकती (१।२४।६)। हे राजा वरुण! आपने सूर्य के गमनार्थ, पदरहित अन्तरिक्षमें मार्ग (उत्तरायण और दक्षिणायन) काट दिया है। और आप मनुष्य हृदय की पीड़ादात्री पापराशि को भी दूर हटा देते हो*। (१।२४।८) हे राजन्! मैं शीतल वारिपूर्ण जलाशय में अवस्थित रहा हूँ, किन्तु कहां तृष्णा ने तो मुझे छोड़ा नहीं! मैं विविध भोग्य पदार्थों से परिवृत रहता हूँ, किन्तु तथापि, मेरी आकाँक्षाओं की तृप्ति तो होती ही नहीं वासना तो पूर्ण ही नहीं होती!! हे वरुण! मेरी रक्षा करो (७-८६-४) मैंने मनुष्योचित दुर्बलतावश जिन कर्तव्यों का उल्लंघन किया है, तज्जनित अपराधों से मेरी रक्षा करो (७-८६-३) नमस्कार द्वारा राजा वरुण की वन्दना करो। वरुण ही अमृत के रक्षक हैं। यह परिदृश्यमान द्यावापृथिवी वरुण के ही क्रोड़ देश में अवस्थित है। वरुण हमारी रक्षा करें। हमारे लिये वरुण महाराज त्रिविध-स्थान स्थित कल्याण का विधान करें (८।४२।२)

हे मित्रावरुण! नौकाद्वारा जैसे नदी से उत्तीर्ण हुआ जा सकता है, वैसे ही हम भी आपके अनुग्रह से सत्य पथ का अवलम्बन कर समस्त पापों से निस्तार पाने में समर्थ हों! [७।६५।३]

सोम ने इस परिदृश्यमान द्यावा पृथिवी को स्तम्भित कर रक्खा है। सोम ने ही इस सप्त राशि विशिष्ट सूर्य के गमनागमन निमित्त रथ संयोजित कर दिया है। दश-धारा विशिष्ट यन्त्र निर्मित स्रोतकी भांति गौ-स्तनों से जो बहुत धाराओं में दुग्ध क्षरित होता है, यह सोम का ही प्रभाव है। सोम ही धेनु-थनों में दुग्ध-स्थापक है [६।४४।२४]। सोम ही पृथिवी का नाभि-स्वरूप है,—पृथिवी सोम का आश्रय कर ठहर रही है। सोम ही प्रकाण्ड आकाश मण्डल

* जगत् में जिन नियमों (कानून) का साम्राज्य विराजित हैं, उन नियमों का देवता वरुण हैं। वरुण केवल जड़-जगत् के नियमों का ही प्रभु है, सो नहीं, आध्यात्मिक नैतिक राज्य के नियमों का भी स्वामी है। Phgsioal law एवं Moral law दोनोंका नियामक वरुण है।

अग्नि वन रही है एवं तमोराशि को ध्वंस करके यह ज्योति का (सूर्य का) निर्माण करती है। यह देवताओं की आँख है। हे ऊषा ! हमारे शत्रुओं का नाश करो, अन्न प्रदान करो धन अर्पण करो और हमें अभयदान दो (७। ७७। १,३,४)।

देवताओं के समष्टि-स्वरूप सूर्यदेव—मित्र, वरुण और अग्नि के चक्षु हैं। स्थावर-जंगम के आत्मा हैं। सूर्यदेव ने उदित होकर द्यावा-पृथिवी और अन्तरिक्षको पूर्ण कर रक्खा है। इनका तेज अनन्त है अविनाशी है (१। १५। १,५)

विष्णुदेव के सामर्थ्य और पराक्रम की वात कैसे वर्णन करें ? इन सव पार्थिव लोकों का निर्माण विष्णु ने ही किया है और उन्होंने ही इन भूलोकादि के ऊपर वर्तमान स्थानों को स्तंभित कर दिया है। विष्णु ने ही तीन पदों द्वारा अन्तरिक्षादि लोकत्रय को आक्रमण करके रक्खा है। वे एक ही त्रिभुवन को धारण कररहे हैं उक्त तीन पदों के अतिरिक्त विष्णु का और एक परम पद भी है; यह पद मधुपूर्ण है (१। १५४। १,५)। और उद्धृत करके हम ग्रन्थ का कलेवर नहीं वढ़ाना चाहते। इस प्रकार के असंख्य मन्त्र ऋग्वेद में सर्वत्र पाये जाते हैं। ये सव उक्तियां पूर्ण अद्वैत ज्ञान की सूचक हैं। सव देवताओं का अनुभव ब्रह्मरूपसे करके ही ये सव मन्त्र लिखे गये हैं।

इस भाँति जव अद्वैत ज्ञान परिपक्व हो उठता है एवं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"-यह धारणा सुदृढ़ होजाती है, तव फिर विश्व की कोई भी वस्तु स्वतन्त्र नहीं ज्ञात होती। जिस किसी देवता का आवाहन किया जाय, जिस किसी वस्तु पर दृष्टि डाली जाय वह देवता वह वस्तु ब्रह्महो जान पड़तीहै सर्वत्र ब्रह्मका ही अनुभव होता है। इसीलिये इस अवस्था के उपयोगी अनेक मन्त्रोंमें हम यही देखतेहैं कि, जव कोई देवता उल्लिखित वा स्तुत हुआ है, तभी अन्यान्य देवता मानो उस देवता द्वारा ही क्रियावान् हैं एवं उस देवता के ही अन्तर्भूत हैं, यह स्पष्ट कह दिया गया है। अन्य देवताओं का स्वातन्त्र्य-बोध तिरोहित होकर, केवल जव उपास्य देव ही सर्वतोभाव से भीतर दर्शन देने लगता है, तभी ऐसी उक्तियां सम्भव होती हैं। अवएव हमें जान पड़ता है कि ऐसे जातीय मन्त्र वा वाक्य-साधन की परिपक्व अवस्था के ही परिचायक हैं। पाठक ! दो चार दृष्टान्त देखलें,—

त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः।
त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ८। १५। ९॥

यह मन्त्र इन्द्रको सम्बोधन करके कहा गया है। "हे इन्द्र! सब के आश्रय, महान् विष्णु और मित्र व वरुण-ये तुम्हारी स्तुति किया करते हैं। तुम्हारी मत्तता के पीछे मरुद्गण भी मत्त होते हैं"।

विश्वे त इन्द्र ? वीर्यं देवा अनुक्रतुं ददुः।
भुवो विश्वस्य गोपतिः ॥ ८। ६२। ७॥

"हे इन्द्र! तुम्हारी प्रज्ञा एवं वीर्य का अनुसरण करके अन्य सब देवता वीर्य और प्रज्ञा धारण करते हैं" *।

अभियं देवी अदितिर्गृणाति सवं देवस्य सवितुर्जुषाणा।
अभिसम्राजो वरुणो गृणन्ति अभिमित्रासो अर्यमा सजोषाः ७।३८।४॥

हे सविता! तुम्हारी प्रेरणा का अनुसरण कर, देवी अदिति एवं सम्राट् वरुण, अर्यमा और मित्र, ये सभी तुम्हारा स्तव किया करते हैं"।

महानसि सूर्य!.........मह्ना देवानाम्.........॥८: १०१। ११-१२।

"हे सूर्य! तुम सकल देवताओं के महत्व की अपेक्षा महा महिमा वाले हो"।

यस्य देवा उपस्थे व्रता विश्वे धारयन्ते ॥ ८। ९४। २

"मरुत् नामक देवता की गोद में बैठकर अन्य सकल देवता ही क्रिया करते रहते हैं"।

यस्य व्रते सजोषसो विश्वे देवासो अद्रुहः ॥ ९। १०२। ५

"सोमदेव की क्रिया में ही अन्य सब देवों की क्रिया चलती है" फिर यह भी हम देखते हैं कि—

तं त्वाजनन्तु मातरः कविं देवासः।
अङ्गिरः हव्यवाहममर्त्यम् ॥ ८। १०२। १७

"अन्यान्य देववर्ग ने अग्नि को उत्पन्न किया है"।

प्रिय पाठक! आप सुस्पष्ट देख रहे हैं कि, सब देवता स्वतन्त्र २ जड़ीय प-

---

* सर्वव्यापी इन्द्र को हम जान सकते नहीं। स्वीय सामर्थ्य के सहित अति दूर स्थित इन्द्र को कौन जान सकता है? देवगण ने उस इन्द्र में धन, बल, वीर्य को स्थापित किया है। इन्द्र ने स्वकीय प्रभुत्व प्रकट किया है "नहि नु यादधीमसि इन्द्रं को वीर्यापरः? तस्मिन् नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि संदधुः अर्च्चन्ननु स्वराज्यम्,, १। ८०। १५॥

दार्थ हैं-ऐसा अनुभव रहने पर इस प्रकार की उक्तियां कदापि सम्भव नहीं कही जा सकतीं। देवताओं के सम्बन्ध का स्वातन्त्र्य ज्ञान जब एक बार ही भग जाता है, केवल उसी समय उपास्य इष्ट-देव के प्रति ऐसी उक्तियां प्रयुक्त हो सकती हैं। जिस देवता की उपासना आरम्भ की गई है, तब देवता ही सब कुछ सर्वे सर्वा मन में लगता है। उसके अतिरिक्त दूसरों की स्वतन्त्रता की स्मृति सर्वथा विलुप्त हो चुकी है। और अद्वैत-ज्ञान पूर्ण प्रतिष्ठित होगया है।

२। देवतावर्ग की सत्ता और आत्म-सत्ता में कोई प्रभेद नहीं।

(ख) इस प्रसङ्ग में हम एक और सूक्त के प्रति दृष्टि निक्षेप करने के लिये अपने सुचतुर पाठकोंसे अनुरोध करते हैं। वेदान्त दर्शन और उपनिषदों ने हमें बता दिया है कि यथार्थ अद्वैत-ज्ञान तब उत्पन्न होता है, जब कि किसी भी पदार्थ को ब्रह्मसत्ता से भिन्न 'स्वतन्त्र, मानने की प्रतीति नहीं रह जाती। किन्तु एक बात और है। जिस प्रकार सब पदार्थों में ब्रह्मसत्ता का अनुभव करना होगा, उसी प्रकार पदार्थों में अनुस्यूत सत्ता एवं आत्मा में अनुगत सत्ता के बीच में भी ब्रह्मसत्ता का ही अनुभव कर्त्तव्य होगा। दोनों सत्ताएं एक ही हैं,-कोई भेद नहीं, ऐसा सुदृढ़ बोध होना चाहिये। अपनी सत्ता के भीतर ही सकल पदार्थों का अभिन्न रूप से बोध होना आवश्यक है। सब भूतों में जिस भाँति आत्मसत्ता या ब्रह्म-सत्ता का अनुभव किया जाता है, उसी भाँति आत्म-सत्ता में भी सब भूतों का अनुभव करना होगा। अद्वैत-वाद की प्रकृति ही यह है।

"सोऽहम् ब्रह्म" यह ज्ञान।

हम ऋग्वेद में जो अद्वैत-वाद पाते हैं; उसमें इतनी दूर तक हम यह तत्व देखते हैं कि, अग्नि सूर्यादि सकल पदार्थों के मध्य में ही ब्रह्म-सत्ता का अनुभव एवं अग्नि सूर्यादि पदार्थों की ब्रह्मसत्ता से पृथक् स्वतन्त्र न समझने का उपदेश ऋग्वेद में यथेष्ट मात्रामें विद्यमान है। इस समय हम देखेंगे कि, आत्म-सत्ता में समस्त भूतों को अनुभव करने का उपदेश ऋग्वेद में है या नहीं। यह देखने पर ही समझ पड़ेगा कि उपनिषदों तथा वेदान्त दर्शन ने जिस अद्वैत-वाद की शिक्षा दी है, वही अविकल ज्यों का त्यों ऋग्वेद में लिखा हुआ है। और वेदान्त दर्शन में व्याख्यात अद्वैत-ज्ञान-ऋग्वेदसे ही लिया गया है।

दशम मण्डल में "वाक् सूक्त" नाम से अति प्रसिद्ध एक सूक्त है। आज भी यह सूक्त हिंदू-घरोंमें बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ पढ़ा जाता है। इस सूक्तमें ऋषि-कन्या ने अपनी आत्मा में, सब देवताओं को, सब जगत् को अन्तर्भुक्त करके एक

ब्रह्मानन्द का भली भांति अनुभव किया है। हम इस सूक्तकी कई ऋचाएं सुनाये दे ते हैं। पाठक ध्यान देंगे, आत्म सत्ता ही विश्व के विविध पदार्थों के आकार से भिन्न २ क्रियाओं को कर रही है, यह विषय कितनी स्पष्टता से कह दिया गया है।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥१०।१२५।१
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा: व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूरि आवेशयन्तीम् ॥३॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति यईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवंते वदामि ॥४॥
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वाऽउ ।
..........अहं द्यावा-पृथिवी आविवेश ॥५॥
अहमेव वात इव प्रवामि आरभमाणा भुवनानि विश्वा ।
...अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन् मम योनिरप्सु अन्तःसमुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवनानि विश्वा उतामूं द्यांवर्ष्मणा उपस्पृशामि॥ ७
...परो दिवो परएना पृथिव्या एतावती महिना संबभूव ॥८॥

"मैं ही रुद्रगणों और वसुगणों के साथ विचरण करती हूं। मैं ही आदित्य-गणों एवं सब देवताओं के सङ्ग रहती हूं। मैं ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनी कुमारों को धारण कर रही हूं"।

"इस विश्व-राज्य की मैं ही अधीश्वरी हूँ। जो यज्ञानुष्ठानकारी हैं, उनके मध्य में सबसे प्रथम मैं ही यज्ञ-तत्व समझ सकी हूँ। देवताओं ने मुझे ही नाना स्थानों में विविध रूपों से स्थापित किया है। मेरा आश्रय-स्थान विस्तृत है एवं मैं ही एकाकी विस्तर-स्थान में आविष्ट हो रही हूँ। दर्शन, श्रवण, प्राणन, शब्द-उच्चारण एवं अन्न-भोजन—इत्यादि भिन्न २ क्रियायें मेरी सहायता से सुसम्पन्न हुआ करती हैं। जो लोग मेरे कथन पर श्रद्धा नहीं रखते, उनका विनाश ही हो जाता है। रुद्र देव जब शत्रुओं के नाशार्थ उद्यत होते हैं, तब मैं ही उनको आयुध प्रदान करती हूं। द्यु-लोक और भूलोक में मैं ही प्रविष्ट हो रही हूं"।

"मैंने ही वायु वा स्पन्दन-शक्ति-रूप से अभिव्यक्त होकर, विश्व के समस्त कार्यों का आरम्भ किया था। आकाश का प्रसव मैंने ही किया है और समुद्र-जलके

भीतर मेरी योनि निहित है *। उस योनि या स्थान से ही समस्त विश्व विस्तारित हुआ है। मैं आत्म-देह द्वारा द्युलोक को स्पर्श कर रही हूं"।

"मेरी महिमा द्युलोक का भी उल्लंघन कर गई है और पृथिवी का भी अतिक्रम करती है"।

पाठक देखते हैं, इन्द्र, वायु, अग्नि, सूर्य प्रभृति में जो ब्रह्मसत्ता अनुस्यूत हो रही है एवं अपने में जो आत्मसत्ता है,—इन दोनों सत्ताओं का एकत्व-बोध इस सूक्त में कैसा परिस्फुट है। चतुर्थ मण्डल के "वामदेवीय" सूक्तके २६ और २७ वें सूक्तमें भी यह आत्म-बोध परिस्फुट पाया जाता है। उस स्थल में वामदेव ऋषि कहते हैं—

"मैं ही मनु" मैं ही सूर्य हुआ हूं। कक्षीवान् नामक ऋषिभी मुझे ही जानना। मैं ही कवि उशना हूं, मेरा दर्शन करो"? मैं इन्द्र हूं। मैंने ही सोम-पान से मत्त होकर शम्बर के नव-नवति संख्यक नगरों को एक काल में ध्वंस किया है। मैं गर्भ के मध्यमें रहकर ही देवतागणों के जन्म-तत्व से परिचित हुआ हूं। गर्भ में शतलोह मयी शरीर मुझे आच्छादित किए था, इस समय वेग के साथ मैं शरीर से बहिर्गत हुआ हूं" †।

देवतावर्ग यदि स्वतन्त्र २ जड़ पदार्थ ही हों, तो "मैं इन्द्र हूं, मैं ही मनु हूं, मैं ही सूर्य हूं"—इस प्रकारके वाक्य कदापि सम्भव नहीं हो सकते। इन्द्रादिमें जो सत्ता अनुस्यूत है, वह सत्ता तथा आत्म-सत्ता एक व अभिन्न हुवे विना, ऐसी उक्तियां नहीं निकल सकतीं। इसलिये बाहरी पदार्थ-मध्य-गत-सत्ता और आत्म सत्ता में

---

* यहां पर 'समुद्र, शब्द-द्वारा, सृष्टि के प्रथम अभिव्यक्त लघु, तरल असीम वाष्पराशि (Naburlovrs matter) नीहारिका पुंज का निर्देश है। इस वाष्प पुंज से विश्व निर्मित हुआ है। ऋषि कन्या अनुभव करती है कि, आत्म सत्ता ही उस नीहारिका-पुञ्ज में अनुप्रविष्ट है। वही उसकी 'कारण सत्ता, है। सुतराम् बहिस्थ सत्ता और आत्म-सत्ता में कोई भेद नहीं है।

† अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाहृ ऋषिरस्मि विप्रः।...अहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥ अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नवसाकं नवतीः शम्बरस्य। २। गर्भेनु सन्नन्वेषा मवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतंमापुरआयसीररक्षन्नधश्येनो: जवसा निरदीयम् ॥४। २७। १॥ सायणाचार्य लिखते हैं कि, "जब वामदेव ने समझा कि, आत्म-वस्तु देहादि जड़-वस्तुओं से पृथक् स्वतंत्र है, तभी वे गर्भ से बहिर्गत हुए। ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि के भय से और अधिक उद्धृत नहीं हुआ। ऐतरेय उपनिषद् में भी यह मन्त्र मिलता है।

अभेद भावना या एकत्व की अनुभूति ही ऋग्वेद का चरम लक्ष्य है। और यह अद्वैत-वाद का एक मात्र लक्ष्य है। ऋग्वेद के अन्यान्य मण्डलों में भी विक्षिप्त-रूप से इस आत्म-बोध का विवरण मिलता है। हम दृष्टान्त रूप से कुछ स्थल ग्रहण करते हैं—

चतुर्थ मण्डल के ४२ वें सूक्त के प्रथम कई एक मंत्रों में भी मंत्र-द्रष्टा ऋषि, आत्मसत्ता के मध्य में ही इन्द्रादि समस्त देवताओं का अनुभव करते हैं एवं अपने अनुभव को इस प्रकार प्रकाशित करते हैं—

"हम समस्त विश्वके अधिपति हैं। सब देवगण हमारे हैं। हम वरुण हैं सभी देवता वरुण के कर्मोंका अनुसरण करते हैं। सुतरां देवता हमारा ही अनुकरण करते हमारे अनुगत हैं; मनुष्यों के भी राजा हमहीं हैं"

"हम इन्द्र और वरुण हैं। महिमा में विस्तीर्ण और दुरवगाह्य यह द्यावा-पृथिवी भी हम हैं। हम ही "त्वष्टा" की भांति समस्त भूतोंको चैतन्य प्रदान करके द्यावा-पृथिवी को धारण कर रहे हैं"।

"हमही जल सेचन करतेहैं एवं हम 'ऋत'के स्थानमें आकाशको धारण किये हैं।"

"हमने सब कर्म किए हैं, हम अप्रतिहत, दैवबलविशिष्ट हैं, कोई हमारा प्रतिरोध नहीं कर सकता *" इत्यादि।

इस प्रकार ऋग्वेद हमें अद्वैत वाद की शिक्षा देता है। हम न समझ कर ही कह डालते हैं कि ऋग्वेद केवल जड़ वस्तुओंकी बातों से भरी हुई पुरानी पोथी है!

---

* मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः। क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः ॥१॥ अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वा उर्वी गभीरे रजसी सुमेके। त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च ॥३॥ अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदने ऋतस्य ॥४॥ अहं ता विश्वा चकरं न किर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम् ॥५॥ फिर लिखा है कि,—कृणोम्याजिं मघवाह मिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः ॥५॥ इत्यादि अर्थात् संग्रामेच्छु योद्धा पुरुष हमारा ही अनुगमन करते हैं। हम इन्द्र होकर उन का युद्ध निष्पन्न करा देते हैं। हम अभिभव कर बल धारी हैं हम ही रणक्षेत्र में धूलि पटल उत्थित करते हैं इत्यादि १०।६१ सूक्तके "इमं मेनाभिरिहमे सधन्यं इमे मे देवा अयमस्मि सर्वः। द्विता अहं प्रथमजा ऋतस्य," इत्यादि मंत्रों में भी 'सोऽहम् ब्रह्म' ज्ञान देदीप्यमान है। १०। १८३। २ प्रभृति स्थल देखने योग्य हैं।

२६ । ऋग्वेद की उपर्युक्त सब समालोचना से हम इस सिद्धान्त में ही पहुँचते हैं कि ऋग्वेद का एकमात्र लक्ष्य अद्वैतवाद ही है । उपनिषदों में हम जो अद्वैतवाद देखते हैं और वेदान्त दर्शन में हम जिस अद्वैतवाद की विस्तृत व्याख्या पढ़ते हैं वह अद्वैतवाद ऋग्वेद की ही सम्पत्ति है एवं ऋग्वेद से ही लिया गया है। पाश्चात्य पण्डितवर्ग कहा करते हैं कि अद्वैतवाद का अस्फुट अंकुर एवं ब्रह्म के एकत्व की धारणा ऋग्वेद के दशम मण्डल में ही कुछ कुछ पाई जाती हैं किन्तु हमारी इस आलोचना से पाठकगण जान गये होंगे कि ऋग्वेद के सभी मण्डलों में अद्वैतवाद की परिस्फुट धारणा और आलोचना है । ऋग्वेद का प्रथम मण्डल ही ऋग्वेद का द्वार है। इस प्रथम मण्डल में ही अद्वैतवाद की भित्ति दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हुई है* यहां तक कि प्रथम मण्डल के प्रथम मन्त्र में ही अद्वैतवाद का सम्पूर्ण तत्व अतीव सुस्पष्टता एवं आश्चर्य कौशल से निहित किया गया मिलता है । हम आपको पहला मन्त्र व्याख्या के सहित सुनाते हैं । मंत्र यह है—

प्रथम मंडल ही अद्वैतवाद की भित्ति है। प्रथम मंत्र में ही अद्वैतवाद का सब बातें मिलती हैं।

अग्निमीले पुरोहितम् ।

यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।

अग्नि ही यज्ञ का उपास्य देवता है । जो उपासक हैं, जो यज्ञ करने बैठे हैं, पुरोहित, होता एवं ऋत्विक् ये सब ही वह अग्नि हैं । और अग्नि ही पृथिवी के रत्न, धन, माणिक्यरूप से परिणत हो रहा है । ऐसे अग्नि की हम पूजा करते हैं ।

प्रिय पाठक ! इस मन्त्र के अर्थ को विशेष प्रकार से लक्ष्य बनाइये । हम उपनिषदों तथा वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद का जो स्वभाव देख आये हैं उस में हम ने यही पाया है कि आधिदैविक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक इन तीन प्रकार के पदार्थों का अभेद बोध होनेपर ही अद्वैतवाद सुसम्पूर्ण हो जाता है। आधिदैविक आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक सकल पदार्थों की मध्यगत सत्ता एक वा अभिन्न है ऐसा बोध दृढ़ीभूत हो जाना ही अद्वैतवाद है। हम ऋग्वेद के उक्त प्रथम मन्त्र में भी यही महातत्व यही महान् एकत्व बोध ही सुन्दर रीतिसे समुपदिष्ट देखते हैं ।

---

* प्रथम मण्डल के १६३ । १६४ प्रभृति सूक्त विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं । इन सूक्तों में सूर्य के भीतर जगत् की मूलकारणसत्ता का अनुभव देदीप्यमान है। इनके अतिरिक्त और भी सूक्त ऐसे हैं जो ब्रह्मसत्ता के वर्णन से ही परिपूर्ण हैं ।

आप जानते हैं, आधिभौतिक सुवर्ण, हिरण्य, मणि, रत्नादि पदार्थ तैजसिक हैं। तेज ही उनका प्रधान उपादान है, पार्थिव परमाणुओं के सहित तैजसिक परमाणुओं के योग से रासायनिक विकार होकर, सुवर्ण आदिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सुतरां अग्नि ही सुवर्णादि पदार्थाकार से परिणत होरहा है। पुरोहित, ऋत्विक् और होता ये यज्ञकारी के श्रेणीविभाग मात्र हैं। एक यज्ञ निष्पन्न करने के लिये एक जन होना आवश्यक है एवं उनके सहायक रूप से अन्य पुरोहित तथा ऋत्विक् भी आवश्यक हैं*। जो यज्ञ करने बैठे हैं, उनकी सत्ता एवं उपास्य देवता की सत्ता में कोई भेद नहीं है। उपास्य अग्नि में जो ब्रह्मसत्ता अनुप्रविष्ट है, उपासक में भी वही सत्ता ओत प्रोत या अनुस्यूत है। और उस उपासक की जो सहायता करते हैं उनमें भी वही सत्ता अनुस्यूत है। इसी कारण अग्नि को ही पुरोहित, होता और ऋत्विक् कहा गया है। एक बात और है। यज्ञ में दक्षिणा स्वरूप से रत्न व धनादि पदार्थ दान किये जाते हैं। सुतरां रत्नादिक वस्तु यज्ञ के उपकरण मात्र हैं। एतावता हम समझते हैं कि यज्ञ के उपास्य, यज्ञ के उपासक एवं यज्ञ की उपकरण सामग्री में कोई भेद नहीं है, इन सबों के बीच में एक ही सत्ता अनुप्रविष्ट है, यह प्यारा अद्वैतवाद ही प्रथम मन्त्र में स्पष्टतः उपदिष्ट हुआ है। हम दशम मण्डल के २० वें सूक्त के षष्ठ मन्त्र में देखते हैं कि—

"स (अग्निः) हि क्षेमो हविर्यज्ञः"।

अग्नि ही हवि (यज्ञ का उपकरण) एवं अग्नि ही यज्ञ है। इस कथनसे सिद्ध होता है कि, यज्ञ की सामग्री में, यज्ञ में, यज्ञ के उपास्य देव में एवं यज्ञ के उपासक में—एक ही सत्ता अनुप्रविष्ट है, इनमें कोई भेदभाव नहीं है, ऋग्वेद ऐसी ही घोषणा उच्चस्वर से कर रहा है। हम श्रीमद्भगवद्गीता में भी अविकल इसी भाव का एक श्लोक देखते हैं—

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्"

ऋग्वेद ने इस भांति से ग्रन्थारम्भ में, सर्वप्रथम मन्त्र में अद्वैतवाद के ज्ञातव्य मूलतत्त्व को बड़ी सुन्दरता तथा चतुरता से ग्रथित कर रक्खा है। नहीं समझने वाले भाई कह देते हैं कि, ऋग्वेद जड़ोपासना का ग्रन्थ है।

इस उपलक्ष में हम पाठकों से एक और बात कह कर इस अवतरणिका को

* "त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः। प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः" (१।९४।६) अध्वर्यु, होता, पोता और पुरोहित-ये पुरोहित की ही भिन्न २ संज्ञा हैं।

समाप्त कर देंगे। ऋग्वेद में बार २ अग्नि देवताओं का "दूत" कहा गया है। अग्नि देवताओं के निकट हवि ले जाता है, इसलिये अग्नि देवताओं का "दूत" है। क्यों अग्नि को दूत कहा गया? इस प्रश्न का उत्तर ऋग्वेद दशम मण्डल के एक सूक्त में स्वयं ही देता है। उस मन्त्र में कहा गया है कि, "जो मनुष्य केवलमात्र "अमृत" प्राप्ति के उद्देश्य से अग्नि में हवि डालता है, केवल उस मनुष्य के सम्बन्ध में ही अग्नि "दूत" होता है एवं "पुरोहित" बनता है *। अर्थात् जो सब साधक अग्नि में अनुप्रविष्ट "अमृत" वा अविनाशी कारण-सत्ता को लक्ष्य कर यज्ञाचरण करते हैं वे ही इस महान् तत्व को समझ पाते हैं कि, अग्नि में प्रविष्ट सत्ता एवं देवताओं में प्रविष्ट सत्ता दोनों एक हैं (सुतरां अग्नि देवताओं के समीप यज्ञ-वहन-कारी दूत है) †। फिर वे साधक यह भी समझ पाते हैं कि अग्नि में प्रविष्ट सत्ता और अपने राम में प्रविष्ट-सत्ता, दोनों एक हैं (इस लिये अग्नि 'पुरोहित, है)। इसी उद्देश्य से अग्नि का निर्देश "दूत" एवं "पुरोहित" शब्द से किया गया है।

इस रीति से ऋग्वेद ने श्रीगणेश से ही महान् एकत्व—पूर्ण-अद्वैत-वाद का तत्व उद्भावित किया है।

अग्नि ही उपास्य एवं अग्नि ही उपासक है। इस कथन से यही तत्व प्रदर्शित हुआ कि, जो सत्ता जड़ीय अग्नि में अनुप्रविष्ट है; वह सत्ता ही उपासकमें अनुप्रविष्ट है। और फिर वह सत्ता ही उपास्य वस्तु है। भारतीय अद्वैतवादकी जो मूल बात है—सर्वत्र ब्रह्म-सत्ता का अनुभव-वही ऋग्वेद की पहली श्रुति में विराजमान है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि, ऐसे स्पष्ट निर्देश के होते हुए भी हम ऋग्वेद की अग्नि आदि वस्तुओं को केवल जड़ पदार्थ मात्र मानने का दुःसाहस कर बैठते हैं! हा! अभाग्य!!! हमारा ऋग्वेद सर्व-प्रथम मन्त्र में अभेद-बोध की बात बताकर, सबसे अन्तिम मन्त्रमें भी अद्वैत-वाद का ही शंखनाद कर रहा है! सुनिये—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

तुम्हारा मन एक हो हे मनुष्यो? तुम सबोंके मनका अभिप्राय एक हो! तुम्हारा

---

* यस्तुभ्यमग्ने "अमृताय" मर्त्यः समिधादाशदुत वा हविष्कृति। तस्य होता भवसि यासि दूत्य १मुपब्रूषे यजसि अध्वरीयसि॥ १० । ९१ । ११ ॥

† हविका वाहक, उपासना का वाहक।

हृदय एक हों! तुम सब परस्परका भेद-भाव भूल जाओ। तुम सभी एक हो-तुम्हारे इस महत्वके मध्यमें जो एकत्व देदीप्यमान है-उसीको दृढ़ता से पकड़ लो तुम सब अंशों में सम्पूर्ण-रूप से एकमन बन जाओ! पाठक देखें, एकत्व का कैसा सुन्दर उपदेश है। अन्तिम सूक्त में ऋग्वेद ने यह भी बता दिया है कि,-ऋग्वेद के उपास्य देवताओं में भी कोई भेद नहीं है,-देवता सब ही एक हैं।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।
समानेन हविषा जुहोमि॥

"प्राचीनकाल की भांति, वर्तमानकालमें भी देवता एकमत होकर यज्ञ-भाग ग्रहण करते हैं। हम लोग जो पृथक् पृथक् यज्ञ में हवि प्रदान करते हैं, सो सब हवि एक हो जाय"! यज्ञ की सामग्री में भी कोई भेद नहीं है। पाठक लक्ष्य करें, ऋग्वेद में सर्व प्रथम—ग्रन्थारम्भ में जो अद्वैत-वाद की, एकत्वकी सूचना है; वही अन्त में भी है। ग्रन्थ की परिसमाप्ति में भी एकता की ही जय-जयकार हो रही है। अन्त में भी उपास्य और उपासकका * एकत्व या अद्वैत-वाद "सोऽहम् ब्रह्म" उपदिष्ट हुआ है। निष्कर्ष यह कि आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र ही ऋग्वेद "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" "प्रज्ञानं ब्रह्म" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का पाठ पढ़ा रहा है-ब्रह्म ही ब्रह्म दिखा रहा है। और ऋग्वेदोक्त यही ब्रह्मवाद-वृक्ष अद्वैत वाद कल्पतरु-उपनिषदों में हरा भरा लहलहा रहा है। ॐ तत्सत्॥

टेढ़ा, उन्नाव, } नन्दकिशोर शुक्ल

---

* तुम्हारा मन एक हो, हृदय एक हो-इत्यादि द्वारा उपासकों का एकत्व बोध कथित हुआ है। देवता एक मत होकर हवि ग्रहण करें इस कथन से उपास्य देवताओंकी एकता सूचित हुई है। और "हमारी प्रदत्त हवि एक हो" इस उक्ति द्वारा यज्ञ सामग्रीका एकत्व उपदिष्ट हुआ है। तात्पर्य यह कि, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सभी वस्तुओं का सुन्दर एकत्व या अद्वैत वाद ऋग्वेद में स्पष्ट दर्शन देकर हमें भली भांति कृतार्थ कर रहा है।

अवतरणिका
समाप्त ।
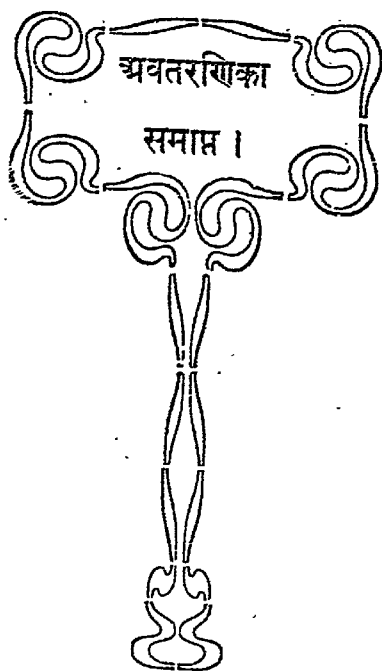
उपनिषद् का उपदेश

तृतीय खण्ड।

प्रथम अध्याय।

अविद्या और विद्या।

प्राचीन काल में, भारतवर्ष के अरण्य-मध्यवर्ती एक प्रशान्त, निर्जन आश्रम में ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में एक दिन इस प्रकार का उपदेश दिया गया था—

"हे प्रिय शिष्यवर्ग! यह जो तुम्हारे सम्मुख विशाल विश्व-पट फैला पड़ा है, यह नाम-रूपके चित्रों से रञ्जित है। इस विश्व के सब ही पदार्थोंका कोई न कोई रूप वा आकृति है; सब पदार्थों का कोई न कोई नाम है। किन्तु ये नाम रूप असत्य हैं इनके भीतर जो सत्ता अनुप्रविष्ट है, वही एक मात्र सत्यवस्तु है। ये नाम-रूप तो विकारी हैं, ये सर्वदा बदला करते हैं, परिवर्तित होते रहते हैं; अवस्थान्तर धारण करते हैं। ये एक कारण सत्ता से ही अभिव्यक्त हुए हैं; उस कारण-सत्ता के ही ये अवस्थान्तर आकारविशेष हैं। इनकी अपनी कोई 'स्वतन्त्र' सत्ता नहीं है। उस कारण-सत्ता में ही इनकी सत्ता है; उसके ही स्फुरण में इनका स्फुरण है जिनकी अपनी निजी सत्ता नहीं; वे कदापि सत्य नहीं हो सकते, अतएव नामरूप असत्य हैं। और इनके भीतर जो कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है, जिस कारण सत्ता द्वारा ही इनकी सत्ता है वह कारण-सत्ता ही एक मात्र सत्य वस्तु है *। और सर्व पदार्थों में अनुस्यूत वह कारण-सत्ता ही एक ब्रह्म तत्व है †। इसके द्वारा समग्र विश्व परिव्याप्त है। यह ब्रह्म जैसे सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट है, उसी प्रकार जीवों में भी अनुप्रविष्ट है।

---

* इस कथन से जगत् अलीक होकर उड़ नहीं जाता, पाठक विचार करें। भाष्यकार ने अन्यत्र अलीक एवं असत्य में भेद स्वीकार किया है। शङ्करमत में जगत् इस भावसे ही 'असत्य' है। द्वितीय खंड की अवतरणिका में अति विस्तृत रूप से यह तत्व आलोचित हुआ है।

† यह कारण सत्ता निर्विशेष ब्रह्म सत्ता व्यतीत स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं। पूर्ण निर्विशेष ब्रह्मसत्ता ही सृष्टिके प्राक्काल में विश्वाकार से अभिव्यक्त होने के लिये उन्मुख हुई थी। विश्वाकार धारण की उन्मुखावस्था ही जगत् की पूर्वावस्था है। किन्तु इस अवस्थान्तर द्वारा निर्विशेष ब्रह्मसत्ता के स्वातन्त्र्य की हानि नहीं होती। सुतरां कारण सत्ता ब्रह्मसत्ता मात्र है।

जो महात्मा उन सब पदार्थों में केवल उस कारण-सत्ता या ब्रह्मज्योति का अनुभव करने में समर्थ हैं; वे किस प्रकार सांसारिक धन-जन, मान-यश की कामना करेंगे ? क्योंकि वे जानते हैं, कि संसार के धन-जन और मान-यश की वास्तविक सत्ता नहीं है; ये असत्य हैं, ये चञ्चल हैं; इनकी स्थिरता नहीं ! विद्वान् जानते हैं कि, सकल पदार्थों के मध्य में एक कारण-सत्ता ब्रह्म-सत्ता ओतप्रोत होरही है। यदि यह ब्रह्मसत्ता उठा ली जाय, तो किसी पदार्थ का भी अस्तित्व नहीं रह जाता। किसी भी कार्य की, कारण-सत्ता से पृथक् 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं है *। जिसकी निजी सत्ता ही नहीं, तादृश विषय की कामना किस प्रकार की जायगी ? इस लिये विद्वान् पुरुष संसार की किसी कामना द्वारा उद्विग्न नहीं होते। किसी अन्याय उपाय से किसी का धनादि ग्रहण करने में भी इच्छा नहीं रखते ! कारण कि यह तत्वदर्शी जन इस बातका सदा अनुभव किया करते हैं कि 'संसार में धनादि पदार्थोंका अस्तित्व ही कहां कैसा है ! ब्रह्मसत्ता व्यतीत अन्य किसी की सत्ता कहां है ? ऐसे अनुभव के फल से ये लोग सांसारिक किसी वस्तु में भी निमग्न नहीं होते, किसी वस्तुकी भी अभिलाषा नहीं रखते। सर्वदा सर्वत्र उस ब्रह्मसत्ता के अनुभव में ब्रह्मानन्दमें ही सुतृप्त रहा करते हैं हे शिष्यवर्गो ! तुम इस प्रकार अनुभूति लाभ करने में समर्थ होने के लिये अभ्यास बढ़ाओ।

अन्यथा एक बार ही ऐसी अनुभूति का लाभ होना संभव नहीं। पृथिवी में संसारासक्त जीवों की ही संख्या अधिक है। जो मूढ़ संसारमग्न हैं, जो केवलमात्र इन्द्रियतृप्ति को ही मनुष्य जीवन का एक मात्र लक्ष्य मान लेते हैं, जो स्वाभाविक प्रकृतियों के ही दासानुदास बने हैं, ऐसे पुरुष सहसा किस प्रकार ब्रह्मसत्ता का अनुभव करने में समर्थ हो सकते हैं ? ये इन्द्रिय सुख से भिन्न अन्य किसी आनन्द का सम्वाद नहीं जानते। ये लोग अपने आप को ही निग्रह अनुग्रह का प्रभु, क्षमता-

* हार, वलय, कुण्डल में स्वर्ण की ही सत्ता अनुप्रविष्ट है, ये स्वर्ण-सत्ता के ही आकार विशेष, अवस्थान्तर विशेष हैं। किन्तु अवस्थान्तर धारण करने पर भी स्वर्णसत्ता ठीक बनी ही है उसके स्वातन्त्र्य की हानि नहीं हुई। स्वर्णसत्ता को उठा लो, तुम्हारी हार नहीं, वलय नहीं, कुण्डल भी नहीं किन्तु हार वलय कुण्डल तोड़ डालो, स्वर्णसत्ता ठीक बनी रहेगी। अन्य दश बीस अलंकार बना लो, तब भी स्वर्णसत्ता ज्यों की त्यों बनी ही रहेगी। उक्त सभी रूपान्तरों में सुवर्णसत्ता अटूट रहती है। "कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव। नहि विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति"'स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्"। वेदान्तभाष्य, २।१।१८

शाली "ईश्वर" समझते रहते हैं*। परलोक की कथा, ब्रह्म की कथा, आत्म सुख त्याग की कथा इनके चित्त में स्थान नहीं पाती। ये अन्धे, जड़धर्मी होते हैं। इनके कल्याण का क्या उपाय है? इनके पक्ष में, ऋग्वेद में उपदिष्ट अग्निहोत्रादि यज्ञानुष्ठान करना ही आवश्यक कर्त्तव्य है। वैदिक यज्ञों में प्रथमतः, अग्नि, सूर्यादि देवताओं की उपासना बताई गई है। स्वर्गसुख पाने की आशा दी गई है। अवश्य ही ये सब देवता प्रथमतः स्वतन्त्रवस्तु बोधसे ही उपास्य हैं। किन्तु इस प्रकारके उपदेश का विशेष फल है। इन्द्रियसुख ही एक मात्र सुख नहीं है, इन्द्रियसुखकी अपेक्षा एक अधिक स्वर्गीय सुख भी है, संसारमग्न के चित्त में यह बैठा देना ही इस उपदेशका लक्ष्य है। ये लोग अपने को प्रभु और ईश्वर मानते रहते हैं। अपने आगे दूसरे प्राणी को बाल बराबर भी नहीं समझते। किन्तु देवोपासना में, ऐसे मदमत्तों को यह समझा दिया जाता है कि,उनसे अधिक शक्तिशाली भी सुख-दुःख-प्रद स्वतन्त्र कोई देवता हैं। तब अहंकारी जीव अपनेसे बड़े समर्थ देवताओं की पूजा में लग जाते हैं। संसार निमग्नता के परिवर्तन में उनको देवोपासना में लगा दिया जाता है। एतदर्थ ही पहिले सकामयज्ञ विहित हुआ है। इस प्रकार कर्मों के अनुष्ठान से सांसारिक विविध अशुभ कर्मों के हाथ से-पर पीड़ादि पापकर्मों के जाल से-उद्धार पाया जाता है। इसी लिये सर्वप्रथम यावज्जीवन अग्निहोत्रादि देवकर्मानुष्ठान उपदिष्ट हुआ है। जो लोग नितान्त मूढ़ हैं, जिनके मन में ब्रह्मज्ञान का कोई आलोक प्रवेश नहीं करने पाता, उनके लिये ऐसे यज्ञानुष्ठान व्यतीत अन्य कोई उपाय नहीं है। इसी के फल से क्रमशः चित्त ब्रह्मज्ञान-लाभ के उपयोगी हो जायगा।

हाय! जो लोग ब्रह्मज्ञान का कोई समाचार जानते नहीं, जानना चाहते भी नहीं, वे मृत्युके पश्चात् अज्ञानान्ध जीववृन्दमें ही जन्म ग्रहण करते हैं। ये आत्मघाती हैं। सर्वत्र अवस्थित ब्रह्मसत्ता को समझते नहीं। इन के मन की मलीनता तो इतनी प्रबल है कि उज्ज्वल ब्रह्मज्योति भी इनके समीप इनकी मलीनता द्वारा आवृत होपड़ी है। हाय! ये लोग अजर, अमर, अभय, अमृत आत्मतत्व को जानते नहीं! बड़े मूर्ख हैं! अपनी इन्द्रियोंकी तृप्ति कामना ही किया करते हैं। ये मूढ़ पुत्र-वित्त,धन जनादि से परिवृत होकर अपने दम्भसे गगन कम्पित करते रहते हैं। हाय! यह जानते नहीं कि केवलमात्र इस रूप से जीवन यापन करना मनुष्य का कर्त्तव्य नहीं है लक्ष्य नहीं

---

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ऐसे व्यक्तियों का बड़ा ही सुन्दर अथच सत्य वर्णन करते हैं 'ईश्वरोऽहमहंभोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी। आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया। आशापाशशतैर्बद्धाः ... धनमानमदान्विताः' इत्यादि। (गीता, १६। ८।१८)

है। इस भांति अज्ञानाच्छन्न होकर जीवन बिताने से, इस जीवन में भी तृप्ति का लाभ नहीं किया जा सकता क्योंकि इन्द्रियसुख चञ्चल होता है, इन्द्रियोंकी शक्ति भी क्षणिक होती है, मन की आशायें बढ़ती ही जाती हैं, एक वासना पूरी करो दूसरी शिर पर चढ़ी है। शरीर छूटने पश्चात् अज्ञानाच्छन्न अन्धकारमय लोकों में जन्म पाना तो निश्चित है ही। जिन लोकों में ज्ञानप्रकाश का किञ्चित् भी संचार नहीं है।

और भी एक श्रेणी के लोग हैं, जो इस जड़ जगत्के जड़ीय उपादान निर्णय में यावज्जीवन व्यस्त रहते हैं। जड़ जगत् के जड़ीय पदार्थ, एक जड़ीय उपादान से –प्रकृति से-अभिव्यक्त हुए हैं। सकल काम कर्मों की बीजभूत इस अन्धी प्रकृतिको* लेकर ही ये लोग जीवन बिता देते हैं। ये धारणा नहीं कर सकते कि, यह प्रकृति जड़ नहीं है, यह चेतन सत्ता का ही एक अवस्थान्तर मात्र है†। ये समझते नहीं कि ब्रह्मसत्ता से 'पृथक्' इस प्रकृति की सत्ता नहीं है। वास्तव में यह प्रकृति भी ब्रह्म सत्ता मात्र है। सुतरां इस जगत् का मूल जो चेतन–सत्ता है, उस की धारणा सब लोगों को आदि में हो ही नहीं सकती। जैसे पृथक् २ जड़ वस्तुओं की, ब्रह्मसत्ता से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वैसे ही इनके उपादान (प्रकृति) की भी स्वतन्त्रसत्ता नहीं है। एक चेतन सत्ता ही सर्वत्र सब काल में देदीप्यमान है। उससे भिन्न अन्य किसी की भी स्वाधीन सत्ता नहीं है। इस परम सत्य सिद्धान्त को संसारी लोग नहीं जान सकते। इनको चेतनसत्ता का कुछ भी अनुभव नहीं होता। ये लोग जड़-धर्मों का विश्लेषण करके, जड़ीय उपादान को ही विश्व के मूल में स्थापित करते एवं यावज्जीवन इस जड़ भावना में ही आबद्ध रहते हैं। ये भी जड़ बुद्धि होते हैं। अन्त जड़शक्ति की भावना वश ये लोग इस लोकमें तृप्ति नहीं पाते और परलोकमें भी उस अन्धजड़ प्रकृति में ही लीन रहते हैं‡। सत्य है कि, ये लोग प्रकृति देवी की विविध सम्पत्तियों को देख पाते हैं, किन्तु वे सम्पत्तियां और सारी विभूतियां ब्रह्म की ही

---

* मूल में इसका निर्देश 'असम्भति' शब्द द्वारा किया गया है। 'असम्भूतिः = प्रकृतिः, कारणमव्याकृताख्यं, ... अविद्या कामकर्मबीजभूता, अदर्शनात्मिका' भाष्यकार। यह जड़ जगत् को उपादान शक्ति है, सो बात भाष्यकार और आनन्दगिरि ने गौड़पादकारिका के दूसरे श्लोक की व्याख्या में कह दी है।

† यही परमार्थदर्शी का अनुभव है।

‡ मूल में हैं 'अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते,। भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य 'अन्धं' तम शब्द का अर्थ प्रकृति में लय करते हैं।

हैं—यह तत्व नहीं समझते। प्रकृति को स्वाधीन जड़ीय-उपादान ही मानते हैं। ये जानते नहीं कि, प्रकृति की स्वाधीनता नहीं, प्रकृति-ब्रह्मसत्ता मात्र है *।

इस प्रकार दो श्रेणीके जो संसारी जीव हैं, उनके मनमें ज्ञानालोक प्रस्फुटित करने के उद्देश्य से देवोपासना विहित हुई है, यह बात पूर्व में कही जा चुकी है। केवल सांसारिक कर्मों के स्थान में, कर्मोंके साथ देवता ज्ञान मिला लिया जाता है। नतुवा, केवल कर्मों के आचरण से भी कोई फल नहीं निकलता। केवल देवोपासना से भी कोई शुभ फल उत्पन्न नहीं होता। मनुष्यों के चित्त में ब्रह्मसत्ता का बोध अंकुरित हो इसी लिये तो देवाराधना बताई गई है। चित्त में केवल जड़ीय भावना के बदले, उसके स्थान में चैतन्य का प्रकाश सञ्चारित करने के लिये ही यज्ञ-पद्धति उपदिष्ट है। इस यज्ञानुष्ठान और देवोपासना के प्रताप से स्वाभाविक अंध प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अज्ञानी लोग जो सांसारिक कर्म किया करते हैं, वह निष्फल है, क्रमपूर्वक मनमें ऐसी धारणा आने लगती है। पश्चात् देवताओं की सत्ता और अपनी सत्ता एक व अभिन्न है इस ज्ञानका आरम्भ होजाता है। इस प्रकार संसार-निमग्नता कट जाती या संसारासक्ति छूट जाती है।

तत्पश्चात् देवताओंकी स्वतन्त्रता का बोध भी तिरोहित होने लगता है। अग्नि आदि देवता कार्यमात्र हैं। कार्यमात्र ही कारणसत्ता की अभिव्यक्ति है। सुतरां देवतावर्ग भी कारण-सत्ता की अभिव्यक्ति हैं। इस जगत् का कारण कौन है? कहाँ है? इससे प्रयोजन नहीं था, अभी तक देवताओं को अपनी अपेक्षा अधिक ज्ञान शक्ति सामर्थ्य प्रभुताशाली ईश्वर समझ कर ही तो पूजा की गई है †। अब देवताओं को ब्रह्मसत्ता से अभिव्यक्त जानने पर ब्रह्मसत्ता ही सर्वाधिक ज्ञान व शक्तिशाली होगई। इस प्रकार देवोपासना के फल में जगत् की कारण सत्ता की ओर मन दौड़ने लगता है। एवं प्रकृति के साथ २ ज्ञान-शक्तिशाली ब्रह्मसत्ता का तत्व चित्त में उदित होने लगता है। यह लाभ थोड़ा नहीं।

* "चित्तन्त्रा माया परमेश्वरदस्योपाधिः" 'जड़त्व चित्परतन्त्रत्वात्, आनन्दगिरि। वेदान्तदर्शन, १।४।३ सूत्रभाष्य देखो।

† ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में, अग्नि सोमादि देवता में, "चिकित्वान्,, "विचिकितो मनीषा," 'जातवेदा, प्रभृति विशेषणों द्वारा ज्ञान का आरोप किया देखा जाता है। देवता ज्ञान विशिष्ट हैं प्रथम से ही ऐसा अनुभव करते २ जब उनकी मूलसत्ता का ज्ञान उत्पन्न होगा, उस समय वह सत्ता भी ज्ञान स्वरूप है ऐसी उपलब्धि अनायास हो जायगी। यह एक उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य यह है कि जगत् की सारी वस्तुओं के संग २ चैतन्य ब्रह्म वर्तमान है, कोई वस्तु भी चैतन्य वियुक्त नहीं, यह बोध दृढ होता जाता है।

क्रम क्रम से देवताओं की स्वतन्त्रता का बचा बोध भी अन्तर्हित हो जाता है। और चित्त ज्ञानमार्ग में अग्रसर होता आता एवं सकल पदार्थों में चेतन-सत्ता ही अनुस्यूत है, ऐसा ज्ञान दृढ होने लगता है। फिर सर्वत्र अद्वैत-बोध दृढ होने लगता है। इस प्रकार ऊँचे अधिकारी इसी जीवन में ब्रह्मामृत का स्वाद पाते हैं एवं देहान्त समय में भी सर्व पदार्थों में ब्रह्मसत्ता ही रहने का ज्ञान विलुप्त नहीं होता। जो ब्रह्मसत्ता आदित्य मण्डल में अवस्थित है जीवों की चक्षु आदि इन्द्रियों के मूल में भी वही ब्रह्म-सत्ता टिकी हुई है। इस भांति का ज्ञान मरण-समय में भी प्रज्वलित रहता है। मृत्युके अनन्तर ज्ञानी लोग आदित्य-ज्योति पूर्ण "देवयान मार्ग" का अवलम्ब लेकर उन्नत लोकों में गमन करते हैं। देहान्त समय में ऐसे साधकों को जिस प्रकार का अनुभव होता है सो तुम्हें संक्षेप से सुना देते हैं। अग्नि एवं सूर्य के निकट ये लोग कैसी प्रार्थना करते हैं सो सुनिये—

"हे ज्योतिर्मय सूर्य! आपके भीतर परमसत्य वस्तु निहित हो रही है। आपका तेज उस अन्तर्निहित सत्य वस्तु को आवृत किये हैं। वह आवरण दूर कीजिये मैं उस सत्य ज्योति को प्राप्त करूँगा।

"हे सविता! हे सूर्य! आप प्राणशक्ति के आधार हैं। आपमें से ही रश्मियां-सब प्राणशक्तियाँ-जगत् में विकीर्ण होती हैं। आप अपने इस बाहरी तेज को संग्रह करके, मेरे लिये अपने परम कल्याणमय रूप को प्रकाशित करें *।

भृत्य जैसे प्रभु के निकट अपनी प्रार्थना जनाता है, मैं उस प्रकार भेद-बुद्धि से यह प्रार्थना नहीं करता हूँ। हे सूर्य! आपके मध्यवर्ती सत्ता और आपमें कुछ भी भेद नहीं देखता हूँ। मेरी आत्मा की सत्ता एवं आपकी सत्ता भी एक ही है। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक प्रभृति सप्तलोक हो † आपके मस्तकादि सप्त अवयव रूपसे प्रकटित होरहे हैं। आप ही पूर्ण पुरुष हैं।

"मेरी देह-मध्यस्थ प्राणशक्ति जगत् की मूलीभूत स्पन्दनशक्ति के ‡ सहित

---

* इस मन्त्रमें सूर्यको स्वतन्त्र वस्तु नहीं समझा गया। सूर्यसत्ता और ब्रह्मसत्ता एक ही हैं यह अभेद तत्त्वही प्रदर्शित हुआ है। इसी मन्त्रमें सूर्यको 'यम' और "पूषा" कहा गया है। जगत् के पोषणकर्ता और सब पदार्थों के नियमनकारी रूपसे सूर्य का अनुभव किया गया है। सूर्यादि के बाहरी रूपों के अन्तराल में एक दूसरा कल्याणमय स्वरूप है, यह बात इस श्रुति में सुस्पष्ट कही गई है।

† विराट्‌रूप से सूर्य का अनुभव किया जाता है।

‡ यही 'सूत्रात्मा वा हिरण्यगर्भ' है। द्वितीयखण्ड की अवतरणिका देखो।

एकता को प्राप्त हों; दोनों मिल जाएं। जो सर्वव्यापक स्पन्दन शक्ति है, वही तो मेरे इस क्षुद्र शरीर में प्राण वायुरूप से प्रकट हुई थी। मृत्यु के पश्चात् यह परिच्छेद नहीं रहेगा, दोनों एक हो जावेंगी *। हे अग्ने! परम सत्य ब्रह्म-सत्ता आपमें अनुप्रविष्ट है। सुतरां आप ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं हो। मैंने जीवन पर्यन्त जो ब्रह्मसत्ताके अनुभव का अभ्यास किया है, वेदान्तकाल में वही मेरे स्मृतिपट में जाग उठा है।

हे अग्ने! हे देव! तुम विश्व की गति के पूर्ण ज्ञाता हो जीव जैसे कर्म और विज्ञान के बल से, जिस प्रकार के लोक में जाता है, हे सर्वज्ञ अग्ने! सो सब बात तुम अच्छी रीति से जानते हो। मुझे दक्षिण मार्ग हो कर † केवल कर्मी गणोंके पथ से न जाना पड़े। यावज्जीवन ज्ञानाभ्यास के फलसे मैं उत्तर मार्ग से ‡ ब्रह्मलोक में गमन कर सकूँ। हे अग्निदेव! मैं आपको बार २ नमस्कार करता हूं; मुझे कुटिल पापराशि से अलग करो।"

इस प्रकार क्रमशः साधक के चित्त में सर्वत्र ब्रह्मसत्ता का बोध सुस्थिर हो जाता है।

जिनके चित्तमें पूर्ण अद्वैत ज्ञान प्रतिष्ठित हो उठता है, वे इस जीवन में ही मुक्त होजाते हैं। उनमें किञ्चित् मात्र भी भेद-बुद्धि नहीं रहती। वे सर्वदा ही आत्म तत्व के अनुभव से कृतार्थ होजाते हैं ×। ब्रह्मवस्तु नित्य एक रूप रहती है, इसके स्थिरत्व की च्युति कभी नहीं होती। विश्व के कार्यवर्ग असंख्य हैं, किन्तु इन असंख्य कार्यों में कारण-सत्ता रूप से वह एक ही है। अन्तःकरण में प्रतिमुहूर्त विविध विज्ञान प्रादुर्भूत होते हैं, प्रत्येक विज्ञान के साथ साथ वह अखण्ड ब्रह्मसत्ता प्रकाशित होती है। इसलिये ब्रह्म-पदार्थ, मनकी वृत्तियों से भी अधिक द्रुतगामी है। मन अतिदूरवर्ती पदार्थ को भी स्वीय संकल्प बलसे तत्क्षणात् उपस्थित कर सकता है। मनका यह शीघ्रगामित्व सबको विदित है। किन्तु मनके संकल्पों के संग ब्रह्म चैतन्य अभिव्यक्त रहता है, इससे ब्रह्म चैतन्य मनसे भी अधिक अग्रगामी है। द्रुत-

* आध्यात्मिक सीमाबद्ध इन्द्रियवर्ग के साथ आधिदैविक चन्द्रसूर्यादि शक्ति को एक कर भावना करने का उपदेश उपनिषदों में सर्वत्र है। प्रथम खण्ड देखो।

† इसीका नाम है पितृयान मार्ग। देवज्ञान हीन केवल कर्मी इस मार्ग से गमन करते हैं। इनको सत्कर्म फल भोगानन्तर फिर लौटना पड़ता है।

‡ इसका नाम देवयानमार्ग है। इसी पथसे ज्ञानविशिष्ट कर्मी जनों को क्रमोन्नति स्वर्ग लोकों में गति होती है।

× हमने कई मन्त्रों का पौर्वापर्य तोड़ दिया है।

कभी भी मन ब्रह्म को पकड़ नहीं सकता। चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति अवश्य ही मनके अधीन है, क्योंकि पहले मन संकल्प करता है, तभी इन्द्रियां निज निज विषयों पर दौड़ती हैं। किन्तु ब्रह्मवस्तु मन के अगोचर होने से किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं होसकती*। मन आत्म चैतन्य द्वारा सर्वतोभाव से व्याप्त होकर ही प्रकाश पाता है, तब भला मन क्योंकर उस आत्म चैतन्य को व्याप्त न करेगा? मन और इन्द्रियादि से ब्रह्म वस्तु सर्वथा स्वतन्त्र है। और यह आत्म-वस्तु स्वयं निर्विकार है। इसका आश्रय करके ही इन्द्रियां निज २ काम करती रहती हैं। पर अज्ञानी लोग इन्द्रियादि की क्रियाओं द्वारा अखंड आत्म-चैतन्य को भी विकारी एवं क्रियाशील समझ लेते हैं †। फलतः आत्म वस्तु सब ही जड़ीय क्रियाओं से पृथक् स्वतन्त्र है। इस आत्म चैतन्य के अवस्थित रहते ही, सब प्रकार की क्रियाओं का बीजशक्ति-स्वरूप "मातरिश्वा वायु ‡" आधिदैविक और आध्यात्मिक सकल क्रियाओंका ही विभाग कर देताहै। इस क्रियात्मक मातरिश्वा का दूसरा नाम है 'सूत्र' या "स्पन्दन" +। यह स्पन्दन मूलतः ब्रह्म-सत्ता ×द्वारा ही प्रेरित होता है। यह मातरिश्वा या स्पन्दन ही सर्वप्रथम सूक्ष्मरूप से

*केन उपनिषद् देखो। इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय का प्रथम परिच्छेद देखो।

† "समारोपित-"संसृष्टा" कारेण भ्रमविषयत्वम्" गौड़पाद भाष्य टीका। २। ३२

‡ "मातरि अन्तरिक्षे श्वयतीति" मातरिश्वा। जिसे हम स्थूल वायु कहते हैं; यह मातरिश्वा सो नहीं; यह स्थूल वायु का बीज है। इसको श्रुति में प्राणशक्ति भी कहते हैं।

+ "वायोश्च प्राणस्य च 'परिस्पन्दात्मकत्वं,''''''आध्यात्मिकैराधिदैविकैश्च अनुवर्त्यमानम्"—शङ्कर। "परिस्पन्दलक्षणस्य कर्मणः प्राणाश्रयत्वात्" वे० भा० १।४।१६ आध्यात्मिक और आधिदैविक सकल पदार्थ ही इस स्पन्दन से प्रकट होते एवं स्पन्दन में ही लीन होजाते हैं। यह तत्त्व छान्दोग्य की "संवर्ग-विद्या" में प्रदर्शित हुआ है। इसीलिये लिखा है "सूत्रात्मक-प्राणस्य विकाराः सूर्योदयः" रत्न प्रभा टीका, १। ४। १६।

× जगत् का उपादान 'अव्यक्तशक्ति ही, स्पन्दन का मूल बीज है। और अव्यक्तशक्ति निर्विशेष ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं। "अव्याकृतात् व्याचिकीर्षितावस्थातोऽस्मात् प्राणो हिरण्यगर्भो बीजाङ्कुरो जगदात्माऽभिजायत शङ्कर, मुण्डकभाष्य, १। १। ८-६।"इदमेव जगत् प्रागवस्थायां''''''बीजशक्त्यवस्थं अव्यक्तशब्दयोग्यं दर्शयति" वे० भा० १। ४। ६ सुतरां अव्यक्त बीजशक्ति ही जगत् का उपादान है एवं इसी से प्राण या स्पन्दन अभिव्यक्त हुआ है। यह अव्यक्तशक्ति ब्रह्मसत्ता भिन्न अन्य कुछ नहीं। "नहि आत्मनोऽन्यत् अनात्मभूतं तत्" तै० भा० २। ६। २। द्वितीय खंड की अवतरणिका देखना चाहिये।

अभिव्यक्त हुआ था। इसी ने 'करण' रूप से एवं कार्यरूप से क्रियाका विकाश कर के, सबसे पहले स्थूल सूर्य चन्द्रादि आधिदैविक पदार्थों एवं अन्त में प्राणी शरीर और इन्द्रियों का विकाश किया है *। अग्नि, आदित्य, पर्जन्यादि देवताओं की जलन-दहन वर्षणादि क्रियाएं एवं प्राणी-देह की यावतीय चेष्टात्मक क्रियाएं इस मातरिश्वा द्वारा ही विभक्त हुई हैं। अतएव, सबकी आश्रय-स्वरूप ब्रह्मसत्ता के होने से ही, सब भांति के कार्य करणात्मक विकार प्रादुर्भूत हुए हैं। वह सब विकारोंमें स्वतन्त्र रूप से अनुप्रविष्ट है। कोई क्रिया या विकार ही उसके स्वातन्त्र्य की हानि नहीं कर सकता †।

यह आत्म-वस्तु सर्वदा एक रूप निर्विकार, पूर्ण रहती है। यथार्थ पक्षमें यह पूर्ण अचल ही है, किन्तु इन्द्रियादि की क्रिया द्वारा लोग इसे सचल क्रियाशील कहा करते हैं ‡। यह बहुत दूर रहती है, अज्ञानी गण उसको कोटि कोटि वर्षों में

*करण-Motion, कार्य Matter, "द्विरूपोहि·····कार्यमाधारः,·········करणञ्च आधेयम्"-बृहदारण्यकभाष्य, ३। ५। ११। १३। द्वितीय खंड की अवतरणिका द्रष्टव्य है। (परमार्थसतः ग्राह्यग्राहकावस्थाद्वयेपि विशेषाभावात् तस्मिन्नेवाधिष्ठाने···मनः स्पन्दते" —माण्डूक्य-कारिका, ३। ३०। अवस्थान्तर धारण करने से भी ब्रह्मसत्ता में कोई विशेषत्व नहीं होता, यही परमार्थदर्शी का अनुभव है। द्वैत और अद्वैत में कोई विरोध नहीं।

† क्योंकि, विकार का अर्थ ही अवस्थान्तर या आकार विशेषमात्र है। पर अवस्थान्तर द्वारा कारणसत्ता की कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती। यही शङ्कर की मीमांसा है। "नहि विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति······स एव प्रत्यभिज्ञानात्" वेदान्तभाष्य। परमार्थ दृष्टि में विकारगण दृष्टिपथ में नहीं पड़ते, विकारों की कारणसत्ता के अवस्थान्तर रूप से ही प्रतीति होती है। सुतरां एक कारण सत्ता से भिन्न विश्व में कोई वस्तु ही अनुभूत नहीं होती। शङ्कर वैज्ञानिक और पारमार्थिक की आंख से ही इस जगत् को देखते हैं।

‡ "आत्मन एक रूपत्वात् स्वरूप-प्रच्यवनासम्भवात्"। यद्धि सावयवं वस्तु तदवयवैर्धर्म जायते इत्युच्यते। इदं तु निरवयवत्वात् समताङ्गतमिति न कैश्चिदवयवैः स्फुरतीति" गौड़पादभाष्य, ३। २ सावयव वस्तु की खंड खंड "क्रिया" ही निषिद्ध हुई है। "पूर्णशक्तिस्वरूपत्व" निषिद्ध नहीं हुआ। इस अर्थ में ही यह "अचल" है।

भी नहीं जान सकते। और यह अति निकट भी वर्तमान है. तत्वदर्शी जन सब पदार्थों की मूल-सत्ता रूपसे इसीका अनुभव किया करते हैं आकाश जिस प्रकार सब पदार्थों के बाहर और भीतर व्याप्त होकर वर्तमान है, उसी प्रकार आत्मसत्ता भी इस नामरूपात्मक विश्व के समस्त पदार्थों के भीतर और बाहर व्यापक विराजमान है। क्योंकि, इसी की सत्ता सब वस्तुओं के मध्य में अनुप्रविष्ट एवं इसी की सत्ता नाम-रूपोंका आकार धारण करके अभिव्यक्त है। इसलिये सबके बाहर यह आत्मा है, भीतर भी आत्मा ही है।

जो तत्वज्ञ व्यक्ति सब भूतोंमें इस आत्म-सत्ता का दर्शन करते हैं एवं आत्म सत्ता में ही सब भूतों को अवस्थित जानते हैं, वे किसी पर भी घृणा नहीं कर सकते आत्म-सत्ता से अलग किसी भी वस्तु की 'स्वाधीन' सत्ता नहीं है; उस सत्ता में ही सारी वस्तुओं की सत्ता है, इस प्रकार की अनुभूति होना ही "सकल भूतों को अपने आत्मा में देखना" है। और पदार्थों के भीतर जो सत्ता अनुप्रविष्ट है, अपने में भी वही सत्ता अनुप्रविष्ट है दोनों सत्ताओं में कोई भेद नहीं है, इस प्रकारका सुदृढ बोध होना ही "अपने आत्मा को सब भूतों में देखना है। जो लोग आत्मासे अलग स्वतन्त्र किसी वस्तु वा व्यक्ति को समझते हैं, वे ही उससे घृणा वा द्वेष कर सकते हैं। किन्तु जिनमें इस प्रकार का द्वैत भाव नहीं है, जो किसीको भी पृथक् नहीं मानते, सारा संसार उनका मित्र बन जाता है।

इस भांति जब परमार्थ दृष्टि दृढ़ता लाभ करती है, तब उसके सन्मुख सभी कुछ आत्मा रूप से अनुभूत होता है। वे किसी को भी आत्मसत्ता से बाहर जानते, मानते नहीं। तब उसमें शोक और मोह की सम्भावना कहाँ?

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

आत्म वस्तु आकाश की भांति सर्व व्यापक है। ऐसा देश नहीं, ऐसा काल नहीं एवं ऐसी वस्तु नहीं, जो इस आत्मसत्ता द्वारा व्याप्त नहीं है *। वह शुद्ध है

---

* आत्मा देश से अतीत है, कोई भी देश (space) उसको परिच्छिन्न (Conditioned limited) नहीं कर सकता। कार्य मात्र ही काल(Time) द्वारा परिमित होता है, किन्तु ब्रह्म कोई कार्य वस्तु (effect) नहीं है। (क्योंकि उसका कोई कारण नहीं)। सुतरां काल भी उसको परिच्छिन्न नहीं कर सकता। और वह किसी वस्तु द्वारा भी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। कोई भी वस्तु अन्य वस्तु से पृथक् है, इसलिये एक वस्तु दूसरी वस्तु को परिच्छिन्न करती है। किन्तु विश्व की कोई भी वस्तु तो ब्रह्म से पृथक् नहीं है। अतएव किसी वस्तु द्वारा ब्रह्म परिच्छिन्न नहीं होसकता। तैत्तिरीयभाष्य में श्री शंकराचार्य ने ये सुन्दर युक्तियाँ दी हैं।

चैतन्य ज्योति स्वरूप है। वह अकाम निर्मल है। धर्माधर्मादि पाप ताप द्वारा वह अनुविद्ध नहीं। वह सर्वद्रष्टा, सबके साक्षीरूप से वर्तमान है। वह मन का प्रेरक है वह सबके ऊपर है सब से विलक्षण स्वतन्त्र है। किन्तु वह विश्वातीत होकर भी विश्वाकार से अभिव्यक्त होरही है। सब पदार्थों के निर्दिष्ट कर्मानुसार, वह फल प्रदान करती है। वह अनादिकाल से ही, अन्तर्भूत क्रियानुयायी सब पदार्थों को यथायोग्य रूप से विभाग कर देती है। यही वास्तविक आत्मतत्व है। ऐसे आत्म तत्व का लाभ कर लेने में जो समर्थ होते हैं वे शरीर छूटने पर किसी लोक विशेष में नहीं जाते ब्रह्मरूप होकर अवस्थान करते हैं। वे मुक्त होजाते हैं।"

हमने इस अध्याय में जो सब उपदेश पाये हैं, इस स्थान पर उनका संक्षिप्त सारांश दिया जाता है।

१—संसार में प्रधानतः दो श्रेणी के मनुष्य देखे जाते हैं।

(क) जो स्वाभाविक प्रवृत्ति-वश परिचालित होकर, धन जनादि वस्तु और आत्म सुख में ही व्यस्त, व्यग्र, बेसुध रहते हैं।

(ख) जो स्वाभाविक प्रवृत्ति-वश चालित होकर, जड़ प्रकृति के अनुसन्धान और विश्लेषण में यावज्जीवन लगे रहते हैं, इनके चित्त में ब्रह्मज्ञान सञ्चरित नहीं होता।

२—कर्मके साथ देवताओं के ज्ञान और उपासनाका योग कर लेना चाहिये।

(क) स्वतन्त्र वस्तु बोध से देवताओं को उपासना करना इस प्रकार का साधक "केवल कर्मी" कहा जाता है।

(ख) देवता कारण सत्ता की ही अभिव्यक्ति हैं-इस बोधसे उपासना करना। ऐसी उपासना में अभी देवता सम्बन्धी स्वातन्त्र्य ज्ञान नष्ट नहीं हुआ। किन्तु कारण सत्ता की ओर मन चला है, ये ज्ञानशिष्ट कर्मी हैं।

३—कारण-सत्ता ब्रह्म-सत्ता मात्र है सुतरां कोई भी वस्तु ब्रह्म-सत्ता से पृथक् नहीं, यह ज्ञान धीरे २ दृढ़ होने लगता है।

४—क्रमसे ज्ञान परिपक्व होता है, सर्वत्र एक चेतन-सत्ता अनुभूत होती है।

५—यथार्थ तत्वदर्शी, एक ही सत्ता के अनुभव में तृप्त रहते हैं, इनको जीवन्मुक्ति मिलती है

६—ब्रह्म सत्ता ही जगत् का कारण है विश्वाकार बनने पर भी, ब्रह्मसत्ता में कोई विशेषत्व नहीं आता, यही तत्व-ज्ञानी का अनुभव है इसलिये जगत् में बहुत्व में एकत्व-दर्शन की कोई हानि नहीं होती,

द्वितीय अध्याय ।

कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग ।

प्रथम परिच्छेद ।

(इन्द्रियों का मूल-प्रेरक कौन है ?)

एक समय आचार्य देव अपने शिष्यों को परब्रह्म के स्वरूप विषय में उपदेश दे रहे थे। उनके कहे हुए सब तत्वों को श्रवण कर एक शिष्य ने जिज्ञासा की कि-

हे भगवन् ! आपका सदुपदेश सुनकर मेरे मनमें एक प्रश्न उठ आया है कृपा कर आप उसकी मीमांसा कर दीजिये। भगवन् ! मनुष्यों का मन जो विषयों की ओर धावित होता है, सो किस शक्ति के बलसे ? मन क्या अपनी शक्ति से ही प्रेरित होता है, या इसका प्रेरक कोई अन्य स्वतन्त्र है ? और इन्द्रियसमूह में ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राण भी * किसके द्वारा प्रेरित होकर दैहिक क्रियाओं का निर्वाह करता है ? वाक् शक्ति जो शब्दोच्चारण करती है; सो यह सामर्थ्य उसीका है, अथवा उसे अन्य किसी पदार्थ से यह सामर्थ्य प्राप्त हुआ है ? चक्षु तथा श्रवण इन्द्रिय निज २ विषय को ग्रहण करती है उसका भी प्रेरक कौन है ? इन सब प्रश्नों का यथायथ उत्तर सुनने को मेरा बड़ा आग्रह है। मैं प्रतिदिन देखता रहता हूँ कि मेरा मन स्वाधीन नहीं है। वह जिस प्रवृत्तिके वश चालित होता है, उसका अनुभव प्रायः हुआ करता है। मैं कोई दुष्कर्म नहीं करूगा, ऐसी इच्छा होने पर भी उस दुष्प्रवृत्ति की चरि-

---

* शारीरिक चेष्टाओं का मूल प्राणशक्ति है। गर्भ में सर्व प्रथम प्राणशक्ति अभिव्यक्त होकर इन्द्रिय और देहादि को गढ़ डालती है। "देहे चेष्टात्मक-जीवन हेतुत्वत् प्राणस्य" वेदान्तभाष्य, १।१।३१। मनुष्य शरीर में प्राण और मन ये ही दो मुख्य इन्द्रिय हैं। मनुष्य में ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्ति है। क्रियाशक्ति का नाम प्राण एवं ज्ञानशक्ति का नाम मन है।

सार्थेता का समय उपस्थित होते ही, मेरा मन उसकी ओर दौड़ने लगता है; मना करने पर भी मानता ही नहीं। रोके रुकता ही नहीं। और ऐसा भी होता है कि, कोई एक सत्कर्म करने की इच्छा होने पर भी, मैं उसको कर नहीं सकता हूं; मन की असत् प्रवृत्ति बलपूर्वक मुझे अपने गन्तव्य-पथ में खींच ले जाती है। अर्थात् मन स्वाधीन नहीं है। वह अपनी प्रवृत्ति निवृत्ति के एकान्त अधीन है। सब ही इन्द्रियों के सम्बन्ध में यह बात कही जा सकती है। गुरो! इसीसे पूछता हूं कि, ऐसा क्यों हुआ करता है? मन प्रभृति को वशीभूत कर सके; ऐसी कोई स्वतन्त्र शक्ति क्या नहीं है? मन, वाणी चक्षु श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियां क्या स्वीय २ प्रवृत्ति वश ही परिचालित होती हैं, या अपने से भिन्न स्वतन्त्र किसी शक्ति कर्तृक प्रेरित होकर वे निज २ विषय में विनियुक्त होती रहती हैं *।

आचार्य महाराज शिष्य के मुखसे यह प्रश्न श्रवणकर उसकी बुद्धि की प्रशंसा करने लगे और फिर कृपाकर यों उत्तर देने लगे—

"सौम्य! तुमने अच्छा प्रश्न किया है। तुम यह निश्चय जानो कि देह में एक स्वतन्त्र आत्म-शक्ति अवश्य है। यह श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, वाणी की वाणी प्राणका प्राण एवं चक्षु का चक्षु है। यह शक्ति नित्य निर्विकार स्वाधीन है। इस आत्मशक्ति की स्वतन्त्रता को जान पाने पर मनुष्य, इस जीवन वा देहान्त में अमृत पद लाभ का अधिकारी हो सकता है। यह आत्म शक्ति नित्य निर्विकार भावसे अवस्थित रहकर; सब इन्द्रियों की प्रेरक है †। यह आत्म—शक्ति साधारण सामर्थ्य स्वरूप है, इसकी निजी कोई विशेष प्रकार की निर्दिष्ट क्रिया नहीं है। शब्द की अभिव्यञ्जक वा प्रकाशक इन्द्रियका नाम श्रवणेन्द्रिय है ‡। तुम जिसकी बात पूछते

* आधुनिक यूरोपीय दर्शनशास्त्र में Necessity एवं Free will,को लेकर जो विवाद चला आता है, श्रुति ने उस विवादका मूल यहाँ पर निबद्ध किया है। इस प्रश्न के उत्तर से ज्ञात होगा कि श्रुति आत्म-शक्ति की स्वतन्त्रता वा Free will का ही प्राधान्य स्थापन कर रही है।

† क्रियामात्र का 'करण' एवं एक कर्ता होना आवश्यक है। दर्शन श्रवणादि इन्द्रियाँ दर्शन श्रवणादि क्रियाओं की 'करण' हैं एवं इन्द्रियादि का जो मूल प्रेरक है वही इनका कर्ता है।

‡ विषयों के इन्द्रियों के सन्मुख उपस्थित होने पर विषयों से क्रिया प्रवाहित होकर चक्षु कर्णादि इन्द्रियों के ऊपर पतित होती है एवं तद्द्वारा इन्द्रियों की भी विशेष प्रकार की क्रिया उद्रिक्त होती है। क्रिया की इस विशेष प्रकार से उत्तेजना का नाम है इन्द्रिय-शक्ति।

हो अर्थात् आत्मशक्ति वही इस श्रवणेन्द्रिय की मूल प्रेरक है। यह सर्व प्रकार की विशेष २ क्रियाओं से पृथक् रहकर ही, इन्द्रियादि की मूल प्रेरक है। अज्ञानी लोग भ्रमवशतः इस की इस स्वतन्त्रता की बात भूल जाते हैं, एवं दर्शन श्रवणादि विशेष विशेष क्रियाओं के संग इसकी शक्ति को अभिन्न मान लेते हैं। जो सब पदार्थ संहत * या विशेष किसी उद्देश्य के साधनार्थ परस्पर सम्मिलित होकर क्रियाशील होते हैं, वे निश्चय ही अपने से स्वतन्त्र अन्य किसी वस्तु द्वारा प्रेरित होकर; उस वस्तु के ही उद्देश्य साधनार्थ एकत्र मिलित हुए हैं। इस अनुमान के बल से यह स्थिर किया जा सकता है कि चक्षु कर्णादि इन्द्रियाँ जब कि संहत पदार्थ हैं, तब इनका यह सम्मिलन अवश्य ही अन्य किसी की प्रेरणा से है और उस के प्रयोजन साधनार्थ है। सुतरां इस जड़ इन्द्रियवर्ग की क्रिया द्वारा, चेतन आत्मशक्ति की सत्ता और प्रेरकता अनुमित होती है। अतएव, चक्षु आदि इन्द्रियवर्ग की जो रूपादि विषय प्रकाश की योग्यता है, वह आत्मशक्ति के निकट से ही प्राप्त है। यह असंहत, चेतन, सर्वव्यापक आत्मशक्ति मूल में न हो, तो कोई भी इन्द्रिय किसी विषय को प्रकाशित नहीं कर सकती। किसी विषय की ओर दौड़ भी नहीं सकती †। एक बात में कोई भी क्रिया किसी इन्द्रिय की नहीं हो सकती है। सब प्रकारकी ऐन्द्रियिक क्रिया के मूल में आत्मशक्ति है, इसीसे आत्मा को, श्रोत्र का श्रोत्र, चक्षु का चक्षु, प्राणका प्राण और मनका मन कहा जाता है, यह श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों का सामर्थ्य-स्वरूप है। यह कूटस्थ, अजर, अमृत, अभय, अज है। चैतन्यरूप ज्योति द्वारा प्रकाश हुए बिना, चेतन—सत्ता द्वारा प्रेरित हुए बिना मन कदापि किसी विषय का संकल्प वा स्थिर—निश्चयत्व नहीं

* संहत=Aggregate; असंहत=जो संहत Aggregate वा मिलित नहीं। निरवयव है। बहुत से अवयव मिलकर एक संहत पदार्थ होता है। जिसके अवयव नहीं, वही असंहत पदार्थ है।

† माण्डूक्य उपनिषद् की गौड़पादकारिका के भाष्य में शङ्कर स्वामी एक सुन्दर युक्ति देते हैं। वे कहते हैं, ब्रह्म-सत्ता सब पदार्थोंका अधिष्ठान है। जो असत् है, वह किसी का भी अधिष्ठान नहीं हो सकता। क्योंकि जिसकी सत्ता नहीं, वह कदापि पदार्थों में अनुस्यूत-अनुप्रविष्ट अनुविद्ध होकर आता नहीं। इसीलिये जो 'सत्, है वही सकल पदार्थों में अनुस्यूत हुआ करता है। ब्रह्मसत्ता ही सब पदार्थों का अधिष्ठान वा आश्रय है। जगत् का जो मूलबीज है, वह शून्य नहीं है। ३।३३।

कर सकता। प्राण शक्ति शारीरिक क्रियाओं की मूलीभूत है। किन्तु प्राणको भी इस प्राणनशक्ति का अधिष्ठान होने से ही प्राण जीवन-क्रिया निर्वाह कर पाता है। इसी लिये आत्मा को मन का मन एवं प्राण का प्राण कहा जाता है *। उसीके प्रयोजन साधनार्थ, इन्द्रियवर्ग को यावतीय क्रिया निर्वाहित होती है ;

सब इन्द्रियों की सारी प्रवृत्तियों की जड़ में उस एक आत्मशक्ति को अवस्थित जानना चाहिये। आत्मा-नित्य, स्वतन्त्र, निर्विकार है। किन्तु इन्द्रियवर्ग की क्रियायें-विकारी, अस्वतंत्र, प्रवृत्ति के आधीन एवं अनित्य हैं। इस निर्विशेष आत्मशक्ति को, इन्द्रियादि की विशेष विशेष क्रियाओं के सहित एक और अभिन्न मान लेना ही महाभ्रम है जीव मात्र ही इस भ्रम में पतित पड़े हैं इन्द्रियों की विशेष विशेष क्रियाओं द्वारा, यह नित्य, अखंड, चेतनशक्ति भी खंड खंड रूप से प्रतीत हुआ करती है भ्रम का बीज इसी स्थान में है वास्तव में यह शक्ति खंडशक्ति नहीं है यह तो सर्वदा अखंड, नित्य, पूर्ण है इन्द्रियों की विशेष विशेष क्रियाओं द्वारा, इन्द्रियों के मूल में जो अखंड ब्रह्म-सत्ता विद्यमान है, उसका आभास मात्र पाया जाता है अपूर्ण,-पूर्ण-सत्ता की सूचना मात्र कर देता है किन्तु उस पूर्णशक्ति को, अपूर्ण क्रियाओं के सहित मिश्रित व अभिन्न मान बैठना उचित नहीं है मनुष्य इस रूप से ही उस आत्म-सत्ता को स्वतंत्रता की बात भूल जाता एवं इसी भ्रम वश ऐन्द्रियिक क्रियायें ही स्वतन्त्र रूप से काम करती हैं- ऐसा समझ लेता है जो व्यक्ति इस भ्रांति भ्रम में नहीं पड़ते, प्रत्युत सभी क्रियाओं के मूलमें उस एक, अखण्ड स्वाधीन-सत्ता का अनुभव करते रहते हैं; वे ही प्रकृत विवेकी पुरुष हैं।

यह आत्म-शक्ति ही ब्रह्म पदार्थ है। ब्रह्म ही श्रोत्रादिक सब इन्द्रियोंका आत्मभूत है; सुतरां इन्द्रियाँ उसके ऊपर अपना प्रकाश नहीं कर सकतीं हैं, वाणी भी वहां जाने में समर्थ नहीं होती। वागिन्द्रिय-द्वारा उच्चारित होकर शब्द, वक्तव्य विषय को समझा देता है। किन्तु वह शब्द और शब्द-प्रकाशक वागिन्द्रिय-दोनों का ही प्रकाशक आत्मा है। तब भला वाणी किस प्रकार उसे बता देगी या प्रकाशित करेगी? अग्नि अन्य वस्तु को दग्ध कर सकता है, अपने आपको किस प्रकार

* "द्रष्टुर्दृष्टी एवं ह्येव चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या च आत्मनः। तथाच श्रुतेः श्रोत्रस्य अनित्या, नित्या आत्मस्वरूपस्य ... नित्या आत्मना दृष्टिर्ग्राह्या नित्यं। दृष्टेर्ग्राहिका" इत्यादि ॥ के० उ० भाष्य में शङ्करने बड़ा विचार किया है इन्द्रिय क्रिया के मूल में एक अविक्रिय, नित्य, सामर्थ्यस्वरूप ब्रह्म अवश्य ही है ॥

प्रकाशित वा दग्ध कर सकता है ? मनके संम्बन्ध में भी अविकल यही बात घटती है। मन संकल्प विकल्पात्मक है *। मन कुछ करने के लिये सकल्प करता रहता है वा किसी विषय में संदिग्ध होता है, यही मनका स्वभाव है, इसी भांति कुछ न कुछ करनेके लिये स्थिर-निश्चय करना ही बुद्धिका धर्म है। मन और बुद्धि में एतद्व्य-तीत अन्य कोई काम करने की क्षमता नहीं है, मन और बुद्धि द्वारा चालित होकर इन्द्रियां विषय-विज्ञान † लाभ करती रहती हैं। किन्तु ब्रह्मवस्तु मन एवं बुद्धिका भी प्रकाशक है, इस कारण बुद्धि एवं मन भी उसे नहीं प्रकाशित कर सकते, ब्रह्म शब्दादि विषयों के अतीत है। सुतरां विषय-समूह का विज्ञान लाभ करना ही जिस का धर्म है, वह अन्तःकरण किस प्रकार, विषयातीत ब्रह्मके ज्ञानलाभ में समर्थ होगा ? अतएव बुद्धि एवं मन ब्रह्मके निकट जाने में अक्षम हैं, ब्रह्मवस्तु अन्तःकरण के अगोचर है। इससे ब्रह्मके स्वरूप-सम्बन्धमें उपदेश देना ही सम्भव नहीं।

जाति, गुण, क्रिया और विशेषण—इन सब धर्मों द्वारा ही वस्तु का ज्ञान कराया जा सकता है। एवं इन सब धर्मों के द्वारा ही, इन्द्रियां वस्तु को चीन्ह लेने में समर्थ होती हैं, किन्तु जो ब्रह्म जाति, गुण, क्रिया, विशेषणादि धर्मों के परे है, जिसमें उक्त एकभी धर्म नहीं, उसको अन्तःकरण क्योंकर समझ सकेगा ? और किस प्रकार उसका विषय समझाया जायगा ?

तब क्या उसको जानने का कोई उपाय नहीं है ? है, अवश्य ही उपाय है, श्रुतिके उपदेश द्वारा ही उसके स्वरूपादिका निर्णय होसकता है। इन्द्रियोंकी अगोचर वह ब्रह्मवस्तु अन्तःकरण का विषय नहीं हो सकती; इस कारण वह ज्ञान के भी अतीत—ज्ञानातीत है, जो सब पदार्थ जाति गुण-क्रियादि धर्म द्वारा व्याकृत वा अभि-व्यक्त पदार्थ हैं, केवल वे ही ज्ञानके विषयीभूत होसकते हैं। ब्रह्मवस्तु ठहरी ज्ञानके अतीत, वह अन्तःकरण द्वारा कदापि जानी नहीं जा सकती, तो क्या ब्रह्म अज्ञेय है ? नहीं, ऐसा नहीं, वह अविदित—अज्ञात-विषयोंके भी अतीत है। जो अव्यक्त, अनभि-व्यक्त है; जो अभिव्यक्त कार्यों का (iEffects) कारण वीज है, उपादान (Material Cause) है; वही अविदित-अज्ञेय पदार्थ है। ब्रह्मतो इस

---

*वस्तुके प्रत्यक्ष-कालमें, "यह नील रूप है या पीला" इत्यादि आकार से जो मनकी आलोचना होती है, उसीको "संकल्प विकल्प" कहते हैं। प्रथम खण्ड, द्वितीय अध्यायका पञ्चम परिच्छेद देखिये।

† विषय विज्ञान—Perception,

अव्याकृत कारण-बीजसे भी अतीत है; वह अव्यक्त कारणसे भी पृथक् स्वतन्त्र है * इसलिये वह अज्ञेय नहीं कहा जासकता इससे वह वस्तु हेय नहीं, उपादेय भी नहीं, यही समझना होगा जो व्यक्त है, जो कार्य है वह अल्प है वह मलीन है, वह क्षुद्र और दुःख पूर्ण है अतः वह हेय है, वह ग्रहणके योग्य नहीं है किन्तु ब्रह्मवस्तु कार्यवर्ग से स्वतंत्र है, सुतरां वह हेय नहीं है-वह ग्रहणके योग्य है और जो अव्यक्त, कारण बीज है, वह सभी का उपादेय सभीके ग्रहण योग्य है क्योंकि, जो कार्यार्थी हैं वे उसके कारण समूह का यत्न आहरण करते रहते हैं उपकरण संगृहीत हुए बिना कोई कार्य उत्पादित किया नहीं जा सकता। घट-निर्माणार्थी कुम्भकारको यत्न पूर्वक उसके उपकरण मृत्तिका-जलादि का संग्रह करना ही पड़ता है। ब्रह्मवस्तु इस कारण बीजके भी अतीत है। अव्यक्त कारण शक्ति से भी स्वतन्त्र है इस लिये वह उपादेय नहीं, वह किसी के ग्रहण करलेने योग्य नहीं हो सकता। यह ब्रह्मवस्तु सबके ही भीतर अवस्थित है। सब का अन्तर्यामी है। यही ब्रह्म का स्वरूप है। आचार्य परम्परा से ब्रह्म का इस प्रकार स्वरूप परिकीर्तित होता आ रहा है। सो जानना चाहिये। जिन सब पूर्वतन ब्रह्म आचार्यों ने ब्रह्मविद्या की विस्तृत व्याख्या की है; उनके मुखारविन्दसे हमने ब्रह्म के स्वरूप-विषय में ऐसा ही उपदेश श्रवण किया है।

हे सोम्य! हमने तुम्हारे निकट ब्रह्मका जो स्वरूप कीर्तन किया, वही आत्मा

---

* कार्य और कारण का परस्पर सम्बन्ध कैसा है? कार्य अपने कारणसे ही अभिव्यक्त हुए हैं। दोनोंका संबन्ध यही है कि, कार्यवर्ग-कारण सत्ताकी ही अभिव्यक्ति है; कारण सत्ता ही कार्यों का आकार धारण करती है; कारणसत्तासे पृथक् कार्यों की सत्ता नहीं है। किन्तु कार्योंमें अनुगत कारण-सत्ता, कार्यों से सर्वदा ही स्वतन्त्र वो स्वाधीन है। क्योंकि, कार्याकार धारण करने परभी, कारण-सत्ता की कोई क्षति-वृद्धि नहीं होती,-उसकी स्वतन्त्रताकी हानि नहीं होती। शङ्कर-मतमें यही कार्य और कारण का सम्बन्ध है। अव्यक्तशक्ति जो इस जगत् का उपादान है। वह, पूर्ण निर्विशेष ब्रह्मसत्ता का ही एक आकार विशेष; एक अवस्थान्तर मात्र है। जगत् सृष्टि के प्राक्काल में निर्विशेष ब्रह्मसत्ता ही विश्वाकार धारण करनेको उन्मुख हुई थी। यह जो विश्वाकार धारण करनेकी उन्मुख अवस्था है, इसके द्वारा उस निर्विशेष सत्ताको कोई हानि नहीं होती। वह स्वतन्त्र ही बनी है। इसलिये निर्विशेष ब्रह्मसत्ता जगदुपादान अव्यक्त-शक्तिसे भी स्वतन्त्र है। इस सम्बन्धमें द्वितीयखण्ड की अवतरणिका में विस्तृत आलोचना की गई है।

का स्वरूप जानिये। आत्मा भी स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं। ब्रह्मसत्ता एवं आत्मसत्ता एक ही वस्तु है। दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं है। उपास्य और उपासक सम्बन्ध स्थापित करके, भेद बुद्धि से जिसकी कर्म काण्डी लोग उपासना किया करते हैं, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरुप नहीं हो सकता। क्योंकि, सर्वत्र जैसे ब्रह्मसत्ता का अनुभव करना होगा, वैसे ही अपनी आत्मा में भी ब्रह्म-सत्ता कर्त्तव्य होगा। किन्तु कर्मी साधकगण जो इन्द्र, सूर्य्य और प्राणादि देवता की उपासना किया करते हैं, वे लोग इन्द्रादि देवताओं को अपनेसे पृथक् जानकर ही ऐसा करते हैं; पर इस रूप से इन्द्रादि को ब्रह्म मानना युक्तियुक्त नहीं। ऐसे उपासकों के मनमें भेद-बुद्धि प्रबल रहती है। ऐसे उपासक महाशय इन्द्र, सूर्य्य, प्राणादि देवताओं को ब्रह्मसत्ता से पृथक् स्वतन्त्र सत्तावान् मानकर उपासना करते हैं। ये निकृष्ट कर्ममार्ग के उपासक हैं*। किन्तु जो ज्ञानमार्ग के साधक हैं, वे ऐसा भ्रम नहीं करते।

---

*ऋग्वेद में हम प्रथम से ही कर्मी और ज्ञानी, इन दो प्रकार के साधनों को पाते हैं। ऋग्वेद में दोनों श्रेणीके सूक्त मिश्रित हैं कितने ही सूक्तोंमें अग्नि आदि देवताओं की स्वतन्त्र वस्तु-बोधसे स्तुति कीगई है और बहुत सूक्तोंमें यह स्वतन्त्र-बोध नहीं देखा जाता। यह कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग भारत में बहुत प्राचीन है। जो कर्ममार्ग में प्रविष्ट हैं वे ही अग्नि में घृत और सोमधारा डालकर द्रव्यात्मक यज्ञानुष्ठान में मग्न रहकर, अग्नि आदि को स्वतन्त्र वस्तु जानते हुए वैदिक सूक्तों का उच्चारण करते हैं। अनेक सूक्त इस प्रकार भेद-बुद्धि-युक्त उपासनाके उपयोगी हैं। किन्तु अन्य अनेक सज्जन उत्कृष्ट उन्नत उपासना भी करते हैं वे अग्नि आदि देवताओं में एवं सोमघृतादि यज्ञीय उपकरण में ब्रह्म ज्योति ही प्रदीप्त देखते हैं। अग्नि आदि में भावनात्मक यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। ऐसे ज्ञानमार्ग के उपयोगी बहुत से सूक्त ऋग्वेद के प्रत्येक मण्डल में पाये जाते हैं। वामदेव, वाक् प्रभृति उपासक और उपासिकागण आत्मा में सब देवताओं की सत्ता अनुभव कर अपने भीतर भावनात्मक यज्ञ ही करते हैं।

भाष्यकार ने इस स्थल पर और भी कहा है कि, अकार ही सर्वप्रकार शब्दों (वाणी) का मूल है। चैतन्य सत्ता द्वारा प्रेरित होकर यह अकार—वक्षःस्थल, कण्ठ जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु एवं मस्तक इन अष्टस्थानस्थ छिद्रों में स्पृष्ट होकर विकृत होता है। एवं इस भाँति नानारूप से अभिव्यक्त होकर उच्चरित होता है। गद्य, पद्य और गान इस वाणी के ही भेद विशेष हैं। यह वाक् शक्ति वा वागिन्द्रिय, शब्द के आश्रय में अवस्थित है।

इन्द्रादि देवताओं को स्वतन्त्र वस्तु न समझ कर, देवताओं में एक ब्रह्मसत्ता ही अनुप्रविष्ट है-इस कारण देवताओं में किसी की भी 'स्वतन्त्र; सत्ता नहीं है, ऐसा अनुभव करके भावना करते हैं, ये ही उन्नत साधक हैं। यही ब्रह्मका प्रकृत स्वरूप है। ब्रह्मसत्ता से ही यह विश्व अभिव्यक्त हुआ है, ब्रह्मसत्ता विश्व के तावत् पदार्थों में ओत प्रोत हो रही है। किसी भी पदार्थ की उससे पृथक् सत्ता नहीं है। उसी सत्ता के प्रताप से जगत् का सब काम चल रहा है। ऐसा ज्ञान करना चाहिये।

वागिन्द्रिय में उसी की सत्ता अनुस्यूत है। उसी की सत्ता वाणी की प्रेरक है। वागिन्द्रिय उसका प्रेरण नहीं कर सकती। यही सत्ता ब्रह्मसत्ता है। इस सत्ता एवं आत्मसत्ता में कोई भेद नहीं है। जो पुरुष दोनों का भेद मानते हैं एवं पदार्थों में अनुप्रविष्ट सत्ता को आत्म सत्ता से स्वतन्त्र जानकर उपासना करते हैं, उनकी उपासना यथार्थ ठीक उपासना नहीं है। वे ब्रह्मतत्व को समझ नहीं सके हैं। वाणी आदि तो उसकी उपाधि मात्र है, सुतरां वाणी आदि से स्वतन्त्र रहकर ही वह वागिन्द्रिय के मध्य में अनुप्रविष्ट हो रहा है।

सब इन्द्रियों का संचालक अन्तःकरण है *। वह भी उसको प्रकाशित वा प्रेरित नहीं कर सकता। उसी की सत्ता अन्तःकरण की प्रकाशिका एवं प्रेरिका है। उसीकी सत्ता अन्तःकरणमें अनुस्यूत-अनुप्रविष्ट है। स्वतन्त्र रहकर ही वह ब्रह्मसत्ता अन्तःकरण में अनुप्रविष्ट है। यही ब्रह्मसत्ता है। इस सत्ता और आत्मसत्ता में कोई भेद नहीं है। जो पुरुष दोनों सत्ताओं में भेद समझते हैं, एवं पदार्थों में अनुस्यूत सत्ता को आत्म सत्तासे स्वतन्त्र मानकर उपासना करते हैं उनकी उपासना यथार्थ उपासना नहीं, वे ब्रह्मसत्ता को नहीं समझ सके हैं।

---

* प्रधानतः बुद्धि और मन दोनोंके मेलका नाम अन्तःकरण है। विषयविज्ञान के समय, "यह नीला है कि पीला" इस प्रकार का संकल्प विकल्प ही मन का धर्म है। "यह वृक्ष ही है" ऐसी स्थिर निश्चयता ही बुद्धिका धर्म है। बुद्धि और मन दोनों के द्वारा ऐन्द्रियिक अनुभूतियों के (Sensations) श्रेणीबद्ध सुसज्जित होने पर, वस्तुविज्ञान (Perception) लाभ हुआ करता है। कामना, संकल्प, संशय, श्रद्धा धृति(धारणा)अधृति, लज्जा, भय ये वृत्तियां अन्तःकरण की हैं। अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मचैतन्य है, इसी से अन्तःकरण की क्रिया उत्पन्न हो सकती है एवं प्रकाशित होती है। अन्तःकरण की क्रियायें उत्पन्न होते ही आत्मसत्ता द्वारा प्रकाशित होती हैं एवं आत्मचैतन्य न होने पर अन्तःकरण के ये विशेष २ बोध प्रकाशित नहीं हो सकते। द्वितीय खण्ड की अवतरणिका देखना चाहिये।

चक्षु ब्रह्म को देखने में समर्थ नहीं होती। ब्रह्म-सत्ता ही चक्षु की प्रेरक है। विषयों से क्रियाप्रवाह आकर चक्षु की क्रिया को उत्तेजित करता है। उस उत्तेजना को अन्तःकरण आत्मस्थ करता है। सुतरां अन्तःकरण की एक प्रकार विशेष क्रिया का नाम ही– दर्शनशक्ति है। यह दर्शन–शक्ति आत्म–सत्ता द्वारा व्याप्त होकर ही प्रकाश पातीहै। आत्म-सत्ता और पदार्थ–मध्यगत सत्ता एक ही है। दोनों सत्ताओं में कोई भेद नहीं है। जो पुरुष दोनों में भेद मानते हैं एवं पदार्थों में अनुप्रविष्ट सत्ता को आत्म सत्ता से स्वतंत्र जानकर उपासना करते हैं। उनकी उपासना यथार्थ उपासना नहीं है। वे ब्रह्म-सत्ता को समझ नहीं सके हैं।

श्रवणेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय उसको विषयीभूत नहीं कर सकतीं। इन दोनों इन्द्रियों का वही प्रेरक है। विषय-भोग से प्रबुद्ध अन्तःकरण की ही एक एक प्रकार की विशेष विशेष क्रिया का नाम श्रवणशक्ति और घ्राणशक्ति है। अन्तःकरण की ये विशेष २ क्रियायें,इनके भीतर अनुप्रविष्ट आत्मसत्ता द्वारा ही प्रकाशित और प्रवर्तित हुआ करती हैं। क्योंकि, वही सत्ता स्वतंत्र रहकर भी, सर्वत्र अनुप्रविष्ट है। उस के होने से ही ये निज निज काम में समर्थ होती हैं। समस्त पदार्थों में अनुस्यूत ब्रह्म-सत्ता एवं आत्म-सत्ता एक ही वस्तु है दोनों में कोई भी भेद नहीं है। जो पुरुष दोनों सत्ताओं में भेद देखते हैं एवं पदार्थ मध्यगत सत्ता-ब्रह्म सत्ता को आत्म-सत्ता से पृथक् भावना कर उपासना करते हैं, उनकी उपासना प्रकृत उपासना नहीं कही जा सकती। वे ब्रह्म स्वरूप को समझ ही नहीं सके।

हे पुत्र ! तुमको एक बात और भी बतावेंगे। आत्मा में ब्रह्म–सत्ता का अनुभव कर पाने से ही, ब्रह्म को भली भांति जान लिया गया, ऐसा मन में लाना भी उचित नहीं है। क्योंकि ब्रह्म अन्तःकरण द्वारा बोध का विषयीभूत होगा किस प्रकार ? जिसके द्वारा तावत् पदार्थों का बोध किया जा सकता है, उसका बोध अन्य किस के द्वारा किया जा सकेगा ? वह बोध–ज्ञान के भी अतीत है। अतएव तुम सोचोगे कि आत्मा में ब्रह्म-सत्ता का अनुभव कर लिया—बस ब्रह्म पदार्थ को सर्वथा जान लिया, पर ऐसा नहीं हो सकता। ब्रह्म-चैतन्य-स्वरूप ज्ञान-स्वरूप है। ब्रह्म ही तो स्वयं अन्य वस्तुओं का ज्ञाता (प्रकाशक) है। उसका और दूसरा ज्ञाता कैसे हो सकेगा ? यह विश्व संसार उसी का ज्ञेय है, वह किसी का भी ज्ञेय नहीं हो सकता। वही एक मात्र विज्ञाता है, उसका फिर अन्य विज्ञाता कहां से आवेगा ऐसी दशा में ब्रह्म-पदार्थ को पूर्णतया तुम किस प्रकार जान सकोगे।

आचार्य के उपदेश द्वारा ब्रह्म-स्वरूप कीर्तित होने पर सब लोग उसे तुल्यरूप

से ग्रहण नहीं कर सकते। विरला ही कोई सौभाग्य-वश यथायथ-भाव से उपदेश का मर्म हृदयङ्गम करने में समर्थ होता है। दूसरा कोई उसी उपदेश को विपरीत रूप से समझ बैठता है *, कोई कुछ थोड़ा सा ही समझता और कोई तो किञ्चित् भी चञ्चुप्रवेश नहीं करता है। जिसकी बुद्धि मार्जित; चित्त कलुपता-शून्य; इन्द्रियाँ संयत होती हैं, ऐसे धीर-बुद्धि शिष्य के निर्मल व निस्तरङ्ग मन में ही; बारम्बार आलोचना, विचार और भावना के प्रभाव से, ब्रह्म-तत्व स्फुरित हो सकता है। किन्तु सोम्य! यह निश्चय जानना, कि ब्रह्म-वस्तु सम्यक् प्रकार से पूरे रूपसे अधिगत नहीं हो सकती। जो ब्रह्म के स्वरूप को पूर्णतया जान लिया समझते हैं, उन्होंने अति स्वल्प ही जाना है, यही समझना चाहिये। ब्रह्म का जो वास्तविक स्वरूप है वह अशब्द, अस्पर्श; अरूप, अरस; अगन्ध, अव्यय, और नित्य है। वह चक्षु का विषय नहीं, कर्ण का विषय नहीं, मनका नहीं, बुद्धि का भी विषय नहीं। किसी भी विशेषण द्वारा उसका स्वरूप निर्णीत नहीं हो सकता। उसका कोई रूप नहीं; धर्म भी नहीं। किसी धर्म द्वारा, किसी विशेषण द्वारा उसका निर्णय नहीं किया जा सकता। चैतन्य ही उसका स्वरूप है, चैतन्य वा ज्ञान किसी विकारी जड़-पदार्थ का धर्म नहीं हो सकता, किसी इन्द्रिय वा अन्तःकरण का भी धर्म नहीं हो सकता। वह अखण्ड आत्माका स्वरूप है। वह अखण्ड ज्ञान,-इन्द्रिय और अन्तःकरणादि जड़ीय क्रिया द्वारा खण्ड २ रूप से, शब्दस्पर्शादि विविध विज्ञान रूप से नियत अभिव्यक्त हुआ करता है। लोग समझते हैं कि ये खण्ड २ विज्ञान ही ब्रह्म का स्वरूप हैं! किन्तु ब्रह्मका स्वरूप अखण्ड नित्य है। सकल क्रियाओंको प्रकाशित करना ही उस का स्वरूप है। अन्तःकरणादि जड़ीय क्रियायें जैसे २ उत्पन्न होती हैं, वे तत्क्षण अखण्ड प्रकाश-स्वरूप आत्म-चैतन्य द्वारा प्रकाशित होती हैं। ब्रह्म प्रकाशक है। किन्तु लोग उसकी स्वतन्त्रता की बात भूल जाते हैं, इन सब जड़ीय क्रियाओं के सहित उसको एक व अभिन्न मान लेते हैं? वास्तव में वह सब क्रियाओं में ही अनुप्रविष्ट है। इसी से लोग विविध विज्ञानों को ही † चैतन्य का धर्म समझ जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि जड़ीय क्रियाओं के साथ अखण्ड ज्ञान का संसर्ग स्थापित नहीं किया जा सकता ‡ प्रत्येक क्रिया के साथ २, उसके साक्षी रूप से चैतन्य के अनु-

* छान्दोग्य उपनिषद् में, "इन्द्र विरोचन सम्वाद है। उसमें प्रजापति के उपदेश को असुराधिपति विरोचन ने विपरीत रूप से ग्रहण किया है। प्रथम खण्ड देखिये।

† विज्ञान-शब्द ज्ञान, स्पर्श ज्ञान, रूप ज्ञान, क्रोध ज्ञान इत्यादि।

‡ द्वितीय खण्ड की अवतरणिका में यह तत्व विस्तृत रूप से आलोचित हुआ है।

स्यूत रहने से ही, इस प्रकार का भ्रम हो जाता है। फलतः चैतन्य-अखण्ड, नित्य निर्विकार है। शब्दस्पर्शादिक विज्ञानों द्वारा उसका जो आभास मात्र पाया जाता है, वह अत्यल्प आभास मात्र है। क्योंकि इनके द्वारा अखण्ड-चैतन्य, खण्ड २ रूप से प्रतीत होने लगता है। इसी भांति आधिदैविक चन्द्र सूर्यादि पदार्थों द्वारा उसके स्वरूप का जो आभास पाया जाता है, सो भी यत् किञ्चित् मात्र है, तद्द्वारा उसके पूर्ण स्वरूप का आभास नहीं पाया जाता। आध्यात्मिक (इन्द्रियादि) और आधि-दैविक (चन्द्र, सूर्यादि) उपाधियों द्वारा उसके रूप का अति अल्पमात्र खण्ड २ आभास प्रकाशित होता है। स्वरूपतः वह अखण्ड ज्ञान-स्वरूप है। वह सब प्रकार की उपाधियोंसे पृथक्, स्वतन्त्र निर्विकार है। सोम्य ! इससे तुम अवश्य ही समझ गये होगे कि हमारा ज्ञान उपाधि द्वारा सीमा-बद्ध है। अतएव ब्रह्म-स्वरूप को हम सम्यक् प्रकार नहीं जान सकते। इस विषय को तुम अपने हृदय में विशेष रूप से धारण करो।"

गुरुदेव के मुखारविन्द से इन उपदेशों को सुनकर शिष्य,ने उस दिन फिर अन्य कोई प्रश्न नहीं पूछा। वह एकांत में बैठकर ब्रह्म के स्वरूप विषय में पुनः पुनः विचार व युक्ति-द्वारा मीमांसा करने लगा। बार २ बड़ी चेष्टा करके तत्व को हृदयङ्गम करने लगा। इसके फल से शिष्य के हृदय में ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप जागरित हो उठा। तब वह फिर आचार्यचरणों के समीप उपस्थित होकर, उनकी सेवा में अपने अनुभव की बात इस प्रकार कहने लगा—

"भगवन् ! आपने जो आज्ञा की थी कि, ब्रह्म का प्रकृत अखण्ड स्वरूप सर्व प्रकार से ज्ञानका विषयीभूत नहीं हो सकता, यह बहुत सत्य है। ब्रह्म सुविज्ञेय नहीं है। किन्तु गुरो ! मेरे चित्तमें एक तत्व उद्भासित हो रहा है। वह जैसे सुविज्ञेय नहीं, यह बात ठीक है; किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं हो सकता कि, वह एकान्त अविज्ञेय है। वह सुविज्ञेय नहीं, तो नितान्त अविज्ञेय भी नहीं है। उपाधियां उसके स्वरूप की सूचना दे रही हैं, सुतरां ब्रह्म विज्ञेय नहीं यह बात भी तो नहीं कही जा सकती"।

आचार्य कहने लगे—"पुत्र ! तुम यथार्थ अनुभव कर सके हो। जो भाई अन्तःकरणादि-धर्म के द्वारा ब्रह्म-वस्तु को सुविज्ञेय मानते हैं, वे भ्रान्त हैं। कारण कि, कोई भी उपाधि इसके स्वरूप का सम्यक् परिचय नहीं करा सकती। आध्यात्मिक और आधिभौतिक पदार्थ, उसके अति अल्प मात्र स्वरूप को ही प्रकाशित करते हैं। उसकी सत्ता उपाधियों से स्वतन्त्र है। किन्तु जो व्यक्ति उपा-

धियोंके साथ उसको अभिन्न मानते हैं, वे किस प्रकार उसके वास्तविक पूर्ण स्वरूप को जान सकेंगे ? वे इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति को ही आत्मा समझ बैठते हैं, तब भला ऐसे व्यक्ति उसको कैसे जान सकेंगे ? वास्तव में वे आत्मा के यथार्थ रूप को जान तो सके नहीं, पर मनमें निश्चय कर लेते हैं कि,-हम आत्माको जान गये हैं।"

अन्तःकरण में प्रतिमुहूर्त जो विशेष विशेष ज्ञान का उदय हुआ करता है, उसके साक्षीरूप से आत्मचैतन्य अवस्थित है। विज्ञान विकारी है,—आता है, जाता है और रूपान्तर धारण करता है। किन्तु इसका अन्तरालवर्ती आत्म-चैतन्य निर्विकार द्रष्टा-रूप से समवस्थित है। वह स्थित है तभी ये विज्ञान प्रकाशित हो सकते हैं, नहीं तो ये प्रकाशित न होते।

प्रत्येक खंड खंड बोध के संग संग, आत्म-चैतन्य अखण्ड साक्षी रूप से दे दीप्यमान होरहा है। खंड बोध उसका धर्म नहीं होसकता। यह तो जड़ीय क्रिया-मात्र है। यह आता है, जाता है क्षण क्षण में अवस्थान्तर-धारण करता बदलता रहता है। यही यदि आत्मा का स्वरूप हो, तो आत्मा भी उत्पत्ति-विनाशशील, विकारी हो पड़ता है। आत्मचैतन्य, इससे स्वतन्त्र, नित्य, निर्विकार, साक्षी है। यह अलुप्त ज्ञान-ज्योतिःस्वरूप है। इस प्रकार प्रत्येक खंड खंड बोधके साक्षी रूपसे यह जाना जा सकता है। इसी प्रकार विषय बोध के साथ साथ इसके अखण्ड स्वरूप का आभास पाया जाता है * इसी रूप से, यह चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन और बुद्धि की बुद्धि कहा जाता है। यह ब्रह्म विभु, सर्वगत, महान् है। यह

---

* इस प्रसंगमें भाष्यकार ने और जो बातें लिखी हैं, वे इस टीकामें दी जाती हैं। आत्मा-वैषयिक बोधों का साक्षी है। आत्मा को बोधों का 'कर्त्ता, नहीं कह सकते। कर्त्ता कहने से, उसको बोध क्रिया-विशिष्ट कह कर मीमांसा करना अनिवार्य हो उठता है। किन्तु सो होने से बोध-क्रियाएं आत्मा का 'धर्म, हो उठती हैं। बोध उत्पत्ति-विनाश शील हैं। जब बोध उत्पन्न होते हैं, तब उसको उन बोधों से विशिष्ट कहा जाता है। इस प्रकार तो उसको विकारी, सावयव, अनित्य कहा जाता है। इन सारे दोषों से बचने के लिये उसको बोधोंका अकर्त्ता ही माना गयाहै। वह अखण्ड, नित्य बोध-ज्ञानस्वरूप है। फिर न्याय-मत में, आत्मा अचेतन द्रव्य मात्र है, इस आत्मा में मनका संयोग होने पर, ज्ञान की उत्पत्ति होती है। किन्तु यह भी युक्ति-संगत सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि, आत्मा को अचेतन कहने से श्रुतियों के सिद्धान्त से विरोध उपस्थित होजाता है। श्रुति आत्मा को 'प्रज्ञान,-स्वरूप स-

नित्य, अजर, अमर, अभय है। यही आत्मा का स्वरूप है। सब भांति के बोध के साक्षी रूप से ही आत्मा ज्ञेय है। इस प्रणाली से आत्म-ज्ञान लाभ कर सकने पर, आत्म-विद्या की सामर्थ्य वृद्धि होती है यह सामर्थ्य पूर्ण होने पर फिर मृत्यु का भय नहीं रहता।

मनुष्य इस जीवन में यह ब्रह्म-तत्व जान कर कृतार्थ हो जाता है। मानव का यही विशाल अधिकार है। इसको जाने बिना, जन्म-जरा-मरण-प्रवाह का उच्छेद नहीं किया जा सकता। संसार-चक्र के घोर कष्टों से मुक्ति लाभ करना सम्भव नहीं हो सकता। स्थावर, जंगमादि यावतीय पदार्थों में इस ब्रह्मसत्ता का अनुभव करते करते भेद-बुद्धि (अविद्या) हट जाती है; सर्वत्र आत्म-ज्योति का दर्शन होता है और आनन्द ही आनन्द रह जाता है। यही ज्ञान मार्ग है। इस भांति अद्वैत-ज्ञान पूर्ण हो जाने पर, अमृत, अभय पद लाभ किया जा सकता है"। यह कह कर आचार्य देव मौन हो गये।

तला रही है। सावयव पदार्थ के साथ ही अन्य का संयोग-वियोग हो सकता है। आत्मा तो निरवयव है। तब यह किस प्रकार मन के साथ संयुक्त हो सकता है। और, यदि आत्मा को सर्वव्यापक ही कहो, तो उसका तो मन के साथ सर्वदा ही संयोग है; मन के साथ जिसका नित्य संयोग है, उसमें क्रम-क्रम से वैषयिक स्मृति उत्पन्न होती है, ऐसा भी तो नहीं कह सकते,—वैसा होने पर तो स्मृतियां एक साथ ही उत्पन्न होती हैं, यही अनिवार्य हो जाता है न्याय शास्त्रानुसार गुणवत् द्रव्य एक गुणवत् द्रव्य के सहित संयुक्त हो सकता है। किन्तु आत्मा तो निर्गुण, निर्विशेष है; मन के साथ उसका योग होगा किस प्रकार ?

द्वितीय परिच्छेद।

(देवताओं का मूल-प्रेरक कौन है ?)

एक दिन आचार्य महाराज शिष्य को फिर स्नेह से निकट बुलाकर कहने लगे :—

"हे सोम्य! उस दिन हमने ब्रह्म का स्वरूप वर्णन कर तुम्हें समझा दिया है कि, आत्म-सत्ता ही सारी इन्द्रियों की मूल प्रेरक है क्या आध्यात्मिक, क्या आधिदैविक, सभी वस्तुओं में ब्रह्म सत्ता अनुप्रविष्ट हो रही है। एवं वह उनको उनके कार्यों में लगा रही है *। ब्रह्म-सत्ता आध्यात्मिक इन्द्रियों की मूल प्रेरक है इस विषय में उस दिन उपदेश दिया है, आज एक प्राचीन आख्यायिका तुम्हें सुनायेंगे। यह आख्यायिका सुनने से तुम समझ सकोगे कि ब्रह्म-सत्ता आधिदैविक सूर्य, चन्द्रादि वस्तुओं की भी मूल-प्रेरक है।

एक समय ईश्वरी नियमों के व्याघातकारी असुरों को पराजित कर, सूर्य, अग्नि, वायु प्रभृति देवता † अतीव गर्वित हो पड़े थे। वे परस्पर अपने को दूसरे से

---

* गौड़पादभाष्य एवं गिरि-टीका में इसी को 'सम्यक् दर्शन' कहा गया है। "आध्यात्मिकं शरीरादि अधिष्ठानमात्रं दृष्ट्वा, बाह्यतो……पृथिव्यादि च……… अधिष्ठानमेवेत्यनुभूय……तद्दर्शननिष्ठः स्यात्" २। ३८॥

† एक ही महाशक्ति आधिदैविक और आध्यात्मिक पदार्थों के आकार से अभिव्यक्त हो रही है। इसका नाम प्राणशक्ति है। यही जगत् का उपादान है। जो 'करण' रूप और 'कार्य' रूप से प्रकट होकर यह जगत् गढ़ता है। 'करणांश ही' तेज, आलोक, वायु के रूप से बाहर काम करता है एवं यही प्राणी-देह में चक्षु कर्ण मन प्रभृति इन्द्रिय आकार से क्रिया करता है। साथ ही साथ 'कार्यांश, घनीभूत होकर जलीय आकार और पृथिवी के आकार से दीखता एवं वही प्राणियों के स्थूल देह का निर्माण करता है। उक्त प्राणशक्ति निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता का ही रूपांतर है। निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता सृष्टि के प्राक्काल में जगत् रूप से अभिव्यक्त होने को उन्मुख हुई थी, उस उन्मुखावस्था का नाम ही प्राण-शक्ति है। इस लिये तत्वदर्शी की दृष्टि में यह ब्रह्म-सत्ता व्यतीत अन्य कोई 'स्वतन्त्र, वस्तु नहीं। तेज, आलोकादि का समष्टि स्वरूप सूर्य, चन्द्र आदि सौर जगत् के पदार्थों को 'आधिदैविक, पदार्थ एवं देहमध्यस्थ इन्द्रिय, मन प्रभृति को 'आध्यात्मिक, पदार्थ कहते हैं। द्वितीय खण्ड की अवतरणिका में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है।

अधिक प्रतापशाली मानकर कहने लगे,"हमारी बराबर शक्तिमान् दूसरा कोई नहीं है। हमारी शक्ति से ही यह जगत् चल रहा है हम हाथ उठालें तो यह जगत् इसी क्षण निश्चेष्ट हो पड़े। हम यदि प्राणियों की इन्द्रियादिकी सहायता न करें-इन्द्रियों के ऊपर क्रिया न करें, तो कोई भी इन्द्रिय रूप दर्शनादि निज निज काम नहीं कर सकती है*। इस प्रकार गर्व से फूलकर देवता ऐंठने लगे।

तब एक दिन अकस्मात् आकाशमण्डलमें, चारों दिशाओंको प्रकाशित करती हुई एक उज्वल ज्योति प्रकट हो गई। ज्योति के इस आकस्मिक अभ्युदयका अवलोकनकर देवता बड़े विस्मित हुए और सब परस्पर परामर्श करके अपनार झगडा भूलकर ज्योति का पता लगाने लगे। अग्नि ज्योति के निकट गया तो ज्योति बोली "तुम कौन हो? तुम में क्या सामर्थ्य है? तुम्हारा पराक्रम कैसा है?" यह सुनकर अग्नि बड़े अहंकार से बोला-"मैं जातवेदा हूं, मैं अग्नि हूं। इन दोनों नामों से मैं जगत् में विख्यात हूं। मेरे सामर्थ्य को जानना चाहते हो। मैं इच्छा करूं तो पलमात्र में सारे विश्व को भस्मसात् कर सकता हूं। ऐसा उत्तर पाकर हँसती हुई ज्योति बोली—हे अग्नि! हे जातवेदा! हे त्रिभुवन भस्मकारिन्! यह लो मैं एक तृणखण्ड (तिनका) रखती हूं। मैं तुम्हारे पराक्रम को देखने के लिये बहुत उत्सुक हूँ, तुम इस तृण को भस्म तो करो। तब अग्निदेव ने अपना सम्पूर्ण सामर्थ्य लगाकर देख लिया, कि तृणखण्ड भस्मीभूत नहीं, किञ्चित् जला भी नहीं!! अग्नि अति लज्जित होकर सोचने लगा-"यह क्या? मेरा वह विश्वविख्यात पराक्रम आज इस तृण में कुण्ठित क्यों हो गया?" फिर विस्मय-विह्वल-चित्त अग्नि भयभीत होकर अन्य देवताओं के समीप लौट गया और अपनी पराजयका समाचार कह सुनाया। तब तो वायु देवता बड़े घमण्ड से दौड़कर ज्योति से यों बोला-मैं वायु आ गया हूं। जगत् के लोग मुझे मातरिश्वा नाम से जानते हैं। मैं मन करूं तो अभी बात की बात में विश्वको उड़ा दूं। ज्योति बोली-"हे वायु हे मातरिश्वा! लो पकड़ो यह तृणखण्ड है, इस तृण को भला उड़ा तो दीजिये। आश्चर्य का विषय यह है कि अपना पूरा बल लगाकर भी वायु उस तृणको उड़ा न सका। तब अधोवदन हो वायु देवताओं के समीप लौट आया और कहने लगा-"नहीं मैं इस तेज को पहिचान नहीं सका"। तब सब देवताओं के अधीश्वर इन्द्र उस तेज के पास पहुँचे। परन्तु

* जिस शक्ति से सूर्यादि अभिव्यक्त हैं, उसी से चक्षु कर्णादि इन्द्रियां अभिव्यक्त हैं। इस कारण ये परस्पर एक दूसरे के ऊपर क्रिया करने में समर्थ हैं।

वह तेज सहसा अन्तर्हित हो गया एवं उस आकाशमण्डल में, विविधाभरणभूषिता दिव्य-तेज-विभासिता, एक रमणी मूर्त्ति हँसते २ विस्मित इन्द्रदेवके पास उपस्थित होकर बोली-"इन्द्र! विस्मित न होना। यह जो महाज्योति अभी लुप्त हो गई है, इसे ब्रह्म समझिये। मैं ब्रह्मदेव की शक्ति हूं*। तुम अभिमानवश अपने पराक्रम का डंका पीट रहे हो, सो तुम सब देवताओंका गर्व वृथा है। तुम्हारा सब सब सामर्थ्य ब्रह्मशक्ति से ही उत्पन्न है। मेरे बल से ही तुम सब बलवान् हो। मुझसे पृथक् स्वतन्त्र रूपसे-स्वाधीन रूपसे-तुम्हारी शक्ति कार्यकारिणी नहीं हो सकती। आगे कभी ऐसा अभिमान न करना। यह कहकर वह मदनोया महिला-मूर्त्ति आकाश में विलीन हो गई।

वत्स! यह हमने तुम्हें प्राचीन कथा सुनादी। ब्रह्मसत्ता जो इन्द्रादिक देवताओं के पास प्रकट हुई थी उस ज्योति देवी या प्रकाश के सहित किसी जड़ीय वस्तुकी तुलना नहीं की जासकती। तब, विद्युत्प्रभा एवं चक्षु का निमेष इन दोनों के सहित उसका किञ्चित् सादृश्य दिया जा सकता है। चञ्चल विद्युल्लता जैसे क्षिप्रता से चमक उठती है और दूसरे क्षण में ही अदृश्य हो जाती है, चक्षु का निमेष जैसे एक बार प्रकट होकर परक्षण में ही तिरोहित हो जाता है वैसे ही देवताओं के निकट ब्रह्म के प्रकाश को जानना चाहिये। आधिदैविक सब पदार्थों द्वारा ब्रह्मस्वरूप की जो अभिव्यक्ति होती है, सो ऐसी ही जाननी चाहिये।

अब तुम से आध्यात्मिक प्रकाश की बात कहेंगे। अन्तःकरण के विविध विज्ञानों द्वारा ब्रह्म सत्ता की अभिव्यक्ति कुछ समझी जा सकती है। मन के विज्ञानों के प्रकाश के साथ २ अखंड ब्रह्म सत्ता भी कुछ न कुछ अभिव्यक्त हुआ करती है। इस प्रकार, उपाधियों द्वारा उपाधियों में अनुस्यूत ब्रह्म सत्ता का स्वरूप समझा जा सकता है। किन्तु निरुपाधिक ब्रह्म सत्ता को समझना सहज बात नहीं, संकल्प स्मृति भय क्रोधादि अन्तःकरण के धर्म हैं। ये आत्मा की उपाधि हैं। इन सब वृत्तियों द्वारा अखंड चैतन्य खंड खंड रूप से प्रतिक्षण प्रकाशित हुआ करता है। इनके द्वारा ही आत्मा के प्रकृत स्वरूप का आभास पाया जाता है। सुतरां ब्रह्म के स्वरूप ज्ञान के पक्ष में यह भी एक भांति का उपदेश है। ब्रह्म का जो सर्वोपाधि-

---

*भाष्यकार ने इस रमणीमूर्त्ति को 'ब्रह्मविद्या' नाम से व्याख्या की है। यथार्थ ब्रह्मज्ञान उदित होने पर सब पदार्थों में एक ही कारणसत्ता वा ब्रह्मसत्ता का अनुभव हुआ करता है। इसीलिये हमने ब्रह्मशक्ति नाम से इसका निर्देश किया है।

वर्जित, पूर्ण स्वरूप है, उसे अन्य भांति से समझ लेना दुरूह है। यह ब्रह्मसत्ता सभी प्राणियों की भजनीय है-सेव्य है। इसलिये इसका 'तद्वन, शब्द से निर्देश किया जाता है। 'तद्वन, कहकर अर्थात् यह सबके भीतर अनुप्रविष्ट है एवं सबका उपास्य है ऐसा जानकर जो लोग ब्रह्मसत्ताकी नित्य भावना करते हैं। उनके लिये कोई भी विषय अप्राप्य नहीं रहता और वे सबको प्रिय हो जाते हैं।

हे पुत्र! तुमने जो उपनिषद् सुनना चाहा था वह तुम्हें सुना दिया। परमात्मा के सम्बन्धकी विद्याका नामही उपनिषद् है। इस ब्रह्मविद्याको पाकर अमृतपद-धाम से कृतार्थ हो सकते हो। इसके समकक्ष दूसरी और विद्या नहीं है। इस ब्रह्म विद्या के लाभ के उपाय रूप कतिपय साधनों की बात कहकर हम अपना वक्तव्य समाप्त कर देते हैं। जो लोग सर्वदा सर्वत्र एक मात्र ब्रह्म का अनुभव करने में असमर्थ हैं उनको साधनों की सहायता से क्रमशः तादृश अनुभूति लाभ करने में यत्न परायण बनना चाहिये। वेद दो भागों में विभक्त है एक भाग कर्मकाण्ड है, दूसरा भाग ज्ञान काण्ड है। वैदिक यज्ञानुष्ठान ब्रह्म-विद्या प्राप्ति का एक प्रथम साधन है। अग्नि आदि में घृतादि प्रक्षेप द्वारा होमादि सम्पादन समय, वैदिक सूक्त उच्चारण कर, उस अग्नि में अनुगत ब्रह्म-सत्ता की उपासना या अनुभूति करना कर्त्तव्य है इस प्रणाली द्वारा आधिदैविक पदार्थों के स्वतन्त्र स्वाधीन ज्ञान के स्थान में, तदनुस्यूत ब्रह्म-सत्ता को धारणा क्रमशः दृढ होती जायगी। स्वतन्त्र रूप से फिर उनकी अनुभूति नहीं होगी। इस प्रकार सब पदार्थों में ब्रह्म-दर्शन भलीभाँति होने लगेगा। अतएव वैदिक यज्ञानुष्ठान ब्रह्म-विद्या प्राप्ति का एक साधन है। ऐसा आचरण होने पर, वैदिक यज्ञ आत्म ज्ञान लाभ के उपाय बन जाते हैं। विषयों की ओर से मन और इन्द्रियों के निग्रहका नाम-तप है *। अन्तरिन्द्रिय की उद्वेग शून्यता का नाम दम है। इस तप और दम का अनुष्ठान भी ब्रह्म-विद्या प्राप्ति का प्रधान साधन माना गया है। इनके द्वारा चित्त का मालिन्य दूर होकर, ब्रह्म-ज्ञान प्रदीप्त हो उठने की योग्यता बढ़ जाती है। मन कलुषित रहने पर ब्रह्मकथा यथायथ रूप से ग्रहण नहीं की जा सकती। मनसा, कर्मणा, वाचा कुटिलता परित्याग कर सत्यपरायण बनना चाहिये। सत्य निष्ठा ब्रह्म विद्या लाभ का बड़ा साधन है। जो सज्जन इन उपनिषदों में उपदिष्ट ब्रह्म विद्या लाभ का प्रयत्न करके

* साधारण मनुष्य मात्र ही विषयों को ब्रह्म सत्ता से पृथक् स्वाधीन वस्तु मानते रहते हैं इस रूप से विषयों की चिन्ता न करने को ही तप कहते हैं। किसी भी विषय की ब्रह्म सत्ता से पृथक् सत्ता नहीं है। ऐसी ही भावना कर्तव्य है।

ब्रह्मतत्व को हृदयंगम कर लेते हैं, वे सब प्रकार के पाप तापोंसे निष्कृति लाभ कर के अविद्या-कार्य कर्म नामक * संसार बन्धन की रज्जु को छिन्न भिन्न करने में समर्थ हो जाते एवं अनन्त-पूर्ण परमानन्द सागर ब्रह्म वस्तु में निमग्न होकर मुक्त हो जाते हैं। फिर उनको संसार चक्र में नहीं आना पड़ता। यह उपदेश प्रदान कर श्री आचार्यदेव मौन होगये।

भाष्यकार ने जो वेद के कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड की बात कही है, हम इस स्थल पर उनके कथन का तात्पर्य निर्णय करेंगे। उपनिषदों में हमें दो श्रेणी के लोगों की बात बार २ मिलती है। जो एकान्त संसार निमग्न हैं, जो इन्द्रियों की तृप्ति एवं अपने सुख-साधन को ही एक मात्र मनुष्य जीवन का लक्ष्य बनाये हैं, ऐसे जड़बुद्धि लोगों के मन में परकाल एवं ब्रह्म-तत्व धीरे २ बैठा देने के निमित्त सबसे पहले सकाम यज्ञानुष्ठान की व्यवस्था दी गई है। नहीं तो ऐसे संसारीजनों से एक बार ही निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म-सत्ता की बात कहना एवं अपने सुख-वर्जन का उपदेश देना निष्फल ही होता है। इसलिये ही, वापी-कूप तड़ागादि खनन आदि विविध लोक हितकर कर्मों की बात बताकर पहिले परार्थकर्म के लिये उपदेश प्रदत्त हुआ है। तत्पश्चात् जो सज्जन जो कुछ उन्नत-चित्त हुये हैं, उनका स्वर्गीय सुख का लोभ देकर देवताओं की उपासना का तत्व उपदिष्ट हुआ है। अवश्य ही ये साधक भी अभी देवताओं को स्वतन्त्र पदार्थ मान कर ही उपासना करते हैं †। इनके लिये ही सकाम यज्ञ का विधान वेद में विहित हुआ है। इस प्रकार के धर्मात्माओं के के उपयोगी बहुत सूक्त ऋग्वेद में देखे जाते हैं। इस रीति से मन जब क्रमशः उन्नत होता है, तब साधक क्रम से ही समझ सकता है कि, देवता जब ब्रह्म से ही प्रकट हैं, तब कदापि ब्रह्म-सत्ता उनकी सत्ता से स्वतन्त्र नहीं हो सकती एवं स्वर्ग-प्राप्ति का उद्देश्य भी निकृष्ट उद्देश्य है। उस समय ये लोग क्रम से यज्ञीय देवताओं में ब्रह्म

* अविद्या-भेद बुद्धि। ब्रह्म से पृथक् रूप में विषयों की उपलब्धि। विषयों को इस भांति स्वतन्त्र पदार्थ मानकर जो उनकी प्राप्ति के अर्थ वासना है उसका नाम काम है एवं तज्जन्य जो अनुष्ठान वही कर्म कहलाता है।

† "यो हि कर्म फलेन अर्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिना अदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं काणकुब्जत्वाद्यनधिकार धर्मवानिति आत्मानं मन्यते" इत्यादि।"......" एवं त्वयि नरमात्राभिमानिनि अशुभं कर्म न लिप्यते इति,,--ईशभाष्ये, शङ्कर।

"अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशु रेव स देवानाम्," बृहदारण्यक।

सत्ता का ही अनुभव करना प्रारम्भ करते हैं एवं ब्रह्म प्राप्ति ही उद्देश्य होजाता है। प्रयत्न करते २ सभी पदार्थों में ब्रह्म-सत्ता का ज्ञान बढ़ जाता है। फिर कोई भी वस्तु स्वाधीन नहीं प्रतीत होती। ऐसे साधक भावनात्मक यज्ञ के अधिकारी हो जाते हैं। वे यज्ञीय अग्नि में ब्रह्म-सत्ता ही देखते हैं, वैदिक मन्त्रों में प्राण-शक्ति का ही विकाश अनुभव करते हैं। ऐसे साधकों के उपयोगी सूक्त भी ऋग्वेद में अनेक मिलते हैं। उपनिषदों में प्रथमोक्त साधक सकाम "केवल कर्मी" नाम से निर्दिष्ट हुए हैं एवं द्वितीयोक्त साधक "कर्म और ज्ञान के समुच्चय कारी" नाम से कहे गये हैं। अतएव वैदिक यज्ञानुष्ठान निष्फल नहीं।

तदनन्तर जब इस प्रकार साधक का चित्त क्रमशः निर्मल हो चला तब फिर वाह्यिक आचरणों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। तब तो क्रम से ही सर्वत्र सर्व पदार्थों में ब्रह्म-सत्ता ही अनुभूत होने लगती है यही ज्ञान मार्ग है। इस समय में अन्य किसी भी वस्तु का स्वातन्त्र्य प्रतीत नहीं होता। ब्रह्माण्ड भर में एकमात्र ब्रह्म-सत्ता ही भरी भासती है। सर्वत्र अद्वैत बोध प्रतिष्ठालाभ करता है। ऐसे उच्च अद्वैत ज्ञान के साथ ही भाष्यकार ने कर्म के समुच्चय का निषेध किया है। एता-दृश समुन्नत साधकों के योग्य भी सूक्त ऋग्वेद में अनेक हैं।

उपनिषदों का ऐसा सिद्धान्त, मूलतः ऋग्वेद के सिद्धांत के अनुरूप ही है। साधकों की प्रधानतः तीन श्रेणियों का जैसे उल्लेख किया गया, ऋग्वेद में प्रायः प्रत्येक मण्डल में इन तीन प्रकार के साधकों के उपयोगी तीन श्रेणी के सूक्त परि-दृष्ट होते हैं कई विदेशी पण्डितों का यह कहना ठीक नहीं कि, ब्रह्म का एकत्व बोध उन्नत ज्ञानकांड की साधना, ऋग्वेद में पहिले नहीं है। भाष्यकार भी हमारे इस कथन का समर्थन करते हैं। ईशोपनिषद् भाष्य में स्पष्ट लिखते हैं:—

"आद्येन मंत्रेण सर्वैषणा-त्यागेन ज्ञान-निष्ठा उक्ता इति प्रथमवेदार्थः। अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठाऽसम्भवे "कुर्व-न्नेवेह कर्माणि जिजीविषे" दित्यादि कर्मनिष्ठा उक्ताइति द्वितीय वेदार्थः"।

गौड़पादकारिकाभाष्यमें भी (माण्डूक्य में) इस प्रकार का सिद्धान्त है। आनन्दगिरिकी व्याख्या सुनिये—"कार्यब्रह्मोपासकाः (स्वतन्त्र वस्तु-बोधसे इन्द्रा-दि देवताओं के उपासक) हीनदृष्टयः। कारण ब्रह्मोपासकाः (इन्द्रादि देवताओं में एक कारणसत्ता ही अनुप्रविष्ट है, इस भावके उपासक) मध्यमदृष्टयः। अद्वितीय-

-ब्रह्मदर्शनशीलास्तु उत्तमदृष्टयः। मन्दानां मध्यमानाञ्च उत्तमदृष्टि-प्रवेशार्थं दयालुना वेदेन उपासना उपदिष्टा। तथाच उपासनानुष्ठानद्वारेण एकत्वदृष्टिं क्रमेण प्राप्ता उत्तमेषु अन्तर्भविष्यन्तीति अर्थः" । ३ । १५

अवतरणिकामें विस्तृत विचार देखना चाहिये। केवल कर्मियोंकी परलोक में "पितृयान"द्वारा गति होती है एवं ज्ञान व कर्मके समुच्चयकारी साधकों की गति "देवयान" मार्गसे होती है। ऋग्वेदमें भी दोनों मार्गों का उल्लेख है।

हमने उक्त उपदेश से जो तत्व समझे हैं, इस स्थान पर उनकी एक संक्षिप्त तालिका दी जाती है:—

१। जगत्‌में-आध्यात्मिक इन्द्रियादि वस्तु एवं आधिदैविक सूर्य, अग्नि आदि वस्तुयें देखी जाती हैं। ये निज २ क्रियायों का निर्वाह करती हैं।

२ (क) आत्म-सत्ताही इन्द्रियादि के मूलमें अवस्थित है एवं यह पूर्ण आत्म-सत्ता ही इन्द्रियादि की प्रेरक है।

(ख) ब्रह्मसत्ता ही-आधिदैविक सूर्यादिके मूलमें अनुप्रविष्ट है एवं यह पूर्ण ब्रह्मसत्ता ही सूर्यादि की प्रेरक है।

३। बाहर और भीतर एकही सत्ता अनुप्रविष्ट है। बाहर आधिदैविक वस्तुओं की मध्यगत सत्ता एवं भीतर आध्यात्मिक इन्द्रियादि में अनुप्रविष्ट सत्ता-इन दोनों सत्ताओं में कोई भेद नहीं है।

४। विषयों के मूलमें निर्विकार, निर्विशेष सत्ताका आभास पाया जाता है। एवं इस रूपसेही उसको जाना जाता है। बुद्धि-वृत्तिके मूलमें भी उसीका आभास पाया जाता है। वह अज्ञेय नहीं है।

५। ब्रह्मसत्ता के अतिरिक्त किसी को "स्वतन्त्र" सत्ता नहीं है। आत्मसत्तामें ही इन्द्रियों की सत्ता है और आत्म-सत्ता में ही सूर्यादि की सत्ता है।

६। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड-दोनों प्रकारके साधनों से ब्रह्मसत्ता की भावना की जाती है।

७। सत्यनिष्ठा, इन्द्रियसंयम, तपश्चर्या, सर्वत्र ब्रह्मसत्तानुभूति के लाभार्थ उद्यम-इत्यादि ब्रह्मसाधना के सहायक हैं।

तृतीय-अध्याय ।

आचार्य पिप्पलाद का उपदेश।

प्रथम परिच्छेद ।

(स्थूल जगत के उपादान का निर्णय ।

पूर्व काल में समग्र भारतवर्ष के बीचमें महर्षि पिप्पलाद बड़े प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी माने जाते थे । विद्वानोंकी मण्डली में उनका पूर्ण सन्मान होता था। नाना दिग्दिगन्त से शतशः विद्यार्थी, इनकी सेवामें उपस्थित होकर, ब्रह्मचर्य नियमानुसार रहते और ब्रह्म-विद्या का उपदेश प्राप्त कर कृतार्थ हो जाते थे । महर्षि पिप्पलाद का यश एवं उनकी भगवन्निष्ठा की बात सबको भली भांति सुविदित हो गई थी । आप ब्रह्म विद्या के सब तत्वों को अच्छी प्रकार जानते और ब्रह्मानुभव करते हुए विमल ब्रह्मानन्द में निमग्न रहते थे ।

किसी समय, पर ब्रह्म-विषय में तत्वजिज्ञासु छःजन गृहस्थ एक साथ मिल कर, महर्षि पिप्पलाद के आश्रम में उपस्थित हुए। ये सभी सगुण ब्रह्म-तत्व * की साधना में पूर्ण अभ्यासी थे । निर्गुण, निष्क्रिय पर-ब्रह्म के सम्बन्ध में इनकी कोई अभिज्ञता नहीं थी । भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यकाम, गर्गवंशोत्पन्न सूर्य के पौत्र सौर्यायणि, अश्वल के पुत्र कौशल्य, विदर्भनगर के भृगुवंशी भार्गव एवं कत्य के पौत्र कबन्धी-ये छः महाशय, पर-ब्रह्म-प्राप्ति कामना से सुविख्यात पिप्पलाद महाराजके निकट उपस्थित हुए। सभी समित्पाणि, †-विनीत-वेशसे श्रद्धाके

---

* सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध में द्वितीय खंड देखना चाहिये । माया शक्ति-सम्वलित ब्रह्म-चैतन्य ही-सगुण ब्रह्म है ।

† प्राचीन काल में शिष्यगण गुरुके घर में गुरु की परिचर्या करते थे । आचार्य ब्राह्मण देव नित्य जो अग्निहोत्र करते थे, तदर्थ शिष्यगण काष्ठ-लकड़ियां ले आते थे। अग्निहोत्र की लकड़ियों का ही नाम 'समित्' समिधा है ।

साथ आश्रममें आये थे। इन सबोंके ब्रह्म विषयक कतिपय प्रश्न करने पर आचार्य पिप्पलाद उनकी यथाविधि अभ्यर्थना करके कहने लगे,-"आप लोग एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हुए हमारे आश्रम में निवास करें, पीछे हम आपके प्रश्नों का यथायथ उत्तर देने की चेष्टा करेंगे"। उन सबों ने आज्ञा स्वीकार करली।

जब एक वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत पूरा होगया, तब जिसको जिस विषयमें शंका जिज्ञासा थी, उसने अपना अपना निवेदन महर्षि की सेवामें कह सुनाया और उचित उपदेशका आरम्भ होगया। पहिले कवन्धी महाशय हाथ जोड़कर श्रीगुरूजी से बोले-

"भगवन्! किस भांति ये प्रजायें * उत्पन्न हुई हैं? जगत् में जो सब स्थूल पदार्थ और स्थूल शरीर देखे जाते हैं, इनका उपादान कौन है? ये किस मूल से समुत्पन्न हुए हैं एवं किस प्रकार से इनकी अभिव्यक्ति हुई है? यह तत्व जानने के लिये मेरी नितान्त अभिलाषा है, कृपा कर मुझे उपदेश प्रदान कीजिये"।

आचार्यवर पिप्पलाद कहने लगे—"महाशय! हम तुम्हें स्थूल जगत् की उत्पत्ति का कारण बताये देते हैं, सावधान होकर श्रवण करो।

प्रजापति हिरण्यगर्भ ने † अपने ज्ञान में इस स्थूल जगत् के विकाशार्थ पहले संकल्प किया था। हिरण्यगर्भ की व्याख्या संक्षेप से कर देते हैं। निर्विशेष ब्रह्म सत्ता ने ‡ सृष्टिके पूर्व क्षणमें आत्म संकल्प + द्वारा जगत् सृष्टि की आलो-

*परमेश्वर इस जगत् का सम्राट् है। सुतरां विश्व की सभी वस्तुएं उसकी प्रजा हैं।

† हिरण्यगर्भ की पूरी व्याख्या द्वितीयखण्ड की अवतरणिका में है। ऋग्वेद में इस हिरण्यगर्भ का दूसरा नाम 'मातरिश्वा, है। "मातरि अन्तरिक्षे श्वयतीति वायुः सर्वप्राणभृत् क्रियात्मको यदाश्रयाणि कार्य-करण-जातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत् 'सूत्र, संज्ञकं जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा"—शङ्कराचार्य। "मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गोभवत् सरीमणि"-ऋग्वेद, ३।२९।११। "स जायमानः परमे व्योमन् आविरग्निरभवन्मातरिश्मने" १।१४३।२। यह स्पन्दन शक्ति है। यह निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता की ही आकार विशेष, अवस्थान्तर मात्र है। किन्तु अवस्थान्तर द्वारा वस्तु कोई 'स्वतन्त्र, वस्तु नहीं बन जाती।

‡ यह सत्ता पूर्ण ज्ञानस्वरूप, पूर्ण शक्ति स्वरूप है। "सर्वानुस्यूतस्यापि असंगस्वभावतया निर्विशेषत्वम्"-उपदेशसाहस्री, ४।५७।

+ यह संकल्प 'आगन्तुक,-जगत् सृष्टि के प्राक्काल में प्रादुर्भूत हुआ है।

चना * की थी। तब जो शक्ति उसमें एकाकार होकर—ज्ञानाकार से-अवस्थान करती थी, उसकी इच्छा-वश उस शक्ति की अभिव्यक्ति होने की उन्मुखावस्था † हुई। निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता की, सृष्टि की प्राक्कालीन इस अवस्था विशेष को ‡ लक्ष्य करके ही इसे 'अव्यक्तशक्ति, कहा जाता है। वस्तुतः यह स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है उस पूर्णशक्ति से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यह अव्यक्तशक्ति जब सर्व-प्रथम सूक्ष्म रूप से व्यक्त हुई, उसी का नाम हिरण्यगर्भ, प्राण वा सूत्र है, और यह स्पन्दन का ही दूसरा नाम है। यह भी उस ब्रह्म-सत्ता से पृथक् स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं। सुवर्ण से बना कुण्डल जिस प्रकार सुवर्ण से भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न हिरण्यगर्भ भी ब्रह्मात्मक है या ब्रह्म ही है + । इस सूत्र वा स्पन्दन से, स्थूल विश्व के उपादानभूत दो उत्पन्न हुए,–स्पन्दन ने ही द्विधा विभक्त होकर क्रिया का विकाश किया। इस जोड़ी का नाम है-'प्राण, और

---

* इस आलोचना का मूल में 'तप, शब्द द्वारा निर्देश है। ब्रह्म यद्यपि निर्विशेष ज्ञान-स्वरूप है, तथापि सृष्टि के पूर्व क्षण में प्रादुर्भूत इस 'आगन्तुक, आलोचना को लक्ष्य कर 'तपः, शब्द से उसकी एक भिन्न संज्ञा दीगयी है। फलतः यह उस पूर्ण ज्ञान से भिन्न अन्य कोई ज्ञान नहीं है। आगन्तुक होने से ही यह ज्ञान का विकार कही जाती है। "यस्य ज्ञानमयं ज्ञान विकारमेव तपः"—मुण्डकभाष्य १।१।६।

† शङ्कर इसको "जायमान अवस्था" "व्याचिकीर्षित अवस्था कहते हैं मुण्डक भाष्य, १।१।८। और वेदान्तभाष्य १।१।२१। यही जगत् की प्रागवस्था है। यही बीजशक्त्यवस्था है (वे० भा० १।४।२) यही सर्गोन्मुख परिणाम है। रत्न प्रभा।

‡ यही जगत् की पूर्वावस्था है, सुतरां यही जगत् का 'कारण, है। प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेन अभ्युपगच्छामः" इत्यादि। वेदांतभाष्य, १।४।३ कार्य का जो 'कारण, है, वही कार्य की 'शक्ति, है, इसलिये यह शक्ति ही जगत् का उपादान है। "कारणस्य आत्मभूता शक्तिः" शक्तेश्च आत्मभूतं कार्यं"-वे० भा० २।१।१८। यह पूर्ण शक्ति व्यतीत स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं। वह पूर्ण निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता ही इसमें अनुस्यूत है। "कार्येषु विद्यमानमपि कारणस्वरूपं तत्कार्याकार-तिरोहिततया न स्वरूपेणावभासते इति 'सूक्ष्म,मुच्यते"-उपदेश साहस्री, ४॥५८ अव्यक्त शक्ति ब्रह्मशक्ति का ही कार्य है।

+ यह दृष्टान्त कठ-भाष्य की टीका में आनन्द गिरि देते हैं।

'रयि, *'। इस प्राण और रयि नामक मिथुन के योग से ही विश्व के तावत् स्थूल पदार्थ प्रकट हुए हैं।

सूक्ष्म स्पन्दन वा हिरण्यगर्भ,-प्राण और रयि के आकार से अभिव्यक्त हुआ है। महाशय! यह तत्व तुम्हें और अधिक विस्तृत रूप से समझा देंगे। असत् वा शून्य से सत् की उत्पत्ति नहीं होती, कुछ नहीं से कुछ (कोई पदार्थ) उत्पन्न नहीं हो सकता। इस विश्व में अवश्य ही एक महती सत्ता अनुगत-अनुस्यूत होरही है। यह विश्व उस सत्ता की ही अभिव्यक्ति है। कारण-सत्ता ही कार्यों में अनुप्रविष्ट होती है, या यों कह लीजिये, कार्य-कारण-सत्ता का ही विकाश वा अभिव्यक्ति मात्र हैं। कार्य ही कारण के अस्तित्व के परिचायक हैं। जगत् के पदार्थों में हम जो सत्ता सर्वत्र अनुस्यूत देखते हैं। यही कारण-सत्ता है † यह सत्ता माने विना, ब्रह्म ही असत् हो पड़ता है। क्योंकि, जगत् कारण-रूप से ही केवल ब्रह्म को जाना जा सकता है। इस लिये यह कारण सत्ता वा कारण-शक्ति स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यही कारण-सत्ता जगत् के समस्त पदार्थों में अनुप्रविष्ट हो रही है। यह उस निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता के अतिरिक्त अन्य कुछ कुछ नहीं है ‡।

---

* श्रुति में इस प्राण को-'अन्नाद', 'अग्नि', 'अत्ता', 'अमूर्त', प्रभृति कहा है। एवं रयिको-'अन्न', 'सोम', 'भोग्य', 'मूर्त', प्रभृति कहा जाता है। शङ्कराचार्य प्राण को-'करण' एवं रयिको-'कार्य' कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों की भाषामें प्राण—Motion एवं रयि=Matter है।

† यत् कार्यं यदन्वितं दृश्यते तत्तस्य कारणं कार्य-विकल्पनात् प्राक्सिद्धम्। तथा बुद्ध्यादेर्विकल्पस्य सदर्थान्विततया उपलभ्यमानत्वात् प्राक् सिद्धं 'सत्'-कारणत्वमेव युक्तम्" ।-उपदेशसाहस्री, रामतीर्थ; १६। १६ ।"सर्वानुस्यूतस्यापि असङ्ग-स्वभावतया-निर्विशेषत्वम्" ४। ५७।

‡ सकलस्वविकारानुगतस्यैव उपादानकारणत्वात् कार्यापेक्षया अधिक देश वृत्तित्वेन व्यापित्वम् कारणस्य"-उपदेशसाहस्री (रामतीर्थ कृत टीका)।"यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरति, एवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरति; एकञ्च पुनः सत्वम्"-वेदान्तभाष्ये शङ्कर, २।१।१६,। परमार्थ दृष्टि में एक ही सत्ता सर्वत्र सर्वदा जागरूक है, सुतरां परमार्थतः उस सत्ताका अवस्थान्तर नहीं हो सकता। तथापि कार्यवर्ग कारण सत्ता से 'स्वतन्त्र' कोई वस्तु नहीं, यही समझाने के लिये, सृष्टिकाल में निर्विशेष-सत्ता का एक 'अवस्थान्तर' स्वीकार करके कार्य-कारण-वाद अवलम्बित हुआ है। "तत्वदृष्ट्या कार्य-कारणत्वस्याप्रसिद्धत्वे अविवेकिनां विवेकोपायत्वेन कार्यकारणत्वमुपेत्य सूत्रकार-प्रवृत्ति जन्मादि सूत्र-प्रमुखैः। तदतिरेकेण जगतोऽभावात् ब्रह्मैव सर्वमिति"-गौड़पाद भाष्ये आनन्दगिरिः।

कारणसत्ता वा अव्यक्तशक्ति ही सब से प्रथम सूक्ष्म स्पन्दनरूप से अभिव्यक्त होती है। इस लिये स्पन्दन वा हिरण्यगर्भ ही विश्व के तावत् पदार्थों का सूक्ष्म-उपादान है। किस प्रकार यह स्थूल होता है, सो कहते हैं। जब ही सूक्ष्म स्पन्दन क्रिया का विकाश करता रहता है, तभी वह 'प्राण,के आकार से और 'रयि, के आकार से व्यक्त होकर कार्य करता है। यह प्राण और रयि-स्थूल जगत् का स्थूल उपादान है। यह प्राण और रयि क्या है?

आधुनिक विज्ञान की भाषा में प्राण को Motoin एवं रयि को Matter कह कर अनुवाद किया जा सकता है। प्राण और रयि एक साथ व्यक्त होते हैं एक साथ रहते और एक साथ काम करते हैं। रयिके आश्रममें रह कर प्राणांशके क्रिया करते रहने पर, रयि का अंश (Matter) जैसे घनीभूत, हुआ करता है, वैसे प्राणांश भी (Motion) साथ साथ घनीभूत होता है। इस प्रकार दोनों एक साथ इस जगत् को गढ़ डालते हैं। प्राणांश के आकाशमें वायु, तेज, आलोकादि आकार से विकीर्ण होते रहने पर, उसका रयि अंश घनीभूत हुआ करता एवं इस घनीभवन की प्रथम-अवस्था 'जल, और अन्तिम अवस्था 'पृथिवी, है। प्राणीराज्य में भी, गर्भस्थभ्रूण में प्रथम प्राणांश की अभिव्यक्ति होती है, प्राणांश के रस-रुधिरादि की परिचालना करते रहने पर, उसका रयि अंश घनीभूत होकर देहके अवयवोंका गठन करता रहता है एवं साथ साथ घनीभूत होकर प्राणांश चक्षुकर्णादि इन्द्रियोंके रूपसे व्यक्त होता जाता है इस प्रकारसे, प्राण और रयि दोनों, एक संग काम करके स्थूल जगत्का निर्माण करते हैं। अतएव प्राण एवं रयि नामक जोड़ोही स्थूल उपादान है*

* अग्नि और जल इसी भाँति विकाशित होते हैं,-ऋग्वेद में भी ऐसी एक ऋचा देखिये—"क इमं वो निण्यमाचिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभिः। वह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थात् महान् कविः निश्चरति स्वधावान्"-१।९५।४। गूढ़ अग्निको तुम्हारे मध्य में कौन जानता है? वह अग्नि पुत्र होकर भी स्वधा (अन्न रयि) द्वारा अपने मातादि को (जलको) जन्मदान करता है। यह महान् सर्वज्ञ अग्नि—स्वधा वा अन्न-विशिष्ट है। जल का गर्भस्थानी अर्थात् सन्तानस्थानी यह, जल से ही निर्गत हुआ करता है। पाठक और भी देखें—"त्वेषं रूपं कृणुत उत्तरं यत् संपृचानः सदने गोभिरद्भिः। कविर्बुध्नं परिमर्मृज्यते धीः, सा देवताता समितिर्बभूव"—१।९५।८। जब वह अन्तरिक्ष में गमनशील जल द्वारा संयुक्त होकर दीप्त व उत्कृष्ट रूप धारण करता है, तब वह मेधावी सर्वलोकधारक अग्नि जलके मूलीभूत अन्तरिक्ष को तेज द्वारा आच्छादित करता है। अग्नि द्वारा विस्तारित वह दीप्ति एकत्रित हुई थी।

दान है।*महामति Herbert Spencer इसी सिद्धान्तमें उपनीतहुए हैं हमने द्वितीय खण्ड को अवतरणिका में, श्रुतियों और शङ्करभाष्य को अधिक प्रमाणमें उद्धृत कर हर्वर्टस्पेंसर साहबका भी कथन उद्धृत किया है। पाठकों से वह अंश देखने के लिये अनुरोध करते हैं। यहां पर भी एक अंश लिख जाता है:—

In proportion as an aggregate retains for a considirable time such a quantity of motion as permits secondary redistribution of its component matter, there necessarily arises secondary redist ribution of its retained motion, "Every mass from agrain of sand to a planet, radiates heat to other masses and absorbs heat radiated by other masses, and in so far as it does the one it becomes integrated while in so far as it does the other, it becomes disintegrated......If the loss of molecular motion proceeds, it will prsently be followed by liquifaction and eventually by solidification."

शंकर ने लिखा है—आप्यं वा पार्थिवं वा धातुमनाश्रित्य स्वातंत्र्येण अग्नेः आत्मलाभो नास्ति। इसीलिये ऋग्वेद में भी अन्तरिक्ष में अन्नादि के साथ साथ जल और पृथिवी की बात कही गयी है। उस सम्बन्ध में टीका में किञ्चित् उद्धृत कर पाठकों को दिखाया गया है। प्राणी देह के विषय में भीहर्वर्ट स्पेंसर क्या सिद्धान्त करते हैं देखिये:—

In organisms, the advance towards a more integrated distribution of the retained motion which accompanies the advance towards a more intergrated distribution of the component matter, is mainly what we understand as the development of functions.

शङ्कर कहते हैं-"अन्ने देहाकारे परिणते प्राणस्तिष्ठति तदनुसारिण्यश्च वागादयः स्थितिभाजः"। "मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदान् यथास्थानमक्ष्यादि गोलकस्थाने सन्निधापयति इतरान् चक्षुरादीन्"। ऐतरेयारण्यकभाष्य में भी शङ्करने कहा है कि प्राणांश और रयि-अंश परस्पर परस्पर का उपकारक है। रयि-देहावयव और देह गढ़ डालता है एवं देहान्तर्गत प्राण-इन्द्रिय रूपसे क्रिया करता हुआ उपकार करता

है । "उपकार्योपकारकत्वात् अत्ता (प्राणांश) अन्नञ्च (रयि) सर्वम् । एवं तदिदं जगत् अन्नमन्नादञ्च"। "भूतानां शरीरारम्भकत्वेन उपकारः तदन्तर्गतानां तेजोमयादीनां करणत्वेन उपकारः" (वृहदारण्यक, मधुविद्या) ।

इस प्राण को–आदित्य, अग्नि, अन्नाद नाम एवं रयि को–सोम, चन्द्र, अन्न नाम से अभिहित करते हैं । एक "भोक्ता" दूसरा भोग्य भी कहा जाता है । प्राणांश ही शक्ति का सूक्ष्मरूप वा "अमूर्त्त" आकार एवं रयि ही शक्तिका स्थूलरूप वा "अमूर्त" आकार सर्वव्यापी स्पन्दन वा प्रजापति* से ही इस मिथुन का (प्राण और रयिका) उद्भव होता है स्वरूपतः दोनों ही एक ही तत्व हैं † । क्योंकि, मूलतः वे शक्तिमात्र हैं एवं शक्ति के विकाश से ही उनकी उत्पत्ति है । सूक्ष्म स्पन्दन-शक्तिके विकाश का आरम्भ होते हीउसका एक अंश प्राण-रूप से एवं अपर अंश रयि रूप से क्रिया करता रहता है ‡ जगत्में जो कुछ पदार्थ हैं तावत् पदार्थ ही इस प्राण और रयि से उत्पन्न हैं; सभी कुछ इस अग्नि–सोम से उत्पन्न होता है । अग्नि सोमात्मकं जगत् ।

ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में अग्नि और सोम (किसी किसी स्थल में इन्द्र और

---

* स्पन्दनशक्ति के साथ साथ चैतन्य वर्तमान है । यह बात भूलने से काम न चलेगा । चैतन्यसत्ता ही जब अव्यक्तशक्ति रूप से, एवं अव्यक्तशक्ति ही जब स्पन्दन रूप से अभिव्यक्त है, तब वह अवश्य ही चैतन्यविशिष्ट है । इसीलिये भाष्यकार ने कठभाष्यमें स्पन्दन व हिरण्यगर्भ ज्ञानात्मक और क्रियात्मक माना है । द्वितीयखण्ड की अवतरणिका में सृष्टितत्व देखो ।

† क्योंकि, जो अन्न अंश (Matter) है, वह भी शक्तिका ही रूपान्तर मात्र है । हर्बर्ट स्पेन्सर लिखते हैं:—

Matter, in all its proportions, is the Unknown Cause of all sensations it produces in us of which the one which remains when all the others are absent is resistance to our efforts.

शङ्कर भी मैत्रेयी के उपाख्यानमें कहते हैं,—विषय और इन्द्रिय तुल्य जातीय पदार्थ हैं ।

‡ "अन्नमयस्याभ्यन्तर आत्मा साधारणः अत्ता, उक्थं, ब्रह्मा, इन्द्रः इत्येवं शब्दवाच्यः"–ऐतरेयारण्यकभाष्य, शङ्कर ।

सोम, एवं पूषा और सोम) नामक देवताओं की एकत्र मिली हुई स्तुति की गई है। यह अग्नि-सोम, उपनिषदों का प्राण और रयि मात्र है। कितने ही सूक्तों में जैसे अग्नि व आदित्य की एवं अन्न वा सोम की पृथक् पृथक् स्तुति की गई है; वैसे ही अनेक सूक्तों में अग्नि-सोम की एकत्र स्तुति-एक ही स्तुति की गई है। * ऋग्वेद -में भी स्पष्ट देखा जाता है कि, अग्नि सोम ही जगत् का उपादान है। शक्तिके सब प्रकार के विकाश के संग संग चैतन्य सर्वदा अवस्थित रहता है—ऐसा क्या मूल में जो चैतन्य वा ज्ञान है, वही विकाशके समय शक्त्याकार से विकाशित हुआ करता है †। इस लिये ऋग्वेद ने इस अग्नि-सोम की स्तुति में इसको चेतन ही माना है। अ-चेतन जड़ शक्ति रूप से स्तुति नहीं की गई। यह हिरण्यगर्भ का ही अवस्थान्तर ·था

* ऋग्वेद में सोम की उत्पत्ति सम्बन्ध में एक गल्प है। श्येन पक्षी स्वर्ग से सोम को पृथिवी पर लाता था, मार्ग में गन्धर्व ने उसे चुरा लिया, पश्चात् वाणी देवी जाकर सोमको लेआई थी। (१।८०।२।३।४३।७।४।२६।४-६) शतपथ के अनुसार सायणाचार्य भी इस श्येन पक्षी को—गायत्रीरूपी और छन्दोरूपी बत-लाते हैं। इस कथाका तात्पर्य क्या है? हमारा विश्वास है कि, इसमें एक वैज्ञानिक तत्व निर्दिष्ट हुआ है। शक्ति वा स्पन्दन जब प्रथम 'करण, रूप वा 'प्राण, रूप से व्यक्त होता है, तब वह 'रयि, वा 'सोम, के सहित ही व्यक्त होता है; पाठकों ने यह मूल में देख लिया है किन्तु व्यक्त होने के समय यह छन्दोरूप से—ताल ताल में—Pulsation वा Rhythmरूपसे व्यक्त होता है। यही सब शब्दों का मूलभूत है। सायण सूर्यरश्मि को ही 'गन्धर्व, कहते हैं। तेज के मध्य में ही सोम गूढ़रूप से था, वही तेज के विकाश के सँग सँग वाणीरूप से-शब्द-रूपसे छन्द-रूपसे-Rhythm रूपसे प्रकाशित हुआ। इस विकाश के साथ जो चैतन्य वर्त्तमान है उसको बताने के लिये ही वेद में 'ब्रह्मणस्पति, वा 'बृहस्पति, का वर्णन देखा जाता है।

रयि एवं प्राण के सम्बन्ध में ऋग्वेद का वर्णन सुनिये—"अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतो अमर्त्यो,मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्" १।१६४।३४ अमूर्त्तके सहित, नित्य,-अनित्यके सहित एक स्थान में रहता है। स्वधा वा अन्न द्वारा,युक्त होकर वह कभी ऊपर कभी नीचे गमन करता है; (परलोक में भी) सर्वत्र गमन करता है। लोग इन में से एक को प-हचान पाते हैं, दूसरे को नहीं। पाठक देखें, Motion एवं Matter का कैसा सुन्दर वर्णन है। शङ्कर और सायण ने अनेक बार 'स्वधा, का अर्थ अन्न लिखा है।

† "सम्भूतश्चासौ कर्मतया स्वसंविदं·जनयति……विद्वद्दृष्ट्यानुरोधेन अन-न्यत्वात्"-आनन्दगिरि (गौड़पादकारिकाभाष्य, ४।५४)

विकाशमात्र है; सुतरां यह अग्नि-सोम भी चेतनात्मक और क्रियात्मक ही है *। ऋग्वेद में यह तत्व स्पष्ट है। यह ब्रह्मसत्ता की ही विकाशात्मक अवस्था है, इसलिये ब्रह्मसत्ता से पृथक् इस की स्वतन्त्र-सत्ता नहीं मानी जाती। यह तत्व हमारे पूर्वज ऋषियों को भली विदित था। अग्नि-सोम वा प्राण-रयि-वैदिक ऋषियोंकी सभा में इसी रूप से गृहीत हुआ था। वर्त्तमान काल में, इस मूल तत्व को न जानने से, हम वैदेशिक पण्डितगणों की व्याख्या के अनुसार वैदिक 'अग्नि,को केवलमात्र भौतिक अग्नि मान कर एवं 'सोम, को केवलमात्र सोम नामक मत्तताजनक लता-वृक्ष मान कर भ्रम में पड़ जाते हैं और ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों को-जड़-पदार्थों के उद्देश्य से प्रयुक्त, भ्रांति विस्मय-सूचक प्रशंसावाद मात्र कह कर अद्भुत आलोचना प्रकट करते हैं! ऐसी भ्रान्ति को मिटाने के निमित्त हम यहां पर ऋग्वेद से इस अग्नि-सोम के सम्बन्ध में कतिपय ऋचायें उद्धृत करते हैं। पाठकवर्ग देखेंगे, उपनिषदों का सिद्धान्त और ऋग्वेद का सिद्धान्त कैसा मिल रहा है। सोम का वर्णन सुनिये—

त्वमिमा ओषधीःसोम विश्वा -
त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ॥
त्वमाततन्थोर्व्वन्तरीक्षम् ।
त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ ॥ १ ॥ ९२ ॥ २२

हे सोम! तुमने ही इस विश्व की यावतीय ओषधियों को उत्पन्न किया है। तुमसे ही जल उत्पन्न हुआ है एवं तेज वा किरण-समूह भी तुमसे उत्पादित हुआ है. तुम ही इस विशाल अन्तरिक्ष को विस्तारित कर रक्खे हो एवं तुम ही ज्योति द्वारा अन्धकार नाश करते हो।

तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसः ।
त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥
अथेदं विश्वं पवमान ते वशे ।
त्वमिन्दो प्रथमो धामधाऽअसि । ९ । ८६ । २८

तुम्हारी जो दिव्य उत्पादिका शक्ति है, उसी से ये विश्व की प्रजायें उत्पन्न हुई हैं। तुमही इस प्रजावर्ग के सम्राट हो-प्रभु हो। यह विश्व तुम्हारे आधीन है। तुम ही सब लोकों (स्थानों) के आदि-आश्रयदाता हो।

* हैरण्यगर्भतत्त्वं बोधाबोधात्मकम्"-कठभाष्य।

या ते धामानि दिवि या पृथिव्याम् ।
या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु ।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेलन् ।
राजन् सोम प्रतिहव्या गृभाय । १ । ९१ । ४

पर्वतों में, ओषधियों में, जल में, पृथिवी में, एवं स्वर्गलोक में—सर्वत्र तुम अवस्थान करते हो । प्रसन्न होकर हमारी उन सब स्थानों के सहित निश्छल रक्षा कीजिये । हे राजन् ! हे सोम ! हमारी प्रदत्त हवि ग्रहण करो ।

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोमऽहितः १०।८५।२

आदित्यों (सब देवताओं) का जो बल वा सामर्थ्य है, वह सोम से ही लब्ध हुआ है । यह महती पृथिवी भी सोम से ही सामर्थ्य पानेवाली है । आकाशस्थ नक्षत्रराजि में भी यह सोम ही निहित है । अग्नि के सम्बन्ध में मन्त्र सुनिये—

वियो रजांस्यमिमीत सुक्रतुः ।
वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः ॥
परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथे ।
दब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता ।६।७।७

अग्नि शोभनकर्म-विशिष्ट एवं प्रज्ञावान् है । इसने भू आदि सब लोकों का निर्माण किया है । यह त्रिभुवन का विस्तार कर्त्ता एवं रक्षक है और अमृत की भी यह रक्षा करता है । [अमृत का अर्थ—अविनाशी ब्रह्मसत्ता भिन्न अन्य कुछ नहीं]

स जायमानः परमे व्योमनि ।
आविरग्निरभवन्मातरिश्वने ।१।१४३।२

यह अग्नि परम-व्योम में (आकाश में) सर्व प्रथम, मातरिश्वा के निकट आविर्भूत हुआ था । [पहिले ही कह चुके हैं कि मातरिश्वा जगत् के उपादान 'अव्यक्तशक्ति, का नाम है । अव्यक्त शक्ति प्रथम तेज, प्रकाश रूपसे अभिव्यक्त होती है, यही इस मन्त्र में कहा गया है ।]

नू च पुरा च सदनं रयीणां ।
जातस्य च जायमानस्य च क्षाम् ।

सतश्च गोपां भवतश्च भूरेः।
देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्।१।९६।७

कार्यों के उत्पन्न होने के पहिले एवं पीछे भी, यह अग्नि ही पृथिव्यादि कार्यों का (रयि का) आश्रय-स्थान है। पूर्व-प्रलय काल में, वर्तमान में एवं फिर जब प्रलय होगा—इन तीनों अवस्थाओं में ही, अग्नि ही तावत् पदार्थों का आश्रय स्थान है। जो कुछ विद्यमान है, एवं जो सब पदार्थ भविष्यत् में प्रचुररूपसे उत्पन्न होंगे, अग्नि ही उनका रक्षक-पोषणकर्ता है। ऐसे धनदाता अग्नि को सभी देवता धारण कर रहे हैं।" अग्नि और सोम की एकसाथ स्तुति यह हैः—

"सोमा पूषणा जनना रयीणां
जनना दिवो जनना पृथिव्याः।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ,
देवा अकृण्वन् अमृतस्य नाभिम् *॥२।४०।१

अग्नि-सोम-तावत् स्थूल पदार्थों (रयीणाम्) की उत्पत्ति के कारण हैं। द्यौ एवं पृथिवी, अग्नि-सोम से ही जन्मे हैं। अभिव्यक्त होने के समय से ही ये त्रिभुवन की रक्षा करते आते हैं। देवता इनको "अमृत की नाभि" मानते हैं। [अमृतकी नाभि,—किसे कहते हैं? अविनाशी कारण-सत्ता या ब्रह्म-सत्ता इनके भीतर ही अनुस्यूत हो रही है, इस कारण अग्नि-सोम ही अमृत की नाभि हैं।]

इसी प्रकार असंख्य मंत्र उद्धृत करके दिखाया जा सकता है कि, ये सब मंत्र कदापि जड़ वस्तुओं के प्रति प्रयुक्त नहीं हुए। ये सब मंत्र अत्यन्त स्पष्ट भाषा में अग्नि-सोम को स्थूल-विश्व का उपादान कारण बतला रहे हैं और अग्नि-सोम मूल में चेतन सत्ता के ही रूपान्तर हैं, अतएव चेतन हैं, जड़ नहीं, सो यह बात भी बहुत से मंत्रोंमें उद्घोषित हो रही है। देखियेः—

"त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा
त्वयं रजिष्ठ मनुनेषि पन्थाम्।

* अग्नि-सोम से ही सर्व प्रथम सूर्य चन्द्र-नक्षत्रादि-समन्वित सौर-जगत् उत्पन्न हुआ था, इस बात को ऋग्वेद ने बड़ी स्पष्टता के साथ कहा है-"त्व मेतानि दिवि रोचनानि अग्निश्च सोम सुक्रतु अधत्तम्," १।९३।५॥

तव प्रणीतीपितरो न इन्दो

देवेषु रत्नमभजन्त देवाः ॥१।९१।१

हे सोम ! तुम अपने ज्ञान से सब पदार्थों को ही प्रकृष्ट-रूप से जान सकते हो विश्वमें जो एक सीधा मार्ग है, तुम उस मार्ग को जान सकते हो एवं तुम उस मार्ग होकर ही जीवको ले जाते हो। हे इन्दो ! हे सोम ! तुम्हारे प्रदर्शित पथ व नीति का अवलम्बन करके ही हमारे पितृ-पुरुषगण, देवलोकमें देव-सायुज्य प्राप्तकर, रत्नलाभ में समर्थ हुए हैं। अग्नि के सम्बन्ध में यह भी मंत्र है:—

"स इत्तन्तुं स विजानात्योतुं

स वक्त्वान्यृतुथा वदाति।

यऽईं चिकेतदमृतस्य गोपा

ऽअवश्चरन् परोऽअन्येन पश्यन् ॥ ऋ० ४-५-११

इस विश्वरूप वस्त्र के उभयविध सूत्र (ताना और वाना)को अग्निही केवल जानता है, दूसरा नहीं जानता। जब कालप्रभाव वश वैदिक तत्व विलुप्त हो जाता है, तब अग्नि ही उस तत्व को जीवों के निकट प्रकट कर देता है। अग्नि सब कुछ जानता और अविनाशी अमृत का रक्षक है। यह जैसे नीचे भूलोक में अग्निरूप से स्थित है, वैसे ही आकाश में सूर्यरूप से स्थित रहकर पृथिवी की सब वस्तुओं का निरीक्षण करता है।

प्रिय पाठक ! आप विवेचना कर देखें, ये सब मंत्र क्या कभी भी भौतिक जड़ वस्तुओं के प्रति प्रयुक्त हो सकते हैं ?

यह प्राण और रयि शक्ति ही विश्वव्यापक एवं विश्व का उपादान है। सौर जगत् में प्राण-शक्ति की प्रधान अभिव्यक्ति—तेजोराशि पूर्ण सूर्य है, एवं रयि शक्ति की प्रधान अभिव्यक्ति—जलीय उपादानबहुल चन्द्रमा है।

सूर्य जब पूर्व दिशा में उदित होकर अपना किरण-जाल विकीर्ण करताहै। तब उसकी मयूख-माला पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः—सब दिशाओंमें बिखर कर सब पदार्थोंको उद्भासित कर डालती है। उस समय सूर्य, चतुर्दिक् अवस्थित पदार्थ राशि और जीव-समूह-की प्राण शक्तिको अपनी किरणों के सहित सम्बन्ध-व्याप्त करता रहता है। क्योंकि यावतीय वस्तुओं की अन्तर्गत प्राण शक्ति एवं सूर्य की तेज शक्ति-एक जातीय शक्तिमात्र है। इस को ही वैश्वानर, अग्नि, विश्वरूप और

प्राण नामसे पण्डितगण अभिहित करते हैं। इस सूर्य को लक्ष्य करके एक अति प्रसिद्ध पुरानी गाथा चली आती है, उसका अभिप्राय यह है:—

"विश्वस्थ पदार्थों और जीवमात्र का प्राणस्वरूप यह ज्योति वाला सूर्य उदित हो रहा है। यह चहुँ दिश असंख्य किरणें फैला कर प्रत्येक प्राणी के शरीर में वर्त्तमान हो रहा है *। यह प्राण शक्ति का रूपान्तर-मात्र है; सुतरां यह विश्व की तावत् वस्तुओं से परिचित है। यह विश्व की सारी क्रियाओं के आश्रयरूप से विराजित है। यही जीवों की दर्शन-शक्ति के रूपसे देह में स्थित है। यह विश्वरूप धारण कियेहैं एवं यह सौय राशियोंद्वारा सकलपदार्थोंको उत्ताप प्रदान करता है†"।

जगत् सृष्टि आदि सभी क्रियाएं काल में हुआ करती हैं क्योंकि, क्रियामात्र ही काल के अन्तर्भुक्त हैं। इस लिये, प्रजापतिका कालात्मक शब्द से निर्देश किया गया है। वर्ष, मास, दिवारात्रि—ये काल के ही अंश वा अवयव हैं। सुतरां ये सब ही प्रजापति की अभिव्यक्ति नाम से निर्देशित हुआ करते हैं। सूर्य एवं चन्द्रमा ही—काल के परिमापक हैं। काल का प्रधान अवयव-वत्सर है। यह वत्सर सूर्य चन्द्र द्वारा शासित है। किन्तु सूर्य और चन्द्र—रयि और प्राण-नामक मिथुन की ही प्रधान अभिव्यक्ति हैं, सुतरां वत्सर के भी दो अंश हैं। एक वत्सर में छः मास उत्तरायण और छः मास दक्षिणायन होता है। इन अयनों की समष्टि ही वर्ष है। चन्द्र ही इन अयनों के शासक हैं। इससे प्राण वा आदित्य वा अग्नि-शक्ति की अभिव्यक्ति उत्तरायण है, एवं अन्न वा रयि का चन्द्रशक्ति की ही अभिव्यक्ति-दक्षिणायन है ‡।

---

*प्राण वा 'करणांश, (Motion) सब से पहिले तेज, आलोकादि के आकार से अभिव्यक्त होता है एवं उसका कार्यांश(Matter) साथ साथ घनीभूत होता जाता है इस सघन होने की पहली अवस्था'जल, और पिछली अवस्था'पृथिवी, है। गर्भस्थ भ्रूणमें भी प्राणशक्ति पहले प्रकट होती हैं एवं जितना ही वह रस-रुधिरादि की चालना-करती रहती है साथ ही साथ उसका 'कार्यांश, देह का संगठन करता रहता है एवं साथ ही साथ 'करणांश, इन्द्रिय-शक्तिरूप से क्रिया करता जाता है। अतएव बाहर का तेज, प्रकाश आदि जो वस्तु है, भीतर चक्षु, कर्णादि शक्ति भी वही वस्तु है। बाहर, भीतर एक ही शक्ति विराजमान है।

† यह ऋग्वेद की ही गाथा है।

‡ कालमें ही क्रियाकी अभिव्यक्ति होती है। सुतरां क्रियामात्रके ही (अर्थात् काल के) दो अंश हैं। एक 'करणात्मक' अंश हैं, एक 'कार्यात्मक, अंश है। यही तात्पर्य है।

इस उत्तर एवं दक्षिण मार्ग द्वारा ही कर्मानुसार जीवों की गति हुआ करती है।

रयिके अभिव्यक्ति-स्वरूप चन्द्र-द्वारा जो मार्ग शासित है, उसका नाम "पितृयान-मार्ग" है। और प्राण की अभिव्यक्ति सूर्य द्वारा जो मार्ग शासित है, उसका नाम "देवयान मार्ग" है। जो लोग ब्रह्म-सत्ता को उद्देश्य रखकर कर्मानुष्ठान नहीं कर सकते, जो इस लोक की पुत्र-पशु-वित्त-यश कामना वा परलोक की निकृष्ट स्वर्ग-भोगाशा से स्वतन्त्र वस्तु बोध से देवाराधना वा यज्ञादि-क्रिया सम्पादन करते हैं, वे ही इस हीनपथ, पितृयान-मार्गके यात्री बनते हैं और जो कर्म के साथ ज्ञानको मिला कर, देवताओं में ब्रह्मसत्ता का अनुसन्धान करते हुए यज्ञ की अग्नि में तथा सामग्रीमें ब्रह्मदर्शन करनेमें समर्थ हैं, अथवा जो व्यक्ति सर्वत्र केवल ब्रह्म सत्ता का अनुभवरूप भावनात्मक यज्ञ करने में अभ्यस्त हैं, ऐसे साधक ही उत्कृष्ट देवयान मार्ग के यात्री होते हैं। पितृयान-पथ से जिनकी गति होती है उनको फिर भी लौटकर इस मृत्यु लोक में पचना पड़ता है। किन्तु देवयान पथ के पथिकों को लौटना नहीं पड़ता, उन्नत से भी उन्नततर लोकों में उनकी गति होती है।

पितृयानमार्ग और देवयान मार्ग के साधनों को भी सुन लीजिये। दरिद्रोंको अन्नादि वितरण करना, वापीकूप तड़ागादि खनन, विद्यालय, औषधालय आदि स्थापन करना ये सब परोपकार साधक कर्म ही पितृयान मार्ग के साधन हैं। अग्नि होत्रादि यज्ञानुष्ठान, अतिथिसेवा; वेदाध्ययन भूत-बलि और ऐसे स्वर्गप्राप्ति साधक सकाम कर्म सभी इस पथके साधन हैं। इन साधनोंमें स्वतन्त्र रूप से ही देवताओं का बोध होता है। ये समस्त साधक जड़ दृष्टि सम्पन्न होते हैं। ये लोग कार्यों को स्वतन्त्र वस्तु समझते रहते हैं। एक कारण-सत्ता ही कार्यों में अनुप्रविष्ट है, इस तत्व की धारणा ये नहीं कर सकते। किन्तु देवयान मार्ग की साधन प्रणाली अन्य प्रकार की है। पहले इन्द्रियों को संयत-वशीभूत करना चाहिये। अर्थात् आंख, कान आदि इन्द्रियां अपने मन से चाहे जहाँ बाह्य विषयों में दौड़ने न पावें, साधक अपनी इच्छानुसार उनको अपने वश में रक्खें, सर्वदा इसका अभ्यास कर्तव्य है। दूसरे ब्रह्मचर्य धारण करना आवश्यक है। काम-प्रवृत्ति का पूरा दमन आत्मायत्त हो, एवं वीर्य धातु सर्वथा सुरक्षित रहे, इस सम्बन्ध में बड़ी सावधानता के साथ मनः संयोग रखना होगा। तीसरे आत्म-सत्ता सर्वत्र अवस्थित है, इस विषय का पूर्ण विश्वास, प्रतीति और श्रद्धा रहे। सभी कार्य कारण-सत्ता से प्रकट हैं कारण-सत्ता या आत्म सत्ता से 'स्वतन्त्र' किसी की भी सत्ता नहीं है, ऐसा ज्ञान बढ़ता ही रहे एतदर्थ नित्यही ब्रह्मविद्या का अनुशीलन कर्तव्य है। आत्म-सत्ता और समस्त

पदार्थों की सत्ता एक ही है, यह ज्ञान सुदृढ सुस्थायी रहना चाहिये। ऐसे साधक ही प्राण-दर्शी साधक कहे जाते हैं। पितृयान मार्ग की साधना जिस प्रकार कार्यों में निबद्ध है उसी प्रकार देवयानमार्ग की साधना कार्यों में अनुप्रविष्ट कारण-सत्ता में निबद्ध है। इसीलिये पूर्वोक्त पथको चन्द्रद्वारा (कार्यात्मक अंश) शासित एवं देव-यान पथ को सूर्य द्वारा शोसित (करणात्मक अंश) तत्वदर्शी माना करते हैं। देव-यान पथ में गमन कर सकने से, अभय, अमृत, अविनाशी सबका आश्रय, परम पद ब्रह्मपद मिल जाता है और पितृयान पथ में जाने से क्षयशील या विनाशी लोकों में पुण्यक्षय होकर पुनः इस संसारचक्र में लौट आना पड़ता है।

काल के अवयव-स्वरूप जिस संवत्सर की चर्चा ऊपर हो चुकी है, उस संवत्सर के सम्बन्ध में आपको एक अति प्राचीन गाथा सुनाते हैं—

"कालात्मक प्रजापति के अवयवभूत वत्सर के द्वादश मास ही अङ्ग स्वरूप हैं। ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त शिशिर और वसन्त इन ऋतुओं की वत्सरके पदरूप से कल्पना की जाती है। यह सबका जनक और यह आकाश में अवस्थित है * जो कालतत्वज्ञ और तत्वदर्शी पुरुष हैं,वे इस (कार्यात्मक)वर्ष 'जल-विशिष्ट, भी कहा करते हैं †और तत्वज्ञाता इसको 'सर्वज्ञ' कहकर भी निर्देश करते हैं ‡। कुछ पण्डित

---

* सभी क्रियाओं का काल में विकाश होता है। अनन्त विभु काल क्रियाओं द्वारा ही खंड-खंड रूप से प्रतीत हुआ करता है। स्पन्दन ने जभी "करणाकार" से क्रिया का विकाश किया, तभी से काल की भी उत्पत्ति है। करणांश का प्रथम वि-काश तेज वा सूर्य है, इसलिये आकाश में स्थित कहा गया। करणात्मक और कार्यात्मक क्रिया से ही जगत् जन्मा है, इससे वत्सर 'सबका जनक है'।

† पाठक देखें, सूर्य जब कि शक्तिके कारणात्मक अंश २ को ही अभिव्यक्ति है तब उसके साथ निश्चय ही कार्यात्मक अंश भी है। कार्यात्मक अंश ही घनीभूत होकर पहिले जल फिर पार्थिव रूप धारण करता है। यह निर्देश करने के लिये ही सूर्य्य को "जल विशिष्ट" कहा गया है। ऋग्वेद के कई स्थलों में यह बात पाई जाती है।

‡ सर्वज्ञ कहने का भी अभिप्राय ध्यान में रखना चाहिये। चेतन सत्ता ही जब कि पहले अव्यक्त-शक्तिरूप से फिर वही स्पन्दन रूप से; पश्चात् वही फिर करणा-त्मक व कार्यात्मक रूप से अभिव्यक्त होती है, तब कोई भी विकाश चेतनसत्ता से पृथक् नहीं-स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। यह कहना ही उद्देश्य है। द्वितीय खण्ड की अवतरणिका में सृष्टि-तत्व देखिये। वहाँ सब बातें विस्तार से कही गई हैं।

भू (पृथिवी) भुवः (अन्तरिक्ष) द्यौः (आकाश) महः, जन,तप और सत्य ये सात लोक हैं। ये सभी लोक जीवों से पूर्ण हैं एवं इनमें ही मरने के पश्चात् म-नुष्यों की गति हुआ करती है। अर=Shekes of wheel.

सप्त लोकों से इस कालात्मक वर्ष के सप्तसंख्यक अश्वों की कल्पना करके, एवं ६ ऋतुओं की अर-रूप से कल्पना करके इसको एक निरन्तर घूर्णायमान रथचक्र मानते हैं। इसीके बीच में समस्त विश्व निहित हो रहा है *।

क्रियात्मक काल के प्रधान अवयव संवत्सर की बात कही गई। आगे वत्सर के अवयव-स्वरूप-मास की चर्चा की जाती है। दो पक्षों से एक मास होता है। प्राण और रयि नामक मिथुन से ही जब कि सबकी अभिव्यक्ति हुई है तब तब मास के भी अवश्य दो अंश हैं। एक प्राण से उत्पन्न दूसरा रयि से उत्पन्न अंश है। ये दो अंश ही शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष नाम से प्रसिद्ध हैं †। जो लोग प्राण-दर्शन के नित्य अभ्यासी हैं, जो सर्वदा सर्वत्र केवल कारण-सत्ता या ब्रह्म-सत्ता का ही अनुभव करते रहते हैं, ऐसे साधक जिस पक्ष में भी किसी कर्म का आचरण क्यों न करें, उनका कर्म शुक्ल पक्ष में आचरित होने के तुल्य ही फल उत्पन्न करेगा। किन्तु जो प्राणशक्ति के अनुभव में असमर्थ हैं, जो जड़दर्शी हैं, अर्थात् जिनका पदार्थ विषयक स्वातन्त्र्य बोध अब भी तिरोहित हुआ नहीं, वे यदि शुक्ल पक्ष में भी किसी यज्ञादि का अनुष्ठान करते हैं, तथापि उस यज्ञ से कृष्ण पक्ष में सम्पादित हुए यज्ञ का सा ही फल निकला करता है। ये अज्ञानाच्छन्न कर्मी हैं। अतएव प्राण व ज्ञान के फल लाभ में असमर्थ हैं। शुक्लपक्ष प्रकाशात्मक ज्ञान का प्रतिनिधि है और कृष्णपक्ष अ-प्रकाशमय अज्ञान का प्रतिनिधि है।

वर्ष का अवयव जैसे महीना है, वैसे ही महीने का अवयव अहोरात्र है। इस अहोरात्र के भी दो अंश हैं, एक अंश दिन है दूसरा अंश रात्रि है। प्राण वा अग्नि एवं रयि वा चन्द्र नामक मिथुन से ही जब तावत् पदार्थ प्रकट हुए हैं, तब दिन ही उस प्राण का परिचायक एवं रात्रि रयि का

---

* यह ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त का १२वाँ मन्त्र है।

† प्रजापति (स्पन्दनात्मक) ज्ञानात्मक और क्रियात्मक है। सभी जब प्रजापतिसे अभिव्यक्त हैं, तब अवश्य ही सकल पदार्थ ही ज्ञानात्मक और क्रियात्मक हैं। यह विषय पहले कहा गया है। [इस संवत्सर का एक सुन्दर वर्णन ऋग्वेद (३-५६-२) में मिलता है वह यह है—

"षड्-भारान् एको अचरो बिभर्ति ऋतं वर्षिष्ठं उपगाव आगुः। तिस्रो मही-रुपरास्तस्थुः अत्या गुहाद्वे निहितेदर्श्येका॥" अपरिवर्तनीय, वृद्ध आदित्यात्मक वत्सरके छः ऋतुएं अवयव हैं। यह एक ही अटल होकर छः भारों में वहन करता है। सब किरणें इसे प्राप्त होती हैं। इस वत्सर में ही उत्पत्ति नाश शील भू आदि तीन लोक अवस्थित हैं। एक पृथिवी देख पड़ती हैं, अन्य दो लोक नेत्रोंसे अदृष्ट निगूढ़ हैं।

परिचायक है * इस भांति क्रम-परिणति के नियमानुसार, प्राणिराज्य के भी रयि अंश से शरीर व शरीर के अवयव निर्मित हुए हैं एवं प्राणांश ही जीवदेह में इन्द्रिय शक्ति रूप से अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार प्रजापति स्थूल जड़वर्ग के आकार में अभिव्यक्त हुआ करता है। व्रीहि-यव आदि भक्षण से देह में शुक्र-शोणित उत्पन्न होता है। इस शुक्र शोणित के योग से ही जीव का विकाश होता है।

महाशय! हम जो कुछ कह आये उसका संक्षिप्त मर्म यही है कि स्थूल विश्व प्रलयकाल में शक्ति रूप में ही विलीन होजाता है †। यह अव्यक्त शक्ति ही जगत् का उपादान है। यह अव्यक्तशक्ति पूर्ण निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता का ही सृष्टि का प्राक्कालीन एक अवस्थान्तर मात्र है। सुतरां यह उस ब्रह्म-सत्ता से भिन्न स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं है। यह अव्यक्तशक्ति सर्व प्रथम हिरण्यगर्भ वा सूत्र या स्पन्दन के आकार में सूक्ष्मरूप से विकाशित होती है। यह ब्रह्म-सत्ता का ही विकाश है, अतएव यह ज्ञानात्मक भी है क्रियात्मक भी है। यह सूक्ष्म स्पन्दन करणाकार व कार्याकार से अभिव्यक्त होता है। सूक्ष्म शक्ति इसी प्रकार स्थूल होती है। करणात्मक और कार्यात्मक अंश ही, प्राण और रयि नाम से विख्यात हैं। यह प्राण व रयि नामक मिथुन ही, जड़ स्थूल जगत् का उपादान है। इसलिये स्थूल वस्तु मात्र में ही दोनों अंश हैं बाहर तेज, प्रकाशादि प्राण के ही विकाश हैं और जल, पृथिवी प्रभृति रयि के विकाश हैं। प्राणीराज्य में;—रयि अंश से शरीर एवं प्राण अंश से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विश्व की प्रजा इस जोड़ी से ही उत्पन्न हुई है।

जो व्यक्ति प्राण-मत परायण हैं अर्थात् कार्यों के भीतर प्राण किंवा कारण सत्ता का अनुभव कर सकते हैं, वे देवयान मार्ग का अवलम्बन कर उन्नत स्वर्ग में ‡

---

* मूल में लिखा है कि, दिन में मैथुन न करे, रात्रि ही उसका उचित काल है रात्रि में मैथुन सम्पादित होने से ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं होता।

† प्रलीयमानमपि चेदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते, शक्तिमूलमेव च प्रभवति। इतरथा आकस्मिकत्व प्रसङ्गः—वेदान्तभाष्य, १।३।३० कारणात्मना लीनं कार्यमेव शक्तिः—२।१।१८

‡ भाष्यकार ने यह भी कहा है कि, साधारण इन्द्रिय परायण गृहस्थोंका मन नितान्त विक्षिप्त व चञ्चल रहता है। देवयान मार्ग के मुख्य अधिकारी ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी ही हैं इससे एकनिष्ठ उत्तम गृहस्थों का अधिकार निषिद्ध नहीं होता। प्रथमखंड देखिये।

गमन करते हैं। तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्यनिष्ठा-इस पदके प्रधान साधन हैं। किन्तु जो लोग इस प्राण-सत्ता वा कारण-सत्ता की एकता को अनुभव में नहीं ला सकते, जो लोग केवल भौतिक जड़ कार्यों को लेकर ही निरन्तर व्यग्र रहते हैं, वे पितृयान मार्ग का अवलम्बन कर अन्धकारावृत निकृष्ट लोकों में गमन करते हैं एवं फिर भी वहां से आवर्तित होते हैं। इनके मन में अनृत-प्रियता, कुटिलता, और अज्ञानता (भेद-बुद्धि) प्रभृति का प्रभाव बहुत ही प्रबल रहता है। इस लिये इनका चित्त अशुद्ध बना रहता है।

महाशय! आपको स्थूल जगत् का उपादान एवं मनुष्यों के हितार्थ साधन मार्ग का स्वरूप बता दिया गया। आप लोग इन सब वैदिक तत्वों को बारम्बार मनन करें। यह उपदेश कर महात्मा पिप्पलाद उस दिन की भांति मौन हो रहे।

हमने इस उपदेशमें ब्रह्मोपासनाकी जो प्रणाली वर्णित देखी एवं साधकों की परकालिक गति के सम्बन्ध में जो मार्गों का वर्णन पाया है, तत्सम्बन्ध में कुछ आलोचना करने की हमारी इच्छा है।

कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग के सम्बन्ध में उपनिषदों का जो सिद्धान्त कथित हुआ, ऋग्वेदमें भी अविकल ऐसा ही सिद्धान्त पाया जाता है। हम इस विदेशी मत को भ्रमात्मक समझते हैं कि, —"ऋग्वेद केवल मात्र भौतिक पदार्थों के प्रति विस्मय-प्रकाशक अनेक स्तोत्रों का संग्रह एवं वह जिस युगका ग्रंथ है, उस समय ब्रह्म की एकता का ठीक ज्ञान ऋषियों को नहीं हुआ था, 'इत्यादि। हमारा विश्वास है कि "ऋषिगण जो स्वतन्त्र २ देवताओंके उद्देश्य से, केवल मात्र पुत्र-पशु-स्वर्गादि की कामना करते हुए, बड़े आडम्बर के साथ पशुवध, अग्निमें घृतादि-प्रक्षेप कर यज्ञ सम्पादन करते थे एवं यज्ञीय सोम-रस पीते हुए मत्त होकर, भीति विह्वल व विस्मय-विमूढ़-चित्त से, सूर्य, चन्द्र, पवन आदि भौतिक जड़ देवताओं के उद्देश्य से राशि राशि स्तुति-गाथाओं के ढेर लगा गये हैं, सो ब्रह्मकी एकत्व-धारणा, ब्रह्म सत्ता की भावना और ज्ञान-यज्ञ के अनुष्ठान को न जानने से ही हुआ है"—इत्यादि आक्षेपों में बिन्दुमात्र भी सत्य का लेश नहीं है। हम यदि श्रद्धा पूर्वक मन लगाकर भक्तिभाव से, देवताओं की स्तुतियों की आलोचना करते हैं, तो स्पष्ट समझ जाते हैं कि, ऋग्वेद में आरम्भ से ही कर्म उपासना और ज्ञान-काण्ड-इन तीनों काण्डों का वर्णन पाया जाता है। हां यह बात ठीक है कि, उस काल में केवल सकाम साधकों का भी अभाव नहीं था। जिनका ज्ञान पूर्ण नहीं था, वे भिन्न भिन्न सूक्तों द्वारा अग्नि, सोम प्रभृति परिच्छिन्न पदार्थों को देवता रूप से पूजते एवं उनसे पुत्र-पशु

यश स्वर्ग-धन आदि अभिलषित वस्तु की कामना करते थे। किन्तु वे भी अपने अपने इष्ट-देवों को चेतन, शक्तिमान् और भक्त वत्सल ईश्वर ही जानते-मानते थे, न कि, केवल भौतिक जड़, वस्तुमात्र। और जो विशुद्ध-चित्त ज्ञानी थे, वे इन सूक्तों के द्वारा भौतिक अग्नि की ही उपासना न करके, अग्नि में अनुप्रविष्ट ब्रह्मसत्ता की ही स्तुति करते थे एवं वे सामान्य क्षण-भङ्गुर पुत्र-पशु आदि न मांग कर अक्षय अमृत पदकी प्रार्थना करते थे। और इनसे भी अधिक ज्ञानी साधक गण केवल अन्तरात्मा में ही भावनात्मक ज्ञान-यज्ञ के अनुष्ठान में तत्पर रहते थे। ऋग्वेद में यह तीन प्रकार की उपासना ही पाई जाती है। जो परमार्थदर्शी उन्नत-चित्त हैं वे अग्नि, सोम इन्द्र, प्रभृति देवताओं में अनुस्यूत कारणसत्ता का ही अनुभव करते हैं एवं उस सत्ता की उपासना करते करते, फिर वे अग्नि, इन्द्र आदि के स्वातन्त्र्य को सर्वथा भूल जाते हैं। हमने जो बात कही है, उसके प्रमाणमें निदर्शन रूपसे, यदृच्छाक्रम से ऋग्वेद के कतिपय मन्त्र अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं। हमने जो कुछ कहा है वही प्रामाणिक और युक्ति-संगत सर्वमान्यमत है। या उन लोगोंका कथन कि, जो ऋग्वेद को केवलमात्र आदिम अर्द्ध-सभ्य युग की निम्न-श्रेणी का हृदय-भाव-प्रकाशक जड़-ग्रंथ मानते हैं। अवश्य ही इसका निर्णय सुविज्ञ पाठक-मण्डली कर लेगी।

अग्नि के सम्बन्ध में मन्त्र देखियेः—

"विद्माते अग्ने त्रेधा त्रयाणि ।
विद्माते धाम विभृता पुरुत्रा ॥
विद्माते नाम परमं गुहायत् ।
विद्मा तमुत्सं यत आजगंथ,, ॥ १० । ४५ । २

हे अग्नि! तुम आकाश में, अन्तरिक्षमें एवं भूलोक में, यथा क्रम सूर्य, विद्युत् और अग्नि रूप से अवस्थान करते हो, यह तत्त्व हम जानते हैं। एवं तुम्हारी सत्ता (तेज) सर्वत्र है, सो भी हम जानते हैं। किन्तु हे अग्ने! तुम्हारा इस स्थूल रूप से भिन्न एक और अति निगूढ़ रूप है और गूढ़ एक नाम भी है। हम तुम्हारे उस गूढ़ नाम को भी जान सके हैं। तुम जिस रूप से-जिस अविनाशी प्रवाह से-शक्ति-प्रवाह-से उत्पन्न हुए हो, सो हम जानते हैं।

सोम के सम्बन्ध में एक मन्त्र पढ़िये—

"सोमं मन्यते पपिवान्यत् संपिंषन्ति ओषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन" ॥१०।८५।३॥
"अयमकृणोदुषसः सुपत्नीः अयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः ।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळ्हम्" ॥६।४४।२३

साधारण मनुष्य सोमलता का पेषण कर, उससे रस बाहर निकाल पान करते हैं एवं वे यही समझते हैं कि, हम सोम को पहचानते हैं। किन्तु हे सोम! सो नहीं, सो नहीं। तुम्हारे स्वरूप को वे जान नहीं सके हैं, जान नहीं सके हैं। स्थूल पान-योग्य ओषधि,-यह तुम्हारा यथार्थ स्वरूप नहीं है। स्तोतागण जानते हैं कि प्रकृत सोम को कोई पान कर नहीं सकता, क्योंकि वह पान के योग्य नहीं है। इस सोम ने ऊषा सुन्दरी का निर्माण किया है। सोम ने ही सूर्य के भीतर ज्योति निहित की है। सोम त्रिधातु,-सत्व, रज, तम का रूपांतर है। आकाश अन्तरिक्ष और भूलोक,-इन तीन उज्वल लोकों में, आकाश में गूढ़भाव से जो अमृत (अविनाशी सत्ता) है, सोम ने ही उसे पाया है। अर्थात् सौर-जगत् की अभिव्यक्ति में सोम ही प्रधान उपादान है।

इन्द्र-देवता के विषय में देखिये —

"चत्वारि ते असुर्याणि नामा अदाभ्यानि महिषस्य सन्ति ।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवन् चकर्थ,, ।
त्वं विश्वादधिषे केवलानि यानि आविर्याच गुहा वसूनि॥१०।५४।४-५
"महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृक् येन भूतं जनयो येन भव्यम् ।
प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्तपञ्च,, ।१०।५५।२

हे इन्द्र! तुम्हारे चार नाम हैं, ये चार नाम ही 'असूर्य,-सूर्योपलक्षित स्थान से ऊपर अवस्थित हैं। तुम दुर्द्धर्ष हो, कोई भी तुम्हारे पराक्रम में बाधा नहीं दे सकता। इस गूढ़ नाम द्वारा ही तुम विश्व का सब काम चलाते हो। तुम्हारे जो सब नाम प्रकाशित एवं जो सब नाम अतीव निगूढ़ हैं, उन सब नामों को तुम धारण करते हो। स्थूल नामों के अतिरिक्त भी हे इन्द्र! तुम्हारा एक निगूढ़ नाम है, उसके द्वारा तुम सब वस्तुओं को स्पर्श करके वर्त्तमान हो, एवं भूत और भविष्यत् काल में सकल पदार्थ उत्पन्न करते हो। जो ज्योतिर्मय पुरातन प्रिय वस्तुयें हैं, वे सब उसी के द्वारा उत्पन्न हुई हैं, एवं उसी के द्वारा पञ्चजनपद के मनुष्य

उपकार लाभ करते हैं। (अथवा यह अर्थ भी हो सकता है-तुम्हारे प्राचीन गूढ़ नाम की ज्योति तुम्हें अति प्रिय है एवं वही पञ्चजनपदवासी लोगों में प्रविष्ट है)।

सूर्य का एक मन्त्र सुन लीजिये—

"द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।

अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः,, ॥ १० । ८५ । १६ ॥

हे सूर्य ! जब जब ही काल-प्रभाव से सम्प्रदाय ध्वंस के पश्चात् फिर तत्व समूह प्रादुर्भूत होता है, तब तब ही तत्वदर्शी पुरुषगण, कल्प २ में, तुम्हारे जो दो चक्र हैं उनको जान सकते हैं। उनमेंसे एक चक्र तो अतीव निगूढ़ है, यथार्थ चिन्ताशील व्यक्ति व्यतीत, उसे कोई भी नहीं जान सकता।

विष्णु का मन्त्र यह लीजिये—

"तत् विप्रासो विपण्यवो जागृवांसः,

समिन्धते । विष्णोर्यत् परमं पदम्" । १ । २२ । २१

विष्णु तीन पदों के द्वारा इस विश्व के तीन स्थानों का आक्रमण कर रहे हैं, इनसे अतिरिक्त उनका एक परम पद भी है। जो मेधावी और सतत जागरणशील हैं केवल वे ही प्रज्वलित यज्ञ में उस परम पद का दर्शन कर सकते हैं।

वायुदेव का भी मंत्र सुनिये—

"यददो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर्हितः* १० ।१८६।३

हे वायुदेव ! तुम्हारे घर में एक अमृत की खान भरी है। इस प्रकार सकल देवताओं के सम्बन्ध में ही, एक 'गूढ़' स्वरूपकी बात सर्वत्र पाई जाती है। देवताओं में जो कारण-सत्ता वा ब्रह्मसत्ता अनुप्रविष्ट है, देवता जिस बड़ी सत्ता के विकाश हैं उसी का ज्ञान 'गूढ़ स्वरूप' द्वारा अवश्य होता है। तत्ववेत्ता जन जानते थे कि, इन्द्र, अग्नि, सूर्य प्रभृति देवगण ब्रह्म-सत्ता व्यतीत 'स्वतन्त्र' वस्तु नहीं हैं एवं इन सब देवताओं के भीतर ब्रह्म सत्ता ही विराजमान है और उसी के लिये प्रार्थना व पूजा की जाती है। अन्यथा प्रत्येक देवता में गूढ़ स्वरूप बतलानेका कोई तात्पर्य नहीं मिलता।

---

* पाठक यह मन्त्र भी देखें "द्वाविमौ वातौ वात आसिन्धोरापरावतः। दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः (१० । १३ । ७ । २) दो वायु हैं। एक समुद्र से वह आता है, दूसरा अतिदूर (विश्वातीत) स्थान से आता है। हे रोगी! एक वायु तुम्हारा रोग नाश करके, तुम्हें बल-प्रदान करे। और दूसरा वायु तुम्हारे अन्तरस्थ पापों को ध्वंस करे। जड़वादियों से पूछना चाहिये कि वैदिक वायु यदि जड़ ही है, तो वह किस प्रकार पाप ध्वंस करेगा?]

पाठकों ने अवश्य ही देखा है कि उपनिषदों में प्रायः ब्रह्म को, चक्षु का चक्षु श्रोत्र का श्रोत्र मन का मन और आदित्य का आदित्य * रूप से बताया गया है। चक्षु, श्रोत्र, मन, सूर्य प्रभृति कार्यवर्ग में जो कारण-सत्ता अनुस्यूत है उस सत्ता का निर्देश करना ही इस प्रकार की उक्तियोंका लक्ष्य है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, यही प्रणाली ऋग्वेद में भी मिलती है। अग्नि, सूर्यादि के मध्य में जो एक "निगूढ़" स्वरूप है एवं अग्नि सूर्यादि देवता पार्थिव धन के अतिरिक्त एक 'निगूढ़' धन भी साधन को दे सकते हैं, यह बात अनेक सूक्तों में है। किन्तु यह बात कहकर भी ऋग्वेद में ऐसा प्रश्न अनेक बार पूछा गया है कि "प्रकृतपक्ष में सूर्य कितने हैं, यथार्थ में अग्नि कौन है?" इसका उत्तर भी यही ब्रह्मसत्ता है।

"कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्युस्विदापः।
नोपस्पिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मनेकम्।
॥ १० । ८८ । १८ ।

'यत्रावदेते अवरः परश्च,
यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद।
आशेकुरित् सधमादं सखायो।
नक्षन्तयज्ञं क इदं विवोचत्। १० । ८८ । १७.

हे पितृपुरुषगण! हम अज्ञानी मूर्ख हैं, आपसे एक बात पूछना चाहते हैं। आप सभी गुप्त रहस्य जानते हैं। सो बात कृपया हमें बतला दीजिये। वास्तव में सूर्य देवता कितने हैं? ऊषा देवियां कितनी हैं? जल देवता भी कौन हैं? हम तर्क करने के अभिप्राय से जिज्ञासा नहीं करते हैं, हम जानने के लिये ही पूछ रहे हैं। अग्नि एक पर (श्रेष्ठ) है, एक अपर (निकृष्ट) अग्नि है। इन दो में से यथार्थ यज्ञका अग्नि कौन है? हम में कौन इस तत्व को जानता है?

---

* छान्दोग्यमें सूर्य के बारे में लिखा है "उद्वयं तमसः परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्ज्योतिरुत्तमम्" ३। ५। १५। १७। इस स्थल में सूर्य के तीन प्रकार वर्णित हुए हैं। जो स्थूल सूर्य है, वह 'उत्' है, जो सूर्य देवताओं में देवता है वह 'उत्तर, एवं जो पदार्थ सूर्य ज्योति है वह 'उत्तम, सूर्य है। और उत्तम सूर्य ही ब्रह्म वस्तु है। यह मंत्र भी ऋग्वेद का ही है। उपनिषद् में आकाश भी दो प्रकार का वर्णित हुआ है एक 'वायुरं खं दूसरा 'पुराणं खं, है। वायुविशिष्ट आकाश जड़ीय भूताकाश है और पुराणं खं आकाश ब्रह्मज्योति है। यही ऋग्वेद का 'परम व्योम, है। सुतरां सारी जड़ वस्तुओं के ही दो रूप हैं।

इस स्थान पर स्पष्ट करके सूर्य अग्नि प्रभृति के दो रूप कार्यांश स्थूल दूसरा तन्मध्यगत कारणसत्ता–यह निर्देश किया गया है। जो कि अग्निका 'अवर, या स्थूल रूप हैं उसमें सब लोग यज्ञ करते हैं ठीक है किन्तु जो कि 'पर, या उत्कृष्ट अग्नि है वही प्रकृत यज्ञ योग्य अग्नि है।

स्थूल, जड़, अग्नि, सूर्यादि पदार्थों में जो कि एक निगूढ़ अमृत अविनाशी रूप या सत्ता है उसके विषय में वैदिक ऋषियों के मन में खाली जिज्ञासा उठी थी; सो वही गूढ़ सत्ता ही अग्नि सूर्यादि का वास्तविक स्वरूप है वही प्रकृत पक्ष में यज्ञ के उपयोगी है एवं वही भावनाके योग्य है वह बात प्रत्येक मण्डलके अनेक सूक्तों में नाना प्रकार से पाई जाती है। परमार्थदर्शीगण ब्रह्मप्राप्ति के उद्देश्य से देवताओं के मध्य ब्रह्मसत्ता का ही अनुसन्धान करते थे एवं अपेक्षाकृत निकृष्टाधिकारी जन देवताओं को 'स्वतन्त्र, 'स्वाधीन, समझकर ऐहिक धन–जन और स्वर्गप्राप्ति के उद्देश्य से अग्निहोत्रादि यज्ञानुष्ठान करते थे। साधकों का यह भेद ऋग्वेद में सर्वत्र ही अति स्पष्ट है। उपनिषदों का भी यही तत्व है जो कि मूलतः ऋग्वेद से ही निकला है। अवतरणिका में इस विषय की विस्तृत आलोचना की गई है।

द्वितीय परिच्छेद

(शक्ति का एकत्व प्रतिपादन)

१ प्रथम अंश ।

दूसरे दिन, विदर्भ नगर से आए हुए भार्गव महाशय, आचार्य श्री पिप्पलाद के निकट उपस्थित होकर, विनय के साथ कहने लगे—

"भगवन्! कौन कौन देवता इस स्थूल शरीर को रक्षित कर रहे हैं, मैं यह बात जानने की इच्छा रखता हूँ। बाहर एवं भीतर, कौन कौन शक्ति अपना अपना काम कर रही है एवं सबके मध्य में श्रेष्ठ भी कौन शक्ति है? मैं इन सब विषयों को जानने के लिये बहुत उत्सुक हूँ, मेरे सन्देह को दूर करने की भी आप दया करें।"

तब आचार्य पिप्पलाद उपदेश देने लगे—

"महाशय! इससे पूर्व में हमने जो प्राण और रयिनामक मिथुनकी बात कही है, अवश्य ही उसे आपने मन लगाकर श्रवण किया है। क्रम-विकाश के नियम से यह मिथुन (जोड़ी) ही देह और इन्द्रिय रूप से प्राणी शरीर का गठन करता है। गर्भस्थ भ्रूण में सर्वप्रथम प्राण-शक्ति की अभिव्यक्ति होती है *। यह प्राणशक्ति रस रुधिरादि की परिचालना करती हुई जितना ही विवृद्ध होती है, उतना ही उसकी आश्रय रयिशक्ति शरीर का गठन व पुष्टि करती रहती है। रयि जितना ही घनी भूत होकर देह व देहावयव रूप से परिणत होता रहता है साथ २ प्राण शक्ति चक्षु कर्णादि विविध इन्द्रिय शक्ति रूप से विकाशित होती रहती है। अतएव देह के स्थूलांश का उपादान है रयि, एवं इन्द्रियादि का उपादान है प्राण। प्रथम दिवस के उपदेश में यह तत्व विशेष रूप से कह चुके हैं। शरीर संगठन का यही नियम है। इसी लिये शरीरको "कार्य करणात्मक" कहा जाता है †। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पांच स्थूल भूत एवं कर्मेन्द्रियां व ज्ञानेन्द्रियां ‡ इन सबको लेकर ही

---

* "गर्भस्थेहि पुरुषे-प्राणस्य वृत्तिः"" पूर्वं लब्धात्मिका भवति। यथा गर्भो विवर्द्धते, चक्षुरादिस्थानावयवनिष्पत्तौ सत्याम् पश्चात् वागादीनाम् वृत्तिलाभः।" शङ्कर वृहत् भाष्यम् 'देहान्तः प्राणः सर्वक्रियाहेतुः। यास्तु ताः सर्वज्ञानहेतुभूताः चक्षुः श्रोत्रं मनो वागित्येताः प्राणापानयोर्निविष्टाः"""तदनुवृत्तयः' ऐतरेयारण्यक भाष्य, २। ३

† कार्य स्थूलांश (Matter) करण इन्द्रियांश (Motion) (Functions)

‡ कर्मेन्द्रियां--वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थेन्द्रिय।

ज्ञानेन्द्रियां--चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, नासा और त्वगिन्द्रिय।

देह है। रयि वा अन्नांश ही परिगत होकर जल वा पृथिवी रूप से अभिव्यक्त होता है एवं अन्तमें देह व देहावयवोंका गठन करता है। साथ ही साथ प्राण वा अन्नाद अंश ही विकाशित होकर वायु, और तेज रूप से प्रकट होता एवं अन्त में देह के भीतर इन्द्रियादि शक्ति रूप से व्यक्त होता है *

कार्य और करण—ये दो अंश ही एकत्र इस प्रकार देह धारण कर रहे हैं, ये देह को धारण कर रहे हैं. इसी से देह विगीर्ण और शिथिल होकर ध्वंस नहीं हो सकती। एक समय देह की इन्द्रियां परस्पर विवाद करने लगीं एवं सबकी सब अपने अपने पराक्रमके गीत गाने लगीं कि हम ही सबमें श्रेष्ठ हैं हम न रहें तो यह शरीर नष्ट हो पड़े इत्यादि। इन्द्रियों की अभिमानभरी बातें सुन कर और उनको झगड़ते देखकर उनमें सर्वश्रेष्ठ प्राणशक्ति उनको लक्ष्य करके बोली कि,—तुम वृथा हो घमंडमें फूलकर अंकड़ती हो तुम सबोंका यह गर्व मिथ्या अतएव वृथा है तुम समझती हो कि तुम्हारे अभाव में शरीर विशीर्ण होकर मृतवत् निश्चेष्ट हो पड़ेगा किन्तु निश्चय जानो तुम्हारे इस अहंकार के मूल में सत्यका लेश भी नहीं है वास्तव में मैं ही इस देह को † धारण कर-आश्रय दे रही हूं ? इसी से देह ठहर रही हैं। एवं काम हो रहा है मैं कार्य-भेद-वशतः अपने को पांच भागोंमें विभक्त करके ‡ देह में निवास करती हूं मैं यदि अभी यह देह छोड़ दूं तुरन्त ही देह गिर जायगी।

परन्तु किसी इन्द्रिय ने भी प्राण के उक्त वाक्य में श्रद्धा नहीं दिखाई, यह देखकर बड़े अभिमान से प्राण शक्ति निज महत्व बतलाने के लिये शरीर छोड़ने की चेष्टा करने लगी। तब तो सारी इन्द्रियाँ घबड़ाने लगीं। प्राणशक्ति देह परित्याग करने लगी कि साथ ही साथ चक्षु आदि इन्द्रियां भी निज २ काम छोड़ने लग गईं। सब को सब क्रिया करने में असमर्थ हो पड़ीं। जैसे मधुकर राज के उड़ने पर उस दल के सभी भ्रमर उसके साथ ही उड़ने लगते हैं और फिर जिस स्थान पर मधुकर राज बैठता है सभी मधुकर वहाँ जा बैठते हैं। अर्थात् भ्रमरगण अपने राजा के जैसे वशीभूत और अनुचर हैं वैसे ही वाणी, आंख, कान, मन प्रभृति

* ये सब बातें यहां पर संक्षेप से व्याख्यात हुई है। इसका पूरा विवरण द्वितीय खंड की अवतरणिका के "सृष्टि-तत्त्व" में देखो।

† मूलमें 'वान, शब्द है। विनाश को प्राप्त होता है अथवा एक स्थान से अन्य स्थानको जाता है, इस से 'वान, का अर्थ शरीर है। आनन्दगिरि,

‡ प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान मुख्य प्राणशक्ति के ये पांच भेद हैं। शरीर की भिन्न २ क्रियाओं के भेद से ही यह विभाग है। आगे इन का विशेष विवरण दिया जाता है।

सब इन्द्रियां प्राणशक्ति की ही अनुगामिनी हैं। प्राणशक्ति का पराक्रम मान कर उन्हों ने अपना अभिमान परित्याग कर दिया और प्राणशक्ति की ही एकान्त अनुगत व वशंवद होकर देह में रहने लगीं *

यह प्राणशक्ति भूलोक में अग्नि रूप से प्रज्वलित हो रही है। यही आकाश में सूर्य रूपसे ताप और प्रकाश फैलाती है। अन्तरिक्षमें यही वायु या एकोनपञ्चाशत् पवनों के रूप से नक्षत्र-चक्र और मेघमण्डलीको धारण कर रही है †। चन्द्रमा प्राण का ही रूपान्तर है, प्राण ही चन्द्र-रूप से और पर्जन्य (मेघ) रूपसे ओषधियों और शस्यादि का उपचय तथा पुष्टि साधन करता है। यह प्राण ही पृथिवी रूप से सब

---

* दैहिक सकल क्रियाओं की ही मूल यह प्राणशक्ति है। अन्य इन्द्रियों की क्रियायें इस प्राणशक्ति के ही भिन्न २ विकाश हैं। मन और प्राण—मूलतः एक ही शक्ति है। जब प्राणशक्ति विविध क्रियाओं का विकाश करती है। तब उसके द्वारा आत्मा के खण्ड २ ज्ञानों का जो विकाश प्रतीत हुआ करता है उन ज्ञानों की ओर लक्ष्य कर के ही खण्ड २ विज्ञानों का साधारण नाम "मन,, कहा जाता है। और क्रिया की ओर लक्ष्य करके उन सब भिन्न २ क्रियाओं का साधारण नाम 'प्राण, होता है। "प्रज्ञात्मा (मन) प्राण एवैको मिलित्वोपाधिरिष्यते। द्वयोर्मूर्तौ जीवने च सहभावात् तदेकता,,। "इन्द्रियाणाम् प्रवृत्तिः स्यात् 'प्रज्ञा, लोचनपूर्विका। 'प्राण, वायुप्रेरितावेत्येवं लोके व्यवस्थितिः,,। विद्यारण्यकृत अनुभूति प्रकाश; [कौषीतकी विवरण]

† वायु, सूर्य, और अग्नि' एक ही शक्ति के भिन्न २ रूप वा विकाश मात्र हैं। ऋग्वेद में यह तत्व अत्यन्त स्फुट है हम लिखचुके हैं कि उपनिषदों के मत से प्राणशक्ति सर्व प्रथम सूक्ष्म स्पन्दन रूपसे विकाशित होती है एवं वही तेज आलोकादि के आकार से सौर-जगत् की सृष्टि करती है ऋग्वेद में स्पन्दन शब्द नहीं उसके स्थानमें 'मातरिश्वा, शब्द व्यवहृत हुआ है। "मातरि अन्तरिक्षे श्वसतीति मातरिश्वा" अन्तरिक्ष में जो निःश्वासवत् क्रिया करता है वही मातरिश्वा है जान पड़ता है कि स्पन्दन की अपेक्षा भी यह शब्द अधिकतर उपयोगी है। शक्ति [Pulsation] रूप से [Rhythm] रूप से छन्दोरूप से [ताल ताल रूप से] कार्य करती है विज्ञान ने यह सिद्ध कर बताया है। यह [Pulsation] वा [Rhythm] समझाने के लिये 'श्वास, शब्द ही अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है। यह स्पन्दन वा मातरिश्वा-अग्नि वा तेज रूप से व्यक्त होता है। वायु की घनीभूत अवस्था-तेज है सुतरां वायु और तेज़-स्पन्दन के रूपान्तर हैं। ऋग्वेद में यह अतीव सुस्पष्ट है

प्राणियों का आश्रयदाता है * यह प्राणशक्ति इन्द्र–रूपसे † जीवों का बहुत कल्याण साधन करती है एवं शत्रुओं का विनाशादि भी करती है जो स्थूल विनाशी मूर्त है एवं जो सूक्ष्म अविनाशी अमूर्त है—समस्त ही प्राण-शक्ति का विकाश वा अवस्था विशेष अवस्था-भेद मात्र है। रथकी नाभिमें जैसे उसके अर-गण‡ग्रथित रहते हैं वैसे ही वायु, जल, बुद्धि, मन प्रभृति षोड़श-कलाएँ + इस प्राणशक्ति-का अवलम्बन करके

"आविरग्निरभवन्मातरिश्वने,,। "मातरिश्वा यदमिमीत मातरि, वा तस्य सर्गोऽभवत् सरीमणि,,। इन मंत्रों में यह विषय स्पष्ट प्रदर्शित हुआ है। यथा तेज ही सूर्य वायु वा विद्युत् तथा अग्नि–रूप से अवस्थित है सो भी वेद में लिखा है। "अर्कस्त्रिधातुः रजसो विमानः,, (३।२६।७) "पार्थिवोऽग्निर्भूत्वा......अन्तरिक्षे विद्युदात्मना दिवि सूर्यात्मना,, (निरुक्त, १२।१६) ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—"आदित्यो वै अस्तं यन् अग्निमनुप्रविशति अग्निर्वै उद्यन् वायुमनुप्रविशति ।·वायोरग्निर्जायते। प्राणाद्धिबलात् मथ्यमानोऽधिजायते,, पाठक ! देखें, शक्तिके रूपान्तर धारण का तत्व प्राचीन काल में अज्ञात नहीं था।

* चन्द्र जलीय उपादान बहुल है। इसी लिये चन्द्र को उपनिषदों ने 'पाँडुरवासाः,, कहा है। स्पन्दन जिस समय करणाकार से [Motion] और कार्याकार से [Matter] विकाशित होता है उस समय उसका करणांश जैसे तेज आलोकादि रूप से बिकीर्ण होता है साथ २ उसका कार्यांश भी घनीभूत सघन होता है इस सघन होने की प्रथमावस्था जल है और अन्तिम अवस्था पृथिवी है सुतरां जल और पृथिवी भी शक्ति के ही रूपान्तर हैं। यह तत्व ऋग्वेद में है। कई वो निण्यमाचिकेत वत्सोमातृर्जनयत स्वधाभिः। वह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थात् महान् कविः निश्चरति स्वधावान्,, (१।६५।४) इस मंत्र में अग्नि को ,स्वधावान्, कहा है एवं इस स्वधा से जल उत्पन्न होता है। वेद में स्वधा का अर्थ—अन्न है अर्थात् शक्ति का कार्यांश [Matter] द्वितीय खण्ड द्रष्टव्य।

† वैदिक इन्द्र पृथिवी में विकाशित सकल बालों का प्रतिनिधि-स्वरूप है। शङ्कर वेदान्त-भाष्य में कहते हैं "या का च बलकृतिः स इन्द्रः" जहाँ बल की क्रिया है वह इन्द्र है। "विश्वस्य कर्मणो धर्त्तासि,,। (ऋग्वेद। १। ३) जब पृथिवी की सृष्टि हुई थी तब विपुल वाष्पराशि पृथिवी को गाढ़तर रूपसे समाच्छन्न किए थी। वही वाष्प विपुल वृष्टि–रूप से वर्षित होकर नदी–जल पर्वतादि की अभिव्यक्ति के लिये सम्भव हुआ था। यह इन्द्र के कार्य नाम से वेद में विशेष रूप से उल्लिखित हुआ है। वेद में रुद्ध–जल का नाम है वृत्रासुर वा अहि। रुद्ध–जलको प्रवाहित करा देने से इन्द्र वृत्रहा-वृत्रहन्ता है।

‡ नाभि— (Navel)अर—(Shoke sofa wheel)

\+ इन षोड़श कलाओं का वर्णन चतुर्थ परिच्छेद में देखिये।

ही वर्तमान हैं। ऋक् (पद्यात्मक) साम (गानात्मक) और यजुः (गद्यात्मक) प्रभृति मन्त्र इन मन्त्रों से निष्पाद्य वैदिक यज्ञ, एवं इन यज्ञादिक कर्मोंके अधिकारी ब्राह्मणादि जातियाँ—प्राण के ही आश्रय में अवस्थित हैं। प्राण ही सब कुछ है यह प्राण-शक्ति ही पितृ-शुक्र-रूप से और मातृ-शोणित-रूप से एवं गर्भ में भ्रूण-देह-रूप से परिणत होती है *। दैहिक प्राणशक्ति ही—चक्षु आदि इन्द्रियों में अनुगत हो रही है। चक्षु आदि इन्द्रियां निज निज उपलब्धियों को † इस प्राणके ही निकट अर्पण करती हैं। यह प्राणशक्ति ही विषय विज्ञान के मूलमें अवस्थित है ‡

इन्द्रादि आधिदैविक पदार्थों में अग्नि की बड़ी महिमा है। क्यों कि अग्नि ही यज्ञीय हवि का वहन कर्त्ता है, अग्नि में ही मुख्य-रूप से कारण-सत्ता या ब्रह्म-सत्ता की उपासना सिद्ध हुआ करती है + प्राणने ही यह अग्निका आकार धारण किया है पितृलोक के उद्देश्य से "स्वधा,, नामक जो अन्न प्रदत्त होता है वह भी इस प्राण का रूपान्तर है। प्राण क्रिया के अभाव में अङ्ग शुष्क हो जाते-देह के अवयव सूख जाते हैं; सुतराँ देहस्थ अपान व्यान प्रभृति क्रियाओं में प्राण ही सारभूत सर्वश्रेष्ठ है चक्षु आदि इंद्रियाँ जो देहधारणादि चेष्टा करती हैं उस चेष्टा के मूल में प्राण ही अवस्थित है। क्यों कि प्राणका ही अंश इंद्रियों में अनुप्रविष्ट है। जगत् के विकाश काल में प्राणशक्ति ही विकाशित हुई थी ०। विश्व के स्थिति-काल में प्राण ही विश्व का रक्षक है एवं विश्व के प्रलय-काल में प्राण ही

---

* यह सब बातें विस्तृत-रूपसे शङ्कर-भाष्यसे उद्धृत करके द्वितीय खंडकी अवतरणिका में दिखाई गई हैं। प्राणशक्ति ही देहाकार धारण करके वर्तमान है। जीवों के बाहरी देहावयव एवं देहस्थ,इन्द्रियादि प्राण की ही अभिव्यक्ति हैं यही बात कही गई है।

† इन्द्रियों की उपलब्धि (Sansassions)

‡ विषय-विज्ञान (Perception)

+ अग्निमें द्रव्यात्मक और भावनात्मक दोनों प्रकारका ही यज्ञ आचरित हुआ करता है। शङ्कराचार्य कठोपनिषद् २। १। ८ के भाष्य में मन्त्र की दोनों प्रकार से व्याख्या करते हैं। वह ऋग्वेदका ही मंत्र है। इसलिये ऋग्वेद में कर्ममार्ग और ज्ञान मार्ग दोनों मार्गोंका यज्ञ विहित हुआ जानना चाहिये। ऐसाही भाष्यकारका विश्वास है भाष्यकार के इस विश्वास को लक्ष्य करके हमने यहाँ भी दो प्रकार की व्याख्या दी है। अवतरणिका देखो।

० मूल में 'इन्द्र, शब्द है यहाँ पर इन्द्र का अर्थ ईश्वर है। जगत् के उपादान 'अव्यक्त, शक्ति के संग २ जो चैतन्य वर्तमान है उसी नाम 'ईश्वर, वा सगुण ब्रह्म है द्वितीय खंड देखो।

रुद्र-रूपसे संहार करता है * प्राणही सब ज्योतियों के अधिपति सूर्यके रूप से आकाश में विचरण कर घूम रहा है । प्राणही जब मेघ-रूपसे † भूलोकमें जल-धारा वर्षण करता है, तब वर्षण-प्रभाव से ब्रीहि-यवादि शस्य की पुष्टि होती है एवं उस शस्यके भक्षण से जीवों का जीवन सामर्थ्य वृद्धिको प्राप्त होता है ‡ । अतएव जीवगण वृष्टि-दर्शन से आनन्दित होते हैं, प्राण ही इसका मूल कारण है ।

प्राणही सर्वप्रथम सूक्ष्म-स्पन्दन रूपसे विकाशित हुआ था, वह विशुद्ध विकृति-रहित है + । प्राणही "एकर्षि" नामक अग्नि है । यह "कारण" रूपसे सकल भोग्यों का "भोक्ता" है ० । यही फिर "कार्य" रूपसे सबका "भोज्य" है । प्राणशक्ति आकाश में स्पन्दन रूप से मातरिश्वा-रूपसे विकाशित होती है । स्थूल वायु इस मातरिश्वा वा स्पन्दन की पहिली अभिव्यक्ति है × । इसलिये वायु का जनक आकाश एवं आकाश का जनक प्राण-शक्ति है । इसी कारण प्राणशक्ति जगत् का पिता कही जाती है ।

---

* आनन्दगिरि कहते हैं—विष्णुरूप से प्राण, जगत् का पालक है। विश्वमें जो शक्ति अविरत पालन और पोषण कार्यमें नियुक्त है ऋग्वेदमें वही प्रधानतः "विष्णु-देवता" नामसे परिचित है । आकाश, अन्तरिक्ष, भूलोक इन तीन लोकों में विष्णु के तीन पाद हैं । चतुर्थपाद—अविनाशी मधुपूर्ण है । (ऋग्वेद, १ । १५४ । ४; ५; १ । २२ । २१ प्रभृति देखिये) । जगत् में जो विनाशक शक्ति है, जो शक्ति जगत् में सर्वदा सर्वत्र विनाश-कार्यमें नियुक्त है, वही "रुद्र-देवता" नामसे प्रसिद्ध है (ऋग्वेद, २ । ३३ । १०; ७ । ४६ । १; १ । ११४ प्रभृति देखिये) । शक्ति की विशेष विशेष क्रिया के साथ जो चैतन्य वर्त्तमान है, उस चैतन्य मिलित शक्तिकी विशेष विशेष क्रिया को लक्ष्य करके ही, ऋग्वेद में भिन्न भिन्न देवताओं के नाम उल्लिखित हुए हैं ।

† "आपश्च पृथिवी च अन्नं; एतन्मयानि हि अन्नानि भवन्ति । ज्योतिश्च वायुश्च अन्नादम् । एताभ्यांहि इदं सर्वमन्नमभ्यावपनमाकाशः । आकाशे हीदं सर्वं समाप्यते" । ऐतरेयारण्यकभाष्ये, शङ्करः । मेघ, जलकी ही घनीभूत अवस्था है। शक्तिके कार्यांश (Matter) से ही जल व्यक्त होता है ।

‡ अन्नेन हि दामस्थानीयेन प्राणो बद्धः । ......प्राणस्य स्थितिकरं भवति" ऐ० आ० भाष्य । "अन्ने देहाकारे परिणते प्राणस्तिष्ठति, तदनुसारिण्यश्च वागादयः" बृहदारण्यक भाष्य ।

+ स्पन्दन जबसे करणाकार और कार्याकार से प्रकाशित हो चला, वही स्पन्दन का देश-कालबद्ध रूप है । अतएव वह विकृत वा खण्ड खण्ड है ।

० करण—Motion; कार्य—Matter

× श्रुति में आकाश का अर्थ भौतिक आकाश है । स्पन्दनशक्ति समन्वित आकाश ही 'भौतिक आकाश' है । इसीलिये आकाश को वायुका कारण कहा जाता है । द्वितीय खण्डका सृष्टितत्त्व देखो ।

प्राणका ही अंश वागीन्द्रियमें अनुप्रविष्ट होकर शब्दोच्चारण क्रियाका निर्वाह करता है। प्राणका ही अंश, श्रवणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय एवं मनमें अनुगत अनुस्यूत रह कर स्व स्व क्रिया-निर्वाह कर रहा है *। संकल्प विकल्पात्मक मनमें प्राण का जो अंश अनुस्यूत हो रहा है, सर्वदा प्रार्थना करते हैं कि, वह अंश कदापि हमारा अकल्याण साधन न करे; हमारा मन सर्वदा शुभ विषय का संकल्प करे। विश्वके यावत् पदार्थ ही प्राण शक्ति के आयत्ताधीन हैं। आकाश और अन्तरिक्ष में सूर्यादि देवताओं का जो भोग्य है; वह प्राण-द्वारा ही परिरक्षित होता है। स्नेहमयी माता जिस प्रकार स्वीय शिशु को वक्ष में रखकर पालन करती है, हे प्राणशक्ति! तुम उसी प्रकार स्नेहसे हमारा लालन पालन और रक्षा करो। हमें ब्राह्मणोचित प्रज्ञा एवं क्षत्रियोचित ऐश्वर्य प्रदान करो!

महाशय! प्राणको ही सबका कारण जानिये। वह प्राण ही, सृष्टिकाल में प्रजापति या स्पन्दन रूपसे अभिव्यक्त हुआ था एवं क्या आधिदैविक, क्या आध्यात्मिक, सकल वस्तुओं में ही यह प्राण अनुप्रविष्ट हो रहा है। यह निश्चय जानना चाहिये"।

यह कहते कहते संध्या का समय आगया। शक्तिके एकत्व विषय में उस दिन और कोई चर्चा नहीं हुई।

—०—

* वागीन्द्रिय में अपान, श्रवणेन्द्रिय में व्यान, चक्षुमें प्राण, मनमें समान —मुख्य प्राण के ये सब भिन्न भिन्न अंश या अवयव इन्द्रियों में अवस्थित हैं। एकही शक्तिके क्रिया-भेदसे भिन्न भिन्न रूप हैं, भिन्न भिन्न सब क्रियाओं में ही वह एक ही शक्ति विराजमान है।

तृतीय परिच्छेद ।

(शक्ति का एकत्व-प्रतिपादन)

२ द्वितीय परिच्छेद ।

दूसरे दिन फिर प्रदोष-काल में, सँध्योपासनादि से निवृत्त होकर सब शिष्य गत दिवस शक्ति की एकता के सम्बन्ध में जो उपदेश मिला था उसके विषय में परस्पर जिज्ञासा-वाद और विचार करने लगे। आचार्यदेव ने जो तत्व बतलाये थे वे उन पर ही मनन-चिन्तन करने लगे, और यह निश्चय किया गया कि श्री गुरुदेव से अन्य भी कई प्रश्नों को पूँछना चाहिये। जब कई क्षणों के पश्चात् पूज्यपाद महर्षि पिप्पलाद अपने आसन पर आ विराजे, तब जिज्ञासु कौशल्य महाशय ने साञ्जलि यह जिज्ञासा की—

"भगवन्! आपने जिस प्राण के स्वरूप की महिमा बहुत बतायी है, वह प्राण कहांसे उत्पन्न* हुआ है? कहां से, किस प्रकार देह में आकर उपस्थित होगया है? आपने भाई विदर्भ के प्रश्न पर जो आज्ञा की थी कि, प्राण के पांच प्रकार के भेद हैं,-प्राण पाँच भागों में विभक्त होकर देह में अवस्थान करता है, सो वह पांच प्रकार का विभाग भी किस भांति का है? किस रीति से प्राण, आधिदैविक और आध्यात्मिक पदार्थों को धारण कर रहा है? †और किस प्रकार वह मृत्युके समय देह को छोड़ जायगा? गुरो! इन विषयों का विशेष उपदेश तो मिला नहीं। प्रार्थना है कि इन विषयों के गूढ़ अनुसन्धान को समझा देने की भी आप दया करें।"

आचार्य श्री उपदेश देने लगे—

"महाशय! आप बड़ा ही कठिन सूक्ष्म प्रश्न उठा रहे हैं। प्राण-शक्तिके स्वरूप का निर्णय करना ही अतिदुरूह व्यापार है, फिर आप शक्ति की उत्पत्यादि के कारण को जानना चाहते हैं। यह विषय बहुत ही सूक्ष्म और निगूढ़ है। परन्तु आपको विशेष ब्रह्मनिष्ठ जानकर, हम आपके सब प्रश्नों का उत्तरप्रदान करते हैं। भली भांति मन लगाकर श्रवण कीजिये।

---

* देह के भीतर प्राण--अनेक वृत्तिविशिष्ट है, सुतरां यह "सावयव" है (अर्थात्-देश विभक्त खण्ड २ क्रिया रूप से प्रतीत होता है) सावयव होने से ही, उसकी उत्पत्ति भी है। आनन्दगिरि।

† "तत्तद्रूपेणावस्थानमेव तद्धारणम्,, आनन्दगिरि।

प्राण शक्ति अक्षर परम-पुरुष से अभिव्यक्त हुई है *। सृष्टि के प्राक्काल में, पूर्णब्रह्म-चैतन्य ने इस जगत् सृष्टि का संकल्प किया,-कामना वा इच्छा की। इस 'आगन्तुक, संकल्प का 'तपः, वा 'ईक्षण, शब्द द्वारा भी निर्देश किया जाता है। फलतः ये सकल शब्द ब्रह्म की सृष्टि विषयक आलोचना को लक्ष्य करके ही व्यवहृत होते हैं। ब्रह्म-चैतन्य-पूर्णज्ञान स्वरूप है, पूर्ण-शक्ति स्वरूप है। ब्रह्म के संकल्प-वशतः, सृष्टि के पहले, उस शक्ति की भी जगदाकार से अभिव्यक्त होने की एक उन्मुखता उपस्थित हुई। अभी शक्ति जगदाकार से अभिव्यक्त नहीं हुई, केवलमात्र अभिव्यक्त होने का उपक्रम हुआ है। परिणामोन्मुखता मात्र हुई है। सृष्टिकी स्थिति और संहार कार्य में जो ज्ञान और शक्ति नियुक्त करनी होगी, सृष्टि के पूर्व मुहूर्त में ब्रह्म मानो उस ज्ञान तथा शक्ति के योग से किंचित् "पुष्ट" हो उठा। इस आग-न्तुक, । ज्ञान और शक्ति द्वारा ही ब्रह्म को "पुष्ट" कहा जाता है, नतु वा पूर्णज्ञान पूर्णशक्तिस्वरूप ब्रह्म की 'पुष्टि, कैसी ? इस आगन्तुक, परिणामोन्मुख शक्ति का 'अव्यक्त शक्ति, नाम से निर्देश किया जाता है। यही शक्ति समुदय संसार का बीज है ‡। यह बीज ही व्यक्त होकर जगदाकार से परिणत हुआ है"। हस्त-पदादि वि-शिष्ट पुरुष शरीर में उसकी छाया जैसे 'आगन्तुक, है, यह भी वैसे ही आगन्तुक है। सुतरां यह चिर-नित्य वा 'सत्य, नहीं कही जा सकती। ब्रह्म ही एकमात्र परम

---

* यह जगत् अक्षर परम पुरुष से प्रकट होता है, यो बात विस्तारित रूप से "मुण्डक उपनिषद्" में प्रदर्शित हुई है। द्वितीय खण्ड के द्वितीय अध्याय का द्वितीय परिच्छेद देखना चाहिये। समझाने की सुविधा के लिये यहां पर उससे कुछ अंश उद्धृत हुआ है।

† यह सृष्टि के पूर्व में नहीं थी, यह आलोचना सृष्टि के पूर्व क्षण में ही उप-स्थित हुई, इसलिये यह 'आगन्तुक, कही गई। यह निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता की ही एक आगन्तुक विशेष अवस्था है। शंकर इसे 'व्याचिकीर्षित अवस्था, 'जायमान अवस्था, कहते हैं। वेदान्त-भाष्य में इसको 'भूत सूक्ष्म, कहा है। वास्तविक पक्ष में यह नि-र्विशेष ब्रह्म सत्ता से भिन्न या 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं। अवस्था के भेद से वस्तु कुछ स्वतन्त्र नहीं हो पड़ती। वह पहिले जो थी, पीछे भी वही है। यही तत्वज्ञानियों का अनुभव है।

‡ वेदान्त दर्शन में शंकर इसको 'बीज-शक्ति, कहते हैं। यही कारण-सत्ता है। "जगत् प्रागवस्थायाम्......बीजशक्त्यवस्थं अव्यक्तशब्दयोग्यं दर्श-यति" (१।४।३) "बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः, सत् शब्द वाच्यता च।......तस्मात् सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः, सर्व-श्रुतिषु च "कारणत्व" व्यपदेशः" गौड़पादकारिकाभाष्य, १।२ यह कारणसत्ता ही जगत् में अनुस्यूत है एवं निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता से प्रकृतपक्ष में स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। यही भगवान् शङ्कर की मीमांसा है।

वस्तु है। उस परम सत्य ब्रह्म वस्तु की तुलना में इसका असत्य कहकर ही निर्देश किया जाता है। जो आगन्तुक है, वह स्वतः सिद्ध वा सत्य कहा नहीं जा सकता ब्रह्म सत्ता की ही जब कि यह एक आगन्तुक अवस्था मात्र है, तब इसकी सत्ता ब्रह्म-सत्ता में ही निर्भर है। इसकी कोई "स्वतंत्र" स्वाधीन सत्ता नहीं। और जिसकी अपनी स्वाधीन सत्ता ही नहीं, ब्रह्म सत्ता में ही जिसकी सत्ता है वह ब्रह्म की भांति चिर-नित्य, स्वतःसिद्ध वस्तु नहीं मानी जा सकती। इसलिये इस आगन्तुक प्राण-शक्ति को "असत्य" कहना ही उचित है * और मृत्युकालमें जीव जिस कामना-कर्मादि को लेकर इस लोक से प्रस्थान करता है, उस कामना कर्मादि के संस्कार बल से वह लोकान्तर में फिर भी जन्म ग्रहण करता है। चित्त के इस कामना कर्मादि के बल से ही, गर्भस्थ भ्रूण में प्राण-शक्ति की प्रथमाभिव्यक्ति होती है † प्राणशक्ति के उपयुक्त शरीर गठनादि किए बिना, जीव उस कामना-कर्मादि का आचरण कर ही नहीं सकता। इस प्रकार प्राणशक्ति, जीव शरीर में अभिव्यक्त होकर शरीर का धारण, पोषण, गठनादि किया करती है, यह ठीक जानना चाहिये। इसी प्रकार मुख्य प्राण-शक्ति, शरीर में अभिव्यक्त होकर; कार्य-भेद पांच भागों में विभक्त होकर अवस्थान करती है। जैसे सम्राट् अपने प्रधान २ कर्मचारियोंको नाना विभागों के आधिपत्य में स्वतन्त्ररूप से नियुक्त करते रहते हैं, प्राण भी वैसे ही अपने ही अंश स्वरूप चक्षु, कर्णादि इन्द्रिय शक्तियों को ‡ उनके अपने अपने स्थानमें चक्षु आदि गोलकों में स्वतन्त्र भाव से संस्थापित करता है। संक्षेप से इस विभाग की तत्व वर्णना करते हैं।

मुख्य प्राणशक्ति अपने आप को प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान इन पांच भागों में विभक्त करके देह धारण करता है। देह के अधोभाग के छिद्र में पायु

---

* इसी प्रकार शङ्कर जगत्को असत्य बतलाते हैं नहीं तो वे जगत् को अलीक नहीं कहते। द्वितीय खंड की अवतरणिका में इसकी आलोचना यथेष्ट है।

† मृत्युकाल में प्राणशक्ति में ही सब इन्द्रियाँ, मन की सारी वृत्तियाँ संस्काराकार से लीन हो जाती हैं। इन समस्त संस्कारों से विशिष्ट प्राणशक्ति ही, जीव को यथायोग्य स्थान में लेजाती है। प्रथम खंड में जीव की गति का वर्णन किया गया है।

‡ प्राण शक्ति शरीर की सब प्रकार की क्रियाओं का मूल है। चक्षु आदि इन्द्रियां इस प्राणशक्तिके ही वृत्ति भेद मात्र (Functions) हैं। स्थान भेदसे और क्रिया भेद से यह विभाग कल्पित हुआ है। "याश्च ताः सर्वज्ञानहेतुभूताः चक्षुः श्रोत्रं मनोवागित्येताः प्राणापानयोर्निविष्टाः···तद्नुवृत्तयः" ऐ०आ०भाष्य, २।३।

एवं उपस्थ में मल मूत्र शुक्रादि के बहिर्निर्गमन व्यापारनिर्वाहार्थ प्राणशक्ति, अपान क्रिया रूप से ठहर रही है। आंख, कान, मुख और नासिकामें जो सब क्रिया हुआ करती हैं, सो प्राण का कार्य है। मुख्य प्राणशक्ति, देह के उक्त सब ऊपरी छिद्रों में प्राण नाम से क्रिया करती है। समान, प्राण और अपान के मध्यदेश में नाभि में रह कर प्राणी द्वारा गृहीत अन्न पानादिकी परिपाक क्रिया का निर्वाह और समता साधन करता है। प्राणीदेह में जो खाद्य व जलादि गृहीत हुआ करता है, वह जठराग्नि में पड़कर परिपक्व हो जाता है एवं इस रूप से परिपाक होकर उससे उत्पन्न रस रुधिरादि हृदय देश * से प्रसृत स्नायु जाल के योग से † देह के सर्वत्र सञ्चालित हुआ करता है और इस अन्न रस के बल से ही देह में इन्द्रिय शक्तियाँ यथायथ रूप से चक्षु श्रोत्रादि गोलक स्थानों में निज निज क्रियाओं का सम्पादन करती रहती हैं ‡। भुक्त और पीत द्रव्य का इस प्रकार समता साधन व यथा

* कोई २ नाभि-कन्द को ही स्नायुओं का उत्पत्ति स्थान मानते हैं। श्रुति का सिद्धान्त ऐसा नहीं। श्रुति कहती है, सूक्ष्म देह नाभि में भी स्नायु जाल द्वारा सञ्चरण करती रहती है। आनन्दगिरि।

† Artery वा धमनी योग से सब शरीर में सञ्चालित होता है एवं vain वा शिरायोग से अविशुद्ध रक्त पुनश्च Pulmo nary द्वारा फुस्फुसमें नीत होकर Oxydised होताहै एवं फिर Pulmonary vain द्वारा हृदय में आता और वहाँ से सञ्चालित होता है। यही आधुनिक शरीर विज्ञान (Physiology) का सिद्धान्त है।

‡ श्रुति में होम के साथ तुलना की गई है। भुक्त द्रव्य जठराग्नि में प्रक्षिप्त होकर पक रहा है। मानों शरीर में सर्वदा एक यज्ञ होरहा है। मानो आहवनीय अग्नि में हवि प्रक्षिप्त होकर शरीर में होम हो रहा है। शरीर के ऊर्ध्वभाग में, जो चक्षु कर्णादि इन्द्रियाँ विषय दर्शनादि क्रिया निर्वाह करती हैं सो मानों उस होमाग्नि से निकली सप्तविध रश्मि रेखा वा अग्नि शिखा हैं। उन्नत साधकगण भुक्त द्रव्य के परिपाक कार्य में भी यज्ञ भावना करते हैं। सब कामों में यज्ञ की भावना करने से सर्वत्र ब्रह्म शक्ति का ही अनुभव बढ़ता है। विषयासक्ति कम पड़ती जातीहै इसी बड़े उद्देश्य से श्रुति उक्त प्रकार से वर्णन करती है ऐसा सुन्दर उपदेश क्या अन्यत्र भी कहीं है? विषय दर्शन के समय, स्वप्न दर्शन के समय, और सुषुप्ति में भी यज्ञ की भावना करने की व्यवस्था हुई है। चतुर्थ परिच्छेद देखिये। ऋग्वेद में भी, सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन एक यज्ञ के रूप से मिलता है।

योग्य विभाग कर देना समान वायु का ही कार्य है। इस रीति से शारीरिक प्राणशक्ति दर्शन श्रवणादि सप्त प्रकार इन्द्रियरूप से * क्रिया कर रही है एवं विषय विज्ञान का लाभ कर रही है †।

मनुष्य के हृदय में एक कमल के आकार वाली स्नायुग्रन्थि है इस स्नायु ग्रन्थि (नसों की गांठ) के मध्यगत आकाश में (अवकाश स्थान में) चैतन्याधिष्ठित लिङ्गशरीर ‡ अवस्थित है। सूर्यमण्डलसे जिस प्रकार सहस्रों किरण-रेखाएं बहिर्गत हो कर चारों ओर बिखर जाती हैं उसी प्रकार हृदय-देशस्थ स्नायु-ग्रन्थि से भी सहस्रों स्नायुजाल शाखा प्रशाखा रूप से विस्तृत हो कर समस्त शरीर को व्याप्त कर रहे हैं समस्त शरीरमें व्याप्त इन सब स्नायु छिद्रोंमें ही व्यान + का सञ्चरण मार्ग है। अङ्गके सन्धि-स्थानमें स्कन्ध-देश में एवं सभी मर्मस्थानों में ० व्यान विशेष रूप से अभिव्यक्त हो रहा है जितने प्रकार का पराक्रम वा वीर्यसूचक कार्य है वह समस्त ही व्यान का प्रभाव जानिये। अब आपको उदान का स्थान और कार्य बतलाते हैं हमने आपसे जो शिराजाल की बात कही है उसमें एक प्रधान ऊर्ध्वमुख मस्तिष्क में प्रवेश करती है इसका नाम सुषुम्णानाड़ी है इसी के छिद्र-पथ हो कर क्रियाप्रवाह सञ्चारित होता है। पादतल से लेकर मस्तिष्क पर्यन्त इसका गमनमार्ग है मनुष्य इस जीवन में जिन सकल पुण्य और पाप कर्मों का आचरण करता है, उन सब कर्मों के प्रभाव से जीव की परलोक में मृत्यु समय यथायोग्य स्थानमें गति हुआ करती है इस गतिका नियन्ता उदान है यह उदान भी जीवको यथायोग्य स्थान में ले जाता है। × महाशय! प्राणशक्ति इसी प्रकार विभक्त होकर शरीर-रचना और शरीर-धारण करती है।

---

* सप्तप्रकारकी इन्द्रिय-क्रिया—चक्षुर्द्वय श्रोत्रद्वय नासिकाद्वय और वदन क्रिया (नासिका और वदन को एक क्रिया धर लिया गया है) और रसना जठराग्निद्वारा अन्नरस परिपक्व होकर जो सामर्थ्य जन्मता है उस सामर्थ्य के प्रभाव से ही चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अन्नरस ही प्राणशक्ति का आश्रय है एवं इस आश्रय में ही वह पुष्ट होती है।

† विषय विज्ञान—Persseption

‡ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पांच कर्मेन्द्रियां मन एवं बुद्धि—ये बारह शक्तियाँ एवं इन के आधार स्वरूप पांच स्थूलभूत; सर्वशुद्ध इन १७ से ही सूक्ष्मदेह वा लिङ्गशरीर सङ्गठित है।

+ व्यापन करने से इसका नाम व्यान है।

० मर्मस्थान Vital Parts of the body.

× पुण्य कर्मके प्रभावसे उन्नत देवलोकों और पापके प्रभाव से उद्भिद और निकृष्ट प्राणीलोकों में पुण्य और पाप उभयविध कर्मों के मिश्रण से मनुष्य लोक में गति हुआ करती है।

प्राणशक्ति के आध्यात्मिक विकाश व विभाग का तत्व आपने सुन लिया। अब हम प्राणशक्ति के आधिदैविक विकाश तथा विभाग की बात कहते हैं। यह जो सूर्य देखते हो यह प्राणशक्ति का ही रूपान्तर है प्राणशक्ति ही (स्पन्दन ही) तेजोमण्डल स्वरूप सूर्यरूप से अभिव्यक्त हो रहा है देह में भी प्राणशक्ति चक्षुरिन्द्रिय रूप से व्यक्त हो रही है सुतराँ एक ही प्राणशक्ति बाहर और भीतर दो आकारों से स्थित है। सूर्य अपनी प्रकाश किरणों द्वारा दर्शनेन्द्रिय की सहायता करता है ऐसी सहायता द्वारा दर्शनेन्द्रिय रूपदर्शन में समर्थ होती है भू-लोक में जो अग्नि (तेज) रूप से स्थित है वही देहस्थ अपानशक्ति का उपकार किया करता है। पृथिवी की इस क्रियाके बन्धनसे देह गुरुत्व-वशतः पड़ नहीं जाती और न ऊपरको उत्क्षिप्त होती है देह के अभ्यन्तर में जो समान वायु क्रिया करता है उस को भू-लोक और आकाश के मध्य चलाने वाला वायु साहाय्य वा उपकार पहुंचाता है बाहर जो साधारण वायु सतत सञ्चरित होता है वही देहव्याप्त व्यान वायु का उपकार साधन करता है बाहर जो तेज वा ताप रूप से क्रिया करता रहता है, वही दैहिक उदान वायु का उपकार साधन करता है। दोनों तापही मूलमें एकही शक्ति की अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार प्राणशक्ति सूर्यादि आधिदैविक पदार्थरूपों से अवस्थान करके देहमध्यस्थ आध्यात्मिक इन्द्रियवर्ग का भी उपकार साधती है। * एकही प्राणशक्ति बाहर और भीतर नाना आकार धारण करके परस्पर परस्पर के ऊपर क्रिया और प्रतिक्रिया कर रही है इसी प्रकार देहकी रक्षा होती है।

मृत्युकालमें जीवके कर्मक्षयवशतः बाहरकी तापशक्ति देहस्थ उदान की क्रिया को उत्तेजित करने में और समर्थ नहीं होती। इस कारण दैहिक ऊष्मा (गर्मी) भी क्रमशः शान्त हो जाती है। शारीरिक तापक्षय हुआ देख कर बन्धुगण समझ लेते हैं कि मुमूर्षु व्यक्तिकी मृत्यु आगई, मृत्युके समय सूर्यादिक आधिदैविक पदार्थ आध्यात्मिक-इंद्रियवर्ग की किसी भी क्रिया की उत्तेजना नहीं करसकते। इसलिये इंद्रियाँ मनशक्ति में उपसंहृत हो जाती हैं। मन अपनी वृत्तियों सहित बुद्धि में लीन होजाता है और अन्त में बुद्धि के विविध विज्ञान भी प्राणशक्ति में (उदान क्रिया में दैहिक तेज में) एकाकार होकर विलीन हो जाते हैं। इस भांति मृत्यु के समय चक्षुकर्णादिक बाह्य इंद्रियवर्ग प्रथमतः बाह्य विषय त्यागकर अन्तःकरणमें लीन होता है केवल

* "यः प्राणः तच्चक्षुः, योऽपानः सा वाक्' यो व्यानस्तत् श्रोत्रं' यः समानस्तन्मनः, य उदानः स वायुः इति श्रुत्यन्तरे चक्षुरादीनां प्राणाद्यात्मकत्वम्, आनन्दगिरिः।

अन्तःकरण में संस्कार रूप से विशेष २ बोध जागरूक रहते हैं? पश्चात् मनकी क्रियाएं (विशेष २ विज्ञान) भी प्राण में विलीन हो जाती हैं तब फिर विशेष कोई बोध नहीं रहता; केवलमात्र निःश्वासप्रश्वास चला करता है एवं देहमें उष्णता समाप्त होती जाती है यह उष्णता उदान वृत्ति का कार्य है प्राणशक्ति इस उदान वृत्ति के द्वारा जीवको यथायोग्य परलोकमें लेजाती है *। जैसा संस्कार प्राणशक्ति में विलीन हुआ था वैसे संस्कारके प्रभावसे जीव की तदुपयुक्त स्थान पूर्वकृत कर्मानुकूल यथोचित स्थान में-गति होती है †। उस स्थान में प्राण-शक्ति की प्रथम अभिव्यक्ति होती है।

अतएव आप देखें कि, एक प्राणशक्ति (स्पन्दन) ही, बाहर सूर्यादि रूप से एवं शरीर में अपानादि वृत्ति और इन्द्रिय-शक्ति रूप से, रूपांतर-ग्रहण करके, अवस्थान कर रही है। जो सज्जन भगवती प्राणशक्ति की उत्पत्ति, उसका शरीर में स्थान, समस्त पदार्थों का धारण प्रभृति रहस्य समझने में और अनुभव करने में समर्थ होते हैं, वे ही प्राण-शक्ति का एकत्व जान सकते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी सत्ता और प्राण-शक्ति एक ही है,-इस अद्वैत-तत्व का उत्तम रीति से अनुभव कर सकते हैं। ऐसे एकत्व-ध्यान-परायण महात्माओं की इस लोक में अकाल मृत्यु नहीं होती देह छोड़ने पर भी वे ब्रह्मभूत होकर मुक्ति लाभ करते हैं।

जो सब विषय आज उपदिष्ट हुआ, यह शक्ति का एकत्व प्रतिपादक तत्व है। यह बड़ा ही गूढ़ उपदेश है। इसे भलीभांति श्रद्धा और दृढ़ता से हृदय में धारण कीजिये।

इस प्रकार इस दिन का उपदेश समाप्त होगया।

---

* समस्त इन्द्रिय शक्तियां और संस्कारादि उदान वृत्ति में ही बीजरूप से विलीन रहते है। यही बीज पुनर्जन्म का हेतु है।

† जो शक्ति बाहर तेज, वायु आलोकादि रूप से स्थित है, वही शक्ति शरीर में सब प्रकार की शारीरिक क्रिया रूप से स्थित है। दोनों का ही मूल एक है एवं एक ही शक्ति उभय प्रकार की वस्तुओं में अनुप्रविष्ट होरही है। शक्ति का यह महा एकत्व प्राचीन काल में महर्षियों को विशेष रूप से विदित था। किन्तु सकल क्रियाओं के साथ २ चैतन्य विराजमान है, इस बात को भी भारत के महात्मा भूले न थे। तभी तो ऋग्वेद में शक्ति के विकाश मात्र को ही 'देव, कहा गया है। "एकं 'सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (१। १६४) यह ऋग्वेद का ही आविष्कार है।

चतुर्थ परिच्छेद।

(जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का विवरण)

आज सौर्यायणि ने जिज्ञासा की-

"भगवन्! पुरुष का शरीर कार्य-करणात्मक है-यह बात आपने हम लोगों को बतला दी है *। शरीर के स्थूल अवयव उसके कार्यांश हैं एवं अभ्यन्तरस्थ इन्द्रियवर्ग कारणांश हैं। भगवन्! हम सर्वदा ही तीन अवस्थाओं का अनुभव करते रहते हैं। वे तीन अवस्थायें-जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति हैं। भगवन्! जागरण की अवस्था में कौन २ इन्द्रिय किस प्रकार दर्शन श्रवणादि क्रिया करती रहती है? कार्यांश एवं करणांश में से कौन भला, स्वप्न दर्शन करता है? स्वप्नावस्था में हम शरीर के भीतर, जागते समय जैसा विषय-दर्शन होता है; तदनुरूप ही दर्शन ही तो करते हैं, पर इस प्रकार दर्शन क्रिया का सम्पादन उस समय करता कौन है? फिर हम जब गाढ़ निद्रा में अभिभूत होते, तब तो किसी प्रकार अनुभूति नहीं रहती केवल मात्र आयास-रहित प्रसन्न शान्त सुख की ही अनुभूति रहती है †। उस समय कौन यह अनुभूति लाभ करता है?

जागरित और स्वप्न—इन दो अवस्थाओं में जो सब अनुभूति पाई जाती हैं, वह सब अनुभूति किस प्रकार एकीभूत होकर अवस्थान करती हैं, कहां पर एकीभूत होती है? मधुमें जैसे कटु-तिक्तादि नाना प्रकार के रस एकरूप होकर रहते हैं, रसों

---

* पूर्ण स्वरूप होने से "पुरुष" कहा जाता है। पुरुष की सत्ता के अतिरिक्त बाहर या भीतर किसी वस्तु की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है इसी लिये वह पूर्ण है। कार्य-Matter, करण-Motion.

† गाढ़ निद्रा से उठने के पश्चात् 'मैं कैसे अच्छे सुख में सो रहा था'-ऐसी अनुभूति होती है। इससे अनुमान किया जाता है कि गाढ़ी सुषुप्ति के समय एक मात्र सुखानुभूति ही रहती है। विषयसम्पर्क के न होने से उस समय मनका विक्षेप या कलुषता नहीं रहती इसी लिये 'प्रसन्न' कहा गया है विज्ञेय वस्तु न होने से 'आयास-रहित कहा गया है। निर्वात देश में स्थापित प्रदीप की सी अवस्था होने से 'शांत, कहा गया है।—आनन्दगिरि।

की भिन्नता समझ नहीं पड़ती; समुद्र में जैसे विविध नदियों के जल एक में मिल जाते हैं, कौन जल किस नदी का है, यह जैसे फिर पृथक् नहीं किया जा सकता; वैसे ही गाढ़ सुषुप्ति के समय इन्द्रियाँ एकाकार होकर, कहाँ विलीन हो जाती हैं? ये क्या निज निज काम से विरत होकर, स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से ही लुकी रहती हैं, या ये अपने से पृथक् किसी स्वतन्त्र तत्त्व में विलीन हो जाती हैं? इत्यादि सब विषयों को विस्तार के साथ एवं विशेष रूप से जानने की इच्छा है। दया करके प्रभो हमारे संशयों का आप अवश्य अपनोदन करें" *।

इन प्रश्नोंको सुन कर कृपालु श्रीगुरुदेव कहने लगे—"महाशय! प्रदोष काल में सूर्यास्त के समय आप अवश्य ही यह लक्ष्य कर सकते हैं कि, चहुँदिश बिखरी हुई सहस्रशः किरणें, तेजोराशि के आधार सूर्यमण्डल में एकीभूत हो जाती हैं। तब फिर किरणोंके पार्थक्यका अनुभव नहीं किया जा सकता। पुनस्सूर्योदय काल में, सूर्य्य मण्डल से विभक्त होकर, अगणित किरणें, फिर चारों ओर विकीर्ण होती रहती हैं एवं उनसे दिशायें विभासित हो उठती हैं। जाग्रत् अवस्था में, जो सब इन्द्रियां विषय सयोग से प्रबुद्ध होकर, रूप दर्शन, शब्द श्रवण, स्पर्शोपलब्धि प्रभृति विविध कामों में नियुक्त थीं; वे स्वप्नावस्था में बाहरी विषयों से प्रतिनिवृत्त होकर सकल इन्द्रियों के प्रेरक अन्तःकरणमें एकीभूत हो जाती हैं; तब केवल संस्कार-रूप से (स्मृति-रूपसे) × इन्द्रियाँ अन्तःकरण के मध्य क्रिया करती रहती हैं। स्वप्नसंदर्शन के समय केवल अन्तःकरण ही जागता रहता है एवं जाग्रत् अवस्था में जो सब अनुभूति पाई गई थी, तदनुरूप अनुभूति संस्कार रूपसे क्रिया करती रहती हैं। और फिर जागने पर विषयके योग से इन्द्रियां उद्बुद्ध होकर, इस अन्तःकरण से ही वि·

* भाष्यकार ने कहा है कि, प्रश्नकर्त्ता की ऐसी आशंका युक्तिसंगत है। क्योंकि, जो संहत है, अर्थात् जिसके अवयव सम्मिलित हैं, वह निश्चय ही अन्य किसी का प्रयोजन साधन करता है एवं दूसरेके प्रयोजन साधनार्थ ही, इस प्रकार-मिलित होकर काम करता रहता है। इन्द्रियां जब कि सावयव एवं संहत हैं, तब इन की यह जो सम्मिलित रूप से क्रिया-शीलता है, यह अवश्य ही इनसे स्वतन्त्र किसी चेतन-सत्ता को ही लक्ष्य करती है। उस चेतन सत्ता में ही तब ये सुषुप्तिकाल में लीन होकर रहती हैं।

† संस्कार—Impressions.

भक्त होकर, निज निज काम में लग जाती हैं *। जाग्रत् अवस्था में, स्थूल विषयों से क्रिया प्रवाहित होकर चक्षुरादि इन्द्रियवर्गकी प्रतिक्रिया को उत्तेजित करती है। अन्तःकरण वा बुद्धि—इन चक्षु प्रभृति इन्द्रियों की विशेष विशेष क्रिया द्वारा उपरञ्जित होकर, विषयाकार धारण करती है †। आत्मा ही विषयाकार से परिणत बुद्धि का प्रकाशक है। जाग्रत् अवस्था में इसी प्रकार विषय की उपलब्धि हुआ करती है। अतएव, चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा बुद्धि का यह जो विषयाकार से स्पन्दन है, इसी का नाम जाग्रदवस्था है। स्वप्नावस्था में बाहरी विषय चक्षु आदि इन्द्रियों के ऊपर क्रिया को उत्तेजना नहीं करते। किन्तु जाग्रदवस्था में मन का जो विषयाकार स्पन्दन उत्पन्न होताहै, उस स्पन्दनका संस्कार वा स्मृति अन्तःकरण में अंकित होजाती है। चित्रित चक्र की भांति, यह संस्काराङ्कित अन्तःकरण, स्वप्नावस्थामें क्रियाशील हो उठता है। इस कारण उस समय, स्थूल विषयानुभूति न होने पर भी, अन्तःकरण में वासनामय सूक्ष्म अनुभूति जाग उठती है ‡ उस समय पुरुष, स्थूल रूप-दर्शन, शब्द श्रवण, गन्धाघ्राण, वा स्पर्शानुभव करनेमें समर्थ नहीं होता, वह उस समय वाणीद्वारा वात बोलता नहीं, हस्त इन्द्रिय से कोई वस्तु पकड़ता नहीं, पायु और उपस्थेन्द्रिय द्वारा भी कोई काम नहीं करता। लोग कहते हैं कि यह व्यक्ति सो रहा है। किन्तु शरीर के भीतर अन्तरिन्द्रिय तब भी जागरित रहती है एवं वासनामय अनुभूति का लाभ करती है। उस समय देह के अभ्यन्तर में पाँच वृत्तियों वाली प्राण शक्ति जागरित रहकर, निज काम करती

* चक्षुरिन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्तिर्बहिः प्रसृता रूपादिविषयोपरञ्जिता जानाति क्रियात्मिका उच्यते, सा 'दृष्टिः' एवं सर्वत्र।—उपदेश साहस्री। "दक्षिणाक्षि प्रधानेषु यदा बुद्धिर्विचेष्टते। विषयैर्हविषा दीप्ता आत्माग्निः स्थूलभुक् तदा"-शङ्कर (उपदेश साहस्री। १५। ८२,

† चक्षु कर्णादि भिन्न भिन्न इन्द्रियों की उपलब्धियां जो युगपत् एक काल में ही आत्मा में अनुभूत नहीं होती, इसका कारण 'मन, नामक इन्द्रिय ही है। मन ही भिन्न भिन्न इन्द्रियों की भिन्न भिन्न उपलब्धियोंको सजा कर मिलाकर श्रेणीबद्ध कर एक एक को बुद्धि के समीप उपस्थित करता है। और बुद्धि उनको भिन्न २ जाति में छांट कर, स्थिर-निश्चय करके, आत्मा के निकट उपस्थित करती है। विज्ञान की प्रकृति ऐसी ही है।—उपदेश साहस्री, १६। ३-४ देखो।

‡ "बाह्येन्द्रियप्रयुक्तं मन उपाधिकृत जागरणम्। केवल मनउपाधिकृतः स्वप्नः (स्वप्नकाले विषयान् करणानिच उपसंहृत्य मनो जागर्ति)" आनन्दगिरि)

ही रहती है। इस नव-द्वार वाली देहपुरी में* उस समय प्राणाग्नि प्रज्वलित होकर अपनी प्रभा से देहाभ्यन्तर को उज्ज्वल कर रखता है। हिन्दू गृहस्थ के गृह में जैसे नियत अग्निहोत्र का अग्नि प्रज्वलित रहता है, वैसे ही देहपुरी में भी प्राणाग्नि प्रज्वलित रहता है एवं देह के भीतर मानो होमक्रिया यज्ञानुष्ठान हुआ करता है†। स्वप्नावस्था के इस अन्तर्यज्ञ में मुख्य प्राण ही आहवनीय अग्निस्थानीय है व्यान दक्षिणाग्नि स्वरूप है। समान इस यज्ञ का अग्निस्थानी होनेपर भी निःश्वास और प्रश्वास का समता साधन करके शरीर का धारण कर्ता होने से, वह इस यज्ञ का होता भी माना जाना चाहिये। क्योंकि होता नामक पुरोहित जिस प्रकार आहवनीय अग्नि में दो आहुतियां प्रदान करता रहता है, उसी प्रकार समान भी देह में निःश्वास और प्रश्वास की समता रखता है, इस यज्ञ का यजमान मन है। यजमान जैसे यज्ञ में समस्त प्रधान २ कर्मों का सम्पादन करता है एवं यजमान जैसे स्वर्ग वा ब्रह्म-प्राप्ति के उद्देश से ही यज्ञ का अनुष्ठान करता है स्वप्नावस्था में मन भी वैसे ही विषयवर्ग और बाह्य इन्द्रियवर्ग को संहृत करके जागरूक रहता है एवं स्वप्नावस्था के पश्चात् सुषुप्ति समय में मन नित्य ही आत्म स्वरूप का लाभ करता रहता है। अतएव मन

---

* छान्दोग्य उपनिषद् में हृदय के पांच द्वारों वा छिद्रों की बात कही गई है एवं प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान इन पाँच पवनों (देह की क्रियाओं) का पांच जन द्वारपाल रूप से वर्णन किया गया है। गीता में देह की उपमा नव-द्वार विशिष्ट पुरी के साथ दी गई है।

† श्रुति ने क्यों इस यज्ञ की बात को उठाया? साधक जैसे पहले द्रव्यात्मक यज्ञ का आचरण करता है, उन्नत साधक के पक्ष में भी वैसे ही क्रमशः भावनात्मक यज्ञानुष्ठान विदित हुआ है। यज्ञीय अग्नि में, यज्ञ की सामग्री में और यज्ञ के मन्त्रों में सर्वदा सर्वव्यापक प्राणशक्ति की भावना करने का उपदेश उपनिषदों में पाया जाता है। इसी प्रकार सूर्यादि पदार्थों और आध्यात्मिक इन्द्रियों में प्राणशक्ति की भावना उपदिष्ट हुई है। सर्वदा ही, क्या जागरण, क्या स्वप्न क्या निद्रा में साधक का भावनात्मक यज्ञ करना परम कर्तव्य है। इसके द्वारा सर्वत्र एक अद्वितीय ब्रह्मसत्ता की भावना को न भूलें यही उद्देश्य है। इन्द्रियां जब विषयोपलब्धि में व्यस्त रहती हैं, तब भी जागरण में ब्रह्मभावना, होमभावना, करने का उपदेश मुंडक उपनिषद् में प्रदत्त हुआ है। इस स्थल पर स्वप्नमें भी वह होम भावना कही गई। ऋग्वेद में प्राणशक्ति के प्रथम विकाश वा सृष्टि कार्य को भी एक पुरुष यज्ञ रूप से भावना करने का उपदेश मिलता है।

ही इस यज्ञका यजमान है। साधककी मृत्यु के पश्चात् ही यज्ञ के फल स्वरूप स्वर्ग वा ब्रह्मप्राप्ति होती है। उदान ही, मृत्युकालमें जीवको कर्मानुरूप स्थान में ले जाता है। सुनरां स्वप्नावस्थाके इस यज्ञ में भी उदानको ही इस यज्ञका फल निष्पादक मान लेने की कल्पनाकी जा सकती है। क्योंकि, उदान ही तो स्वप्नावस्थासे सुषुप्ति अवस्था प्राप्ति का हेतु है। इस भांति मनुष्य की स्वप्नावस्थामें सब प्राणाग्नि जाग्रत् रहकर नित्य ही अन्तर्याग का सम्पादन कर देता है।

अतएव, जो तत्वदर्शी पुरुष हैं, वे प्राण की सर्व प्रकार की क्रिया में ही यज्ञ का अनुभव करते रहते हैं। क्या जागरण में, क्या स्वप्नमें क्या गाढ़निद्रा में-सर्वत्र सब अवस्थाओं में, साधक को अन्तर्याग की भावना करनी चाहिये। तत्वज्ञानी विद्वान् व्यक्ति कदापि कर्म-विहीन होकर नहीं रहते *।

महाशय! आपने जो जानना चाहा था कि,-जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्थाके अन्तराल में, स्वप्नदर्शन के समय, कौन देवता शरीर में जागरूक रहता है, सो इस प्रश्न का उत्तर होगया। चक्षु कर्णा द वाह्य इन्द्रियों के ऊपर जब वाह्य विषय क्रिया की उत्तेजना नहीं करते, उस समय वाह्य विषय और इन्द्रियां अन्तःकरणमें उपसंहृत हो जाते हैं। तब अन्तःकरण में जाग्रत् अवस्था में अनुभूत विषय-विज्ञान की स्मृति वा संस्कार जाग उठते हैं। इस स्मृति के प्रभाव से, विषयानुभूति के ठीक अनुरूप अनुभूतियां संस्कार-रूप से क्रिया शील होती हैं। इसीका नाम है स्वप्न-अवस्था।

---

* पाठक शङ्कराचार्य के कथन का तात्पर्य लक्ष्य में करें। बहुत लोग कहते हैं कि, शङ्कर, ब्रह्मज्ञानी के पक्ष में सर्वविध कर्मों का निषेध करके, निष्कर्मा संन्यासियों का दल बढ़ा गये हैं। किन्तु यह बड़ी ही भ्रान्त धारणा है। जो लोग भली भांति शङ्कर-भाष्य पढ़ते नहीं, वे ही शङ्कर के सम्बन्ध में ऐसी मिथ्या बातें उड़ाया करते हैं। शङ्कर के कर्मत्याग का अर्थ—सकाम कर्मत्याग मात्र है। प्रथम खँड की अवतरणिका के अन्तिम अँश में इस विषय की विचार द्वारा मीमाँसा की गई है। पाठक देख सकते हैं।

जाग्रत् अवस्थामें, बाहरी इन्द्रियोंके क्रिया शील होने से, वैषयिक अनुभूति लाभ किया जाता है। अतएव ये अनुभूतियाँ इन्द्रियोंके ही धर्म हैं। आत्माके धर्म नहीं हैं। स्वप्नावस्थामें बाहरी इन्द्रियोंकी क्रियायें नहीं होतीं, केवल प्राण ही जागता रहता है इससे स्वप्नावस्था की वासनामय अनुभूतियां, प्राणके ही धर्म हैं; आत्माके नहीं। यह तत्व विद्वान् व्यक्ति जान सकते हैं। साधारण लोग ऐसी मार्मिक बातें नहीं सभझ सकते।—आनन्दगिरि।

अन्तःकरण या मन ही-इस प्रकार की अनुभूतियों का द्वार वा साधन है। मन ही-आत्म चैतन्य की उपाधि है। आत्मा मनके द्वारा ही अनुभूति-लाभ किया करता है क्या जाग्रत्, क्या स्वप्न में, मन ही आत्मा की विषयोपलब्धि का प्रधान सहाय वा द्वार है। आत्मा-स्वप्रकाश-स्वरूप है। कुछ लोग कहा करते हैं कि, स्वप्न देखने के समय आत्मा के इस प्रकाश-स्वरूप की क्षति उपजती है। किन्तु प्रकृत पक्ष में कोई भी हानि नहीं होती। किसी काल में कोई भी आत्मा के इस प्रकाशमें बाधा नहीं डाल सकता। क्योंकि, आत्मा का स्वातन्त्र्य सर्वदा ही अव्याहत रहता है जिस किसी अवस्थाका उदय क्यों न हो, आत्मा सभी अवस्थाओं के भीतर अपने स्वातन्त्र्यकी रक्षा करता है;-कदापि किसी कारण से इस स्वतन्त्रताकी क्षति नहीं होती * ।

सुतरां जाग्रदवस्था की स्थूल विषयानुभूति † वा स्वप्नकाल की सूक्ष्म संस्कार मय अनुभूति ‡-इन दोनोंमें से किसीके भी द्वारा आत्माके स्वप्रकाश स्वरूप में कोई विघ्न कदापि नहीं पड़ सकता। जागरणमें और स्वप्न में, बुद्धि ही विषयाकार धारण करती है-बुद्धिही परिणत होती है; किन्तु आत्मा का कोई परिणाम सम्भव नहीं होता + आत्मा,—सब भांतिकी अनुभूतियों का 'द्रष्टा' है, अनुभूतियां आत्मा का

---

* बुद्धिरेव सर्वासु अवस्थासु अर्थाकारा दृश्यते। चित्तं रूपादीन् विषयान् व्याप्नुवत् तदाकारं दृश्यते"।"धियो विषयव्याप्तिः परिणामन्तरेण न भवति"। विषय दर्शनकाल में बुद्धि का ही परिणाम होता है, आत्मा का परिणाम नहीं होता। "चक्षुर्द्वारजनिता रूपाकाराकारिता मानसी वृत्तिः सा आत्मरूपया नित्यया दृष्ट्या चैतन्यप्रकाशलक्षणया नित्यमेव दृश्यते। या तु चक्षुरादिद्वारनिरपेक्षान्तर्मनसि चित्ते स्मृतिरागादिरूपा सापि आत्मदृष्ट्या दृश्यते"—उपदेश साहस्री।

† "अ द्रष्टृदृश्यादपि स आत्मा अन्य एव द्रष्टृत्वात्"।

‡ "स्वप्न एव स्मृतिरुच्यते। पूर्वानुभूतविषयाकारा वृत्तिरन्तः करणात्मिका स्मृतिः। सापि आत्मदृष्ट्या दृश्यते। अत्र चित्तमेव स्मर्यमानाधिकरणतया दृश्यते इति अन्तःकरणस्य साक्षिप्रत्यक्षत्वम्"।—उपदेशसाहस्री टीका, १५।४

\+ यद्यपि धियो विषयव्याप्तिः परिणाममन्तरेण न भवति,तथापि चैतन्यात्मनो धीवृत्तिव्याप्तौ न परिणामापेक्षा चिदात्मन्येव तत्प्रकाशकवलिताया एव धियः सद्योत्पत्तेः।-१४।६। "न अध्यक्षस्य साक्षिणः परिणामः तस्य अविशेषत्वाद् स्वतः परतो वा निरवयवस्य विशेषासम्भवात्। किन्तु बुद्धेरेव साभासाया अवस्थाविशेषः"।

"दृश्य" है। द्रष्टा एवं दृश्य-एक जातीय पदार्थ नहीं हो सकते। दृश्यवर्ग से द्रष्टा को स्वतन्त्र होना चाहिये ही *। अतएव सब अवस्थाओं में ही आत्मदेव की स्वतन्त्रता या आत्माकी ज्योति वा प्रकाश की स्वतन्त्रता अखण्डित-अव्याहत रहती है।

जाग्रत् अवस्था में, अविद्याच्छन्न मनुष्य प्रत्येक वस्तु को ही देश-काल-बद्ध स्वतन्त्र, स्वतन्त्र वस्तुरूप से अनुभव करता रहता है। "यह वृक्ष है" "यह घर है" "यह पुत्र है", "यह मित्र है" "यह दुःख और यह सुख है",-इत्याकार से वैषयिक विज्ञान की उपलब्धि किया करता है। विषयों के इन्द्रियों पर प्रतिक्रिया उत्पन्न करने से, अन्तःकरण इन सब ऐन्द्रियिक उपलब्धियों को विचारद्वारा श्रेणीबद्ध कर लेता है-सुसज्जित कर माम से एक श्रेणी में गूंथ लेता है; तभी विषयों का विज्ञान सुसिद्ध होता है †। और अन्तःकरण के भीतर अनुगत आत्मा ही यह विचार करता है। इस विचार द्वारा ही समझा जाता है कि इन सब अनुभूतियों से आत्मा स्वतंत्र है। ‡ स्वप्नावस्था में स्थूल विषय नहीं रहते। केवल अन्तः करण,

* द्रष्टा सदैव दृश्यात् असजातीयः दृश्यांशस्य अचेतनत्वात् आत्मत्वानुपपत्तेः"—१५।५। "अन्यथा द्रष्ट-दृश्ययोरसजातीयत्वानङ्गीकारे द्रष्टुः परिणामित्वात् धीवत्, साक्षिता आत्मता-न स्यात्"।

† समानासमानजातीयेभ्यो व्यवच्छिद्यन्मनो लक्षयति"-सांख्यकारिका में वाचस्पति मिश्र। व्यक्तिगत और जातिगत रूपसे सज्जित करने को ही-श्रेणीबद्ध करना कहा गया है। इस सज्जीभूत करने के मूलमें-सादृश्य और वैसादृश्य विचार निहित रहता है। 'वर्त्तमान की अनुभूतियां, अतीत में लब्ध अनुभूतियों के समान जातीय हैं; एवं ये अन्यान्य अनुभूतियों से विजातीय हैं" इस प्रकार का विचार आवश्यक है। तब सम्पूर्ण विषय विज्ञान (Perception) लब्ध होता है। सांख्य दर्शन में यह तत्व विशेष रूपसे लिखा है। "अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया। बुद्ध्यावसीयते साहि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता"। प्रथमतः चक्षु आदि इन्द्रियाँ सामान्याकार से विषयों की आलोचना में प्रवृत्त होती हैं। पश्चात् बुद्धिद्वारा विशेष रूपसे अनुगत (Similar) और व्यावृत्त (Deissimilar) धर्म सहकारिता से आलोचना होती है-

"Our idea of an object Exists first as undevided unit on which the sereral qualitis Comes to the front-one after on other through the Experince of similars with a diffrence" Martiniane.

‡ "चित्तस्य मूर्त्तत्वात् विषयव्याप्ती तदाकारापत्तिः। ननु निरवयवस्य आत्मनः धीव्याप्ती तथा"--उपदेशसाहस्री, रामतीर्थ, १४।४। "न बुद्धिवद्विकारवत्ता नापि बुद्धिरेव द्रष्टा" ४।५३। "नचैवंसहि बुद्धेरनुपयोग एव, चैतन्यस्य विषयविशेषाकारत्वापादनाय तदुपयोगात्,-ibid "आत्मनोन विकारित्वं बुद्धिवत्" सावयवत्वाभावात् सर्वविकारसाक्षित्वाच्च ४।५१।

पूर्वलब्ध रूप-रसादि के संस्कारों को लेकर क्रीड़ा करता रहता है। जाग्रत् अवस्था में इन का जो देशकालवद्ध स्थूल आकार था वह स्थूल आकार इस समय नहीं है। इस समय अनुभूतियों ने वासनात्मक सूक्ष्म आकार धारण करलिया है *। किन्तु जो आत्मा जाग्रत् कालमें स्थूल विषयानुभूति लाभ करता था वही आत्मा स्वप्नावस्था में विषयोंकी इन वासनाकार अनुभूतियों का लाभ करता है †। अतएव स्वप्नावस्था में यद्यपि जाग्रदवस्था की भाँति आकार नहीं है तथापि इस से आत्मा का कोई रूपान्तर घटित नहीं होता। आत्मा—उभय अवस्थाओं का द्रष्टा है।

जब गाढ़ निद्रा उपस्थित होतीहै उसका नाम सुषुप्ति है। इस अवस्थामें, स्वप्नावस्थाकी अनुभूति वासनामयी अनुभूत नहीं रहती। दर्शन और स्मृति-दोनों मन के स्पन्दन मात्र हैं। सुषुप्ति समय ये दोनों प्रकारके ही स्पन्दन निवृत्त होजाते हैं। इस अवस्था में वाह्य वा आन्तर किसी प्रकार की भी अनुभूति नहीं रहती; वासना संस्कार भी विलीन हो जाते हैं। इस अवस्था में अन्तः करण की वाहरी और भीतरी सर्वप्रकार की अनुभूति (रूपादि-विज्ञान वा उनकी स्मृति) विलीन हो कर, प्राणशक्ति में प्रच्छन्न रूपसे अवस्थान करती है। ‡ उस समय सकल विज्ञान समस्त संस्कार सारी वासनाएँ-प्राणशक्तिमें वीज भाव धारण करती हैं + । और हृदयका छिद्र-पथ पित्त-द्वारा अवरुद्ध हो जाता है सुतरां वासना-प्रवाह भी अवरुद्ध हो जाता हैं। अतएव तव इंद्रियों के सहित अंतः करण का क्रिया-प्रवाह हृदय में उपसंहृत-लीन हो जाता है। सब प्रकार के विशेष २ विज्ञान, एक साधारण ज्ञान के आकार में सारे शरीर को व्याप्त करके स्थित रहते हैं। उस समय एक अनिर्वचनीय आनन्दमात्र की ही अनुभूति हुआ करती है कार्य और कारणवर्ग शान्तभाव धारण कर गाढ़ी सुषुप्तिमें निमग्न हो जाते हैं। इसलिये केवल मात्र शांत अद्वय शिव प्रशांत आत्मस्वरूप ही प्रकाशित हो उठताहै इसीका नाम है घोर सुषुप्ति। महाशय! नाना दिग्दिगंतों से उड़कर पक्षीगण जैसे प्रदोष काल में एकत्रित होकर अपने घोंसलों में

* जाग्रत् अवस्था में जिन २ विषयोंकी उपलब्धिकी जातीहै।अन्तः करणमें उनके संस्कार अंकित हो जाते हैं। और येही पूर्वांकित संस्कार स्वप्नावस्था में उद्भूत हो उठते हैं।

† "स्वप्नावस्थायां मनःपरिणामरूपाः विषयाकारा वृत्तयः" ततो व्यतिरिक्तस्यैव द्रष्टुः दृश्याः।

‡ दर्शन स्मरण एव हि मनः स्पन्दिते तदभावे हृद्येव अविशेषेण प्राणात्मना अवस्थानम् गौड़पादभाष्ये शङ्करः।

+ जाग्रत्स्वप्नौ स्थूलसूक्ष्मविषयभोगलक्षणौ । तयोर्वीजं कारणं तमोमयं यदज्ञानप्रायं सुप्तिसंज्ञकं तमोवीजम् उपदेशसाहस्रे रामतीर्थ" १६ । १८ ।

आ मिलते हैं, वैसे ही सुषुप्ति में सब विज्ञान * एक प्राणशक्ति में ही—अक्षर पुरुष चैतन्य में ही—एकाकार होकर अवस्थान करते हैं †। उस समय श्रोतव्य विषय और श्रवणेन्द्रिय घ्रातव्य विषय और घ्राणेन्द्रिय स्प्रष्टव्य विषयके सहित स्पर्शेन्द्रिय(त्वचा) गृहीतव्य विषय के सहित हस्तेन्द्रिय, गन्तव्य देशके सहित गमनेन्द्रिय (पद) संकल्प विकल्प के सहित मन बोद्धव्य विषय के सहित बुद्धि, अभिमान वृत्ति के सहित अहंकार ‡ एवं सब प्रकार के कार्य करणवर्ग का मूलीभूत प्राण वा सूत्र (स्पन्दन) ये सब ही परम अक्षर पुरुष चैतन्य में विलीन हो जाते हैं।

जिसमें ये सब विलीन होजाते हैं, वही परम पुरुष है+यह परम पुरुष ही वास्तव में दर्शनकर्ता, घ्राणकर्ता, मननकर्ता, बोद्धा एवं विज्ञानमय पुरुष चैतन्य है। और यह सर्वथा ही ज्ञान स्वरूप है। यह अपनी सत्ता द्वारा भीतरी सारी क्रिया एवं देह के बाहर के सब विषयको पूर्ण किये हैं, इसकारण इसको पूर्ण पुरुष कहा जाता है। सुषुप्तिकाल में, इसी में,सब विज्ञान सब क्रियाओं सहित विलीन होजाते हैं या विलीन होकर निवास करते हैं ०।

* विज्ञान शब्दज्ञान, स्पर्शज्ञान, रूपज्ञान रसज्ञान प्रभृति।

† सुषुप्ति काल में प्राणशक्ति विलुप्त नहीं होती। किन्तु उस समय प्राण की कोई विशेष देशकालबद्ध क्रिया की अभिव्यक्ति नहीं होती। साधारण क्रियामात्र होती रहती है। यह प्राण बीज रहने से ही जागने पर, फिर इस बीज से ही दर्शनादि क्रिया प्रवाह निकलता है।

‡ मन, बुद्धि; अहंकार इन तीनों का एकत्रित नाम है "अन्तःकरण"। एक अन्तःकरण नामक वस्तु के ही भिन्न २ क्रिया के भेदवश, मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन नाम हैं। अन्तःकरण की जिस वृत्ति-द्वारा चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, उसे 'चित्त' भी कहा जाता है। वेदान्त में किसी किसी के मत से, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, इन चारों का नाम 'अन्तःकरण' है।

+ "पूर्णमनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत् समस्तमिति 'पुरुषः'। पुरि (देहे) शयनाद्वा "पुरुषः" ईशभाष्य।

० शङ्कराचार्य ने माण्डूक्यभाष्य में लिखा है कि सुषुप्तिकाल में सब विशेष विशेष विज्ञान प्राणशक्ति में लीन हो जाते हैं। आत्मा ही इस प्राणशक्ति का अधिष्ठान है। यह बीजयुक्त आत्म चैतन्य ही श्रुति में "सद्ब्रह्म" वा "कारण ब्रह्म" नाम से विदित है। इस प्राण बीज को सुषुप्ति अवस्था में स्वीकार करना ही होगा। यदि यह बीज न माना जाय, तो सुषुप्ति के पश्चात् जीव का जागना संभव नहीं। जीव फिर जागता है एवं फिर दर्शन श्रवणादि करता है, इसका कारण प्राणबीज ही है।

यह परम पुरुष सर्व विध गुण, विशेषण व धर्म विवर्जित है। यह स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों अवस्थाओं के अतीत है। यह नाम रूपादि उपाधि से स्वतन्त्र है। यह शुद्ध, निर्विकार, तुरीय है। यह परम सत्य है इसकी सत्ता-सर्वदा एक रूप सर्वव्यापक और स्वतःसिद्ध है यह प्राण तथा मन के अगोचर है। इसको जान लेने पर फिर जानने के लिये कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता। क्योंकि यही सब का कारण है। सुवर्ण की ही सत्ता जैसे हार कंकण कुण्डलादि विविध आकार धारण करती है वैसे ही यह कारण-सत्ता ही (पुरुष-सत्ता ही) विविध कार्याकारसे अभिव्यक्त होरही है। अतएव कारण-सत्ता का ज्ञान लाभ कर लेने पर विश्व के तावत् पदार्थों का ज्ञान भी सहज सिद्ध होजाता है। अग्नि, सूर्यादिक आधिदैविक पदार्थ समूह चक्षु आदि इन्द्रियवर्ग आध्यात्मिक पदार्थ, तथा पृथिवी आदि भौतिक पदार्थ इस परम पुरुष की सत्ता के अवलम्ब से ही स्थित रहते हैं। इस परम अक्षर पुरुष को जान जाने पर, जानने के लिये अन्य कुछ शेष नहीं रह जाता। किन्तु साधक सर्वज्ञ बन जाता है। उसका सर्वत्र सर्वात्मभाव विस्तृत हो जाता है *।

महाशय ! आपने जो जीवकी तीन अवस्थाओं को-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति को जानने की इच्छा की थी, सो बतला दिया गया। इसके द्वारा, विषय विज्ञान का तत्त्व एवं आत्मा के प्रकृत स्वरूप का तत्व भी संक्षिप्त रूपमें प्रकट कर दिया गया है। आप इस व्याख्यान का मनन करें और आत्माके स्वरूप का सर्वदा अनुसन्धान करें" ।

यह कह कर महर्षि नीरव होगए।

आत्मा में इस बीज के रहने से ही, पुनः दर्शन श्रवणादि क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। यह प्राण ही जाग्रत् और स्वप्न अवस्था का बीज स्वरूप है। स्वप्नावस्था में जो सब वासना संस्कारादि क्रिया करते हैं, वे सब वासना संस्कारादि सुषुप्तिकाल में इस प्राण बीज में ही लीन होते हैं सूक्ष्म कारणावस्था धारण करते हैं। और फिर इस कारणबीज से ही जाग्रत अवस्था में इन्द्रियादि की क्रिया अभिव्यक्त होती है इसलिये सुषुप्तावस्था बीजावस्था अर्थात् आत्मा की शक्ति संवलित अवस्था है। इसको छोड़ आत्मा की एक 'तुरीय अवस्था' भी है। यह निर्वीज अवस्था है। यह करणावस्था के भी परे है। केवल "नेति नेति" शब्द द्वारा ही इस अवस्था का कथञ्चित् ज्ञान कराया जाता है।

* एक ही कारणसत्ता से जबकि बाहरी और भीतरी सब पदार्थ प्रकट हुए हैं एवं एकही कारणसत्ता जब सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट है, तब जो सत्ता आत्मा में है, वही सत्ता बाहर भी है इस अद्वय ज्ञानका नाम ही "सर्वात्मभाव" है।

पञ्चम परिच्छेद ।

(षोडश कला का विवरण ।)
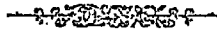
अन्य दिन प्रदोष के समय बड़े विनीत भाव से श्री गुरुवर्य महर्षि पिप्पलाद आचार्य की चरण-सेवामें उपस्थित होकर, सुकेशा महाशय ने यों निवेदन किया-

"प्रभो ! श्रीमान् ने उस दिन हम लोगों को जो उपदेश प्रदान किया था, उससे जीवकी सुषुप्ति दशामें विषयवर्ग और सब इन्द्रियगण किस प्रकार आत्म-सत्ता में विलीन हो जाते हैं, यही आलोचित हुआ है । प्रसंगवश हमने यहभी समझ लिया है कि, प्रलयकाल में-कार्य-करणात्मक यह जगत् * उस परम कारण स्वरूप अक्षर पुरुषमें लीन होजायगा । एवं फिर सृष्टिकालमें उस पुरुष-सत्तासेही जगत् अभिव्यक्त होगा । कार्यवर्ग—अपने उपादान व्यतीत अन्य किसी वस्तुमें लीन हो कर नहीं रह सकता और न अन्य किसी से अभिव्यक्त भी हो सकता है । उपादान-कारण से ही कार्य की अभिव्यक्ति होतीहै और फिर वह उसी में विलीन हो जाता है; यही नियम है । आपने यह भी उपदेश कर दिया है कि, इस विश्व का जो मूल-कारण है उसी को भले प्रकार जानना चाहिये एवं उसको जान लेने पर ही मनुष्य का

---

*कार्य–Matter. करण – Motion. श्रुतिने जीवकी सुषुप्ति अवस्था एवं जगत् की प्रलयावस्था को समान बतलाया है। सुषुप्ति में-इन्द्रियादि प्राणशक्ति में अनभिव्यक्त भाव से विलीन रहते हैं । फिर जागने पर इस प्राणशक्ति बीजरूप से ही अभिव्यक्त होते हैं । योंही प्रलयकाल में यह जगत् "अव्यक्त" प्राणशक्ति में ही लीन होता है । और पुनः सृष्टिके समय इस बीजसे ही जगत् व्यक्त होता है । प्रलय और सुषुप्ति में प्राणबीज स्वीकार किया जाता है । अन्यथा सुषुप्ति के पश्चात् इन्द्रियादि एवं प्रलयान्तर जगत् की अभिव्यक्ति कहां से होगी ? इसीलिये आनन्दगिरि ने गौड़पादकारिका के भाष्यकी व्याख्या में कहा है कि, संसार के बीजस्वरूप इस "अव्यक्त" को केवल एक संस्कार वा Idea नहीं माना जाता । वह मनका एक अज्ञानात्मक संस्कार मात्र नहीं है । किन्तु वह जड़-जगत्-जड़ीय उपादान है। „उपादानत्वेन अनाद्यज्ञानासिद्धिः"-इत्यादि द्रष्टव्य है।

परमकल्याण (मुक्ति) होता* है । कारण-सत्ता का यथार्थ बोध उत्पन्न होनेपर ही अद्वैत-ज्ञान लाभ किया जासकता है एवं अद्वैत-ज्ञान ही सब ज्ञानोंका सार है, वही मुक्ति का मुख्य निमित्त है । ' कारण सत्ता , से भिन्न किसी कार्यकी भी 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं है,—यही अद्वैत-ज्ञान।का मूलतत्त्व है । अस्तु, अब प्रार्थना यह है कि, आप कृपा कर उस परम कारण अक्षर पुरुष के स्वरूप का कीर्तन बताएं एवं किस प्रकार उससे यह विश्व प्रादुर्भूत हुआ है, इस विषय की विस्तृत रूप से व्याख्या करके, हम लोगों को परितृप्त व कृतार्थ करें ।

एक समय कोशल-देश के क्षत्रिय राजपुत्र श्रीमान् हिरण्यनाभ, रथ में बैठ कर मेरे यहाँ पधारे थे । ज्ञान की बातें होने लगीं तब उन्होंने पूछा था कि,—"महाशय ! आप "षोडश-कला-विशिष्ट, पुरुष के स्वरूप को क्या जानते हैं ? षोडश कला किसे कहते हैं ? एवं किस प्रकार की है और उस षोडश-कला से युक्त पुरुष कौन है " ? । पर भगवन् ! राजपुत्र के जिज्ञासित विषय को न जानने के कारण वारम्वार अनुरुद्ध होकर भी मैं उनके प्रश्न का कोई उत्तर न दे सका । वे उदास विमर्श-चित्त होकर और रथ में चढ़ कर अपने घर को लौट गये । आज मैं यह प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित करता हूँ । आप ब्रह्मज्ञ महापुरुष हैं । आप के विना इस महारहस्य को समझा दे ऐसा व्यक्ति भारतवर्षमें मुझे दूसरा नहीं मिला । अतएव हम लोग साञ्जलि सविनय प्रार्थना करते हैं कि आप हमारी मनो-कामना पूर्ण करने की अवश्य दया करें । इस लिये ही हम लोग बहुत दूर से आपकी शरण में आये हैं ।

आचार्य वर ने सुकेशा महाशय के अकपट आग्रह और हृदयकी पूरी पिपासा को समझ कर षोडशकला का विवरण करना आरम्भ कर दिया—

"महोदय ! इस शरीर के भीतर जो पुरुष वास करता है, उसी से षोडश कलाएं उत्पन्न हुई हैं । पुरुष सब कलाओंसे अतीत है; कलायें तो उसकी उपाधि हैं†

* प्रिय पाठक, शङ्कर भगवान्के वक्तव्य का तात्पर्य लक्ष्यमें करें । जगत् को अलग करके ब्रह्म ज्ञान - लाभ की बात नहीं कही गई । जगत् की ही अन्तरालवर्ती सत्ता या साक्षीरूप से ही ब्रह्म ज्ञान लाभ का उपदेश प्रदत्त हुआ है ।

† पुरुष सत्ता सब कलाओं से स्वतन्त्र है । पर कलाएं उससे स्वतन्त्र नहीं हैं । कलाएं उस निर्विशेष पुरुष सत्ता की ही एक विशेष अवस्था या विशेष आकार मात्र हैं । किन्तु एक विशेष आकार धारण करने से वस्तु अन्य कुछ स्वतन्त्र वस्तु नहीं हो जाती । इस लिये ही, पुरुष-सत्ता को कलाओं से स्वतन्त्र कहा जाता है । वह स्वतन्त्र रहकर ही कलाओंका अधिष्ठाता है। इसी लिये कलायें उसकी'उपाधि, हैं। सृष्टिके पूर्वक्षणमें यह विशेष अवस्था आई थी, इससे पुरुष-सत्ता सर्वदा'स्वतंत्र, है । द्वितीय खंडकी अवतरणिका देखिये ।

इस उपाधि योग से ही यह सर्वातीत पुरुष कलाविशिष्ट नाम से उपलक्षित होता है।

ये कलायें पुरुष-चैतन्य की सत्ता से ही उत्पन्न हुआ करती हैं, स्थितिकाल में, उसी की सत्ता में लीन हो जाती हैं ये किसी भी अवस्था में, उसकी सत्ता से 'स्वतन्त्र, रूपमें नहीं रह सकतीं। इनकी निजी कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जिनकी 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं जिनकी सत्ता पुरुषी सत्ता के ऊपर ही निर्भर है, वे निश्चय ही असत्य हैं *।

सब से पहले हम आपके निकट इस पुरुष के स्वरूप का कीर्तन करके फिर षोडश कलाओं का विवरण सुनावेंगे।

पुरुष चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य या ज्ञान ही पुरुष का प्रकृत स्वरूप है। इस ज्ञान वा चैतन्यका कोई अवस्थान्तर नहीं, कोई विशेषत्व नहीं है। यह निर्विशेष सर्वदा एकरूप है। यह सदा वर्तमान नित्य है। इसका कदापि व्यभिचार नहीं होता,— अर्थात् यह अब एकरूप है, तब अन्यरूप है, वा यह इस समय है, उस समय नहीं, ऐसा कभी भी नहीं होता। सब वस्तुएं ही इस ज्ञानकी ज्ञेय हैं, यह सर्वदा प्रकाश स्वरूप है। विषय उपस्थित होते ही, वह इस चैतन्य द्वारा प्रकाशित होगा ही। वृक्ष लतादिक विषयवर्ग नियत परिवर्तित हुआ करते निरंतर अवस्थान्तर धारण करते रहते हैं इनका सर्वदा उत्पत्ति विनाश हुआ करताहै। किन्तु विषय वर्गोंकी इन सारी अवस्थाओं के भीतर हमारा प्रकाश-स्वरूप चैतन्य सर्वदा एक रस वर्तमान रहता है विषयों के सकल अवस्थान्तर ही, इस-चैतन्य द्वारा प्रकाशित हुआ करते हैं। प्रकाश करना ही इसका स्वरूप है। ज्ञानही इसका स्वरूप है। एक वस्तु है तो ज्ञान-स्वरूप पर वह किसी को भी जान नहीं सकती, ऐसा युक्ति संगत नहीं हो सकता। एक निर्दिष्ट विषय की अनुभूति के समय, अन्य एक विषय की अनुभूति नहीं हो सकती जब घट का ज्ञान होरहा है, तब पट का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु ज्ञान सर्वत्र, सर्वदा अनुस्यूत रहता है। विषय उपस्थित रहें वा न रहें, प्रकाश करना ही ज्ञानका स्वरूप है। नित्य ज्ञानस्वरूप चैतन्य, सर्वदा वर्तमान रहताहै। कोई विषय उपस्थित हो मात्र ही वह उस प्रकाश स्वरूप ज्ञान या चैतन्य द्वारा प्रकाशित होवेगा ही। तात्पर्य यह कि चैतन्य में व्यभिचार कभी नहीं आता। जो उस चैतन्यका ज्ञेय पदार्थ है उसी का व्यभिचार व अवस्थान्तर हुआ करता है। सुतरां ज्ञान रहने से ही, अपने ज्ञेय पदार्थ के साथ साथ उपस्थित ही रहेगा, ऐसा नियम नहीं हो सकता। किन्तु

* इस भावसेही शङ्कर जगत्को 'असत्य' कहते हैं। द्वितीयखंडकी अवतरणिका द्रष्टव्य है।

कोई भी ज्ञेय पदार्थ यदि उपस्थित है तो वह प्रकाश स्वरूप चैतन्य द्वारा ही प्रकाशित हो रहा है, यह अनिवार्य रूप से सत्य है।

यदि इस प्रकार की शंका हो कि, जब कोई मनुष्य गाढ़ निद्रामें सुषुप्त रहता है तब तो उसे कोई विषय का विज्ञान होता नहीं, अतएव इस स्थल पर तो ज्ञान का व्यभिचार देखा जाता है। किन्तु यह आशंका कुछ भी नहीं है। कारण कि, अन्धकार में चक्षु कोई रूप नहीं देख पाती, इससे क्या उस समय चक्षु का ही अभाव है ऐसा कह सकते हैं? सुषुप्तिकाल में भी ज्ञान का अभाव नहीं होता, केवल ज्ञान का अभिव्यञ्जक विषय नहीं रहता, इसीसे ज्ञान समझ में नहीं आता इतना ही ठीक है। ज्ञेय विषय के अभाव में ज्ञानका ही अभाव है ऐसा समझना भूल है। यह जो ज्ञेय विषयका 'अभाव' है भला इस अभावको कौन जना देता है? ज्ञान ही तो बतलाता है कि विषय का अभाव है। क्योंकि 'अभाव' भी एक प्रकार का ज्ञेय है। इस प्रकार की युक्ति से भी यही प्रमाणित होता है कि ज्ञेय विषय का अभाव होने से ज्ञान का अभाव नहीं होता। अतएव ज्ञान-नित्य है एवं ज्ञान का कदापि अभाव नहीं होता।

कोई लोग ज्ञान को अखंड नहीं मानते। वे कहते हैं कि खंड २ ज्ञानों की धारा ही आत्मा का स्वरूप है†। इनके मत में इस ज्ञान धारा में एक ज्ञान दूसरे का ज्ञेय है। और ज्ञेय होने पर भी सभी जब कि ज्ञान-धारा मात्र है, तब इनके मत में ज्ञान एवं ज्ञेय इन दोनों में कोई भेद नहीं है। किन्तु हम कहते हैं कि, ज्ञाता और ज्ञेय कदापि एक नहीं हो सकते। ज्ञेय से ज्ञाता अवश्य ही भिन्न होता है *। किसी पदार्थ को किसी का ज्ञेय होने से, ज्ञाता का ज्ञेय से स्वतन्त्र होना आवश्यक है। सभी यदि केवल ज्ञान-धारा † ही है, तो एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को जानेगा किस प्रकार? आप ही तो अपनेको जाना नहीं जा सकता ‡ अतएव ज्ञान वा चैतन्य खंड २ नहीं, वह एक, अखंड, नित्य है।

---

* मैंने चन्द्रमा देखा, वहां पर मैं चन्द्रमा का ज्ञाता हूं और चन्द्रमा मेरा ज्ञेय है। मैं और चन्द्रमा एक कैसे हो सकते हैं?

† ज्ञान-धारा Series of Consciousness.

‡ एक शंका हो सकती है कि, ब्रह्म-चैतन्य को 'सर्वज्ञ' किस प्रकार कहा जाता है? प्रकृत सिद्धान्त यह है कि, ज्ञेय वस्तु न होने पर भी, ज्ञान का व्यभिचार नहीं होता। जहां ज्ञान के योग्य (प्रकाश्य) कोई वस्तु उपस्थित नहीं वहां भी ज्ञान रहता है, हां विषय के अभाव में वह अभिव्यञ्जित नहीं होता। सर्वज्ञत्व का अर्थ है स्वप्रकाशत्व। सुतरां विषय-प्रकाश करने की योग्यता ब्रह्म में सर्वदा ही है। ज्ञेय विषय जब ही उपस्थित होगा, तब ही वह प्रकाशित होगा।

और एक, अखंड, नित्य ज्ञान विचित्र नाम तथा रूपादि उपाधि योग से खंड खंड विज्ञान रूप से प्रतीत हुआ करता है। एक अखण्ड ज्ञान ही नाम रूपादि का अधिष्ठान, है* सुतरां वह नाम रूपादि कलाओं से स्वतन्त्र है। ये कलाएं, सृष्टि काल में पुरुष की सत्ता से ही उत्पन्न होती हैं एवं स्थितिकाल में पुरुष-सत्ता के अवलम्ब से ही ठहरी हैं, फिर प्रलयकाल में पुरुष सत्ता में ही विलीन हो जाएंगी। पुरुष सत्ता में ही नाम रूपादि की सत्ता है उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है†। पुरुष-सत्ता चेतन स्वरूप है अखण्ड ज्ञान स्वरूप है सो आपसे कह दिया। अब, पुरुष-सत्ता ही जगत् का कारण है नाम रूपादि कलाओं का उपादान है, सो बात कहते हैं।

देह में ही पुरुष चैतन्य अवस्थान करता है। किन्तु देह कभी भी चैतन्य का आधार नहीं। क्योंकि देह एवं देह के उपादान नाम रूपादि कलाएं सभी सावयव जड़ हैं। चैतन्य निरवयव, अखण्ड है। दर्शन,श्रवण, मननादि विविध विज्ञानों द्वारा देह में उस अखंड चैतन्य की उपलब्धि व आभास प्राप्त किया जाता है। इसीलिये उसे देह के भीतर स्थित बतलाया जाता है। एक बात और भी है। कारण-सत्ताही कार्यों में अनुप्रविष्ट रहती है। देहादिक कार्य पुरुष सत्ता से ही अभिव्यक्त हुआ करते हैं। अतएव देहादि के भीतर पुरुष-सत्ता अनुस्यूत हो रही है। इसी निमित्त कहा जाता है कि वह देह में अवस्थान करता है।

अब यह देखना चाहिये कि चेतन पुरुष सत्ता से किस प्रकार षोडश कलाएं अभिव्यक्त हुई हैं और वे कौन २ हैं।

निर्विशेष चैतन्य सत्ता ने सृष्टि के प्राक्काल में, जगत्सृष्टि की आलोचना की थी। यह 'आलोचना' वा सृष्टि विषयक संकल्प 'आगन्तुक' होने से उसको इस आगन्तुक संकल्प का कर्त्ता कहा जाता है। वास्तव में वह संकल्प उसी का संकल्प है‡। जो पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसी ने तो सृष्टि विषयक संकल्प किया था। सुतरां सृष्टि विषयक यह संकल्प वा ज्ञान, 'आगन्तुक' होने पर भी यह वास्तविक पक्ष में उस पूर्ण ज्ञानसे अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है। किन्तु तथापि, इस आगन्तुक

---

*"चैतन्यस्य एकत्वेन नित्यत्वात् जगदभिन्नत्वेन तस्य 'अधिष्ठानत्वोपपत्तेः।

† सृष्टि विषयक श्रुतियां सर्वत्र ब्रह्मसत्ताकी अनुभूतिकी सहाय हैं। यह जगत् उस सत्ताका ज्ञान लाता है वह जगत् उस ब्रह्मका ही बोध कराता है,क्योंकि जगत्की तो स्वतन्त्र सत्ता है नहीं" कलानामध्यारोप आत्मप्रतिपत्त्यर्थम्"। आनन्दगिरि।

‡ यह संकल्प ज्ञान का विकार कहा जाता है। क्योंकि, यह पूर्णज्ञान की ही एक विशेष अवस्था एक आगन्तुक आलोचना है।

अवस्था को लक्ष्य करके ही उसे इस 'ज्ञान' का कर्त्ता कहा जाता है। इसी रीति पर निर्विशेष पुरुष-चैतन्य जगत् का कर्त्ता, जगत् का स्रष्टा कहा जाता है*। नहीं तो वह सर्वदा एक रूप होने से, निर्विशेष, नित्य निर्विकार है, उसका फिर अवस्थान्तर व विशेषत्व सम्भव होगा किस प्रकार †? तत्वदर्शी के निकट ब्रह्म-सत्ता सर्वदा ही एक रूप है। जगत् सृष्टि के पूर्व क्षण में, यह जो आगन्तुक अवस्था विशेष उपस्थित होता है, इससे भी ब्रह्मसत्ता कोई 'स्वतन्त्र, वस्तु नहीं हो पड़ती।

यह विशेष अवस्था ही-जगत् सृष्टि की पूर्वावस्था है। यही जगत् का उपादान है और यह ब्रह्मसत्ता की ही एक आगन्तुक अवस्था है। अतएव इससे वह 'स्वतन्त्र, है। किन्तु यह विशेष अवस्था जब कि उसकी ही एक अवस्था है, वही जबकि इस

* "नित्यस्यापि ज्ञानस्य ······ब्रह्मस्वरूपात् 'भेदं, कल्पयित्वा कार्यत्वोपचारात् ब्रह्मणस्तत्कर्तृत्वव्यपदेशः" ।-वेदान्तभाष्ये रत्नप्रभा। "ननु स्वाभाविकानित्यचैतन्येन कथं कादाचित्केक्षणं ?--सृष्टिकाले अभिव्यक्त्युन्मुखीभूतानभिव्यक्त नामरूपावच्छिन्नं सत्स्वरूपचैतन्यमेव आन्मुख्यकादाचित्कत्वात् कादाचित्कमीक्षणम्"--ऐतरेयभाष्ये ज्ञानामृतटीका।

† पाठकवर्ग इस स्थल पर एक बात अनुधावन करके देखें। जो निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता है, सृष्टि के प्राक्काल में उसकी एक विशेष अवस्था उपस्थित हुई, यह किस प्रकार स्वीकार किया जाय ? शंकर का उत्तर सुनिये-"तुम बात को उलट कर कहते हो। तत्वदर्शी की दृष्टि में अवस्थान्तर है कहां ? किसी भी अवस्थान्तर में ब्रह्म-सत्ता का रूपान्तर नहीं होता। जिसे अज्ञजन अवस्थान्तर कहकर एक स्वतन्त्र वस्तु मानते हैं, तत्वदर्शीगण जानते हैं कि, उस अवस्थान्तर में भी ब्रह्मसत्ता ठीक ही है। तत्वदर्शी का अनुभव यह है कि ब्रह्मसत्ता सर्वदा ही एक रूप रहती है सृष्टि के पूर्व में, सृष्टि के प्राक्काल में, और सृष्टि के परकाल में एवं सृष्टि के विनाश में-सर्वावस्था में ही ब्रह्मसत्ता एक रूप है। अवस्था का भेद-अज्ञ लोगों का कथन मात्र है। वे जिसे उत्पत्ति, विनाशशील जगत् कहते हैं, परमार्थदर्शी की दृष्टि में सो प्रतीति होती नहीं, जगत् में अनुप्रविष्ट ब्रह्मसत्ता का ही अनुभव करते हुए ज्ञानी जन जानते हैं कि वह सत्ता इस अवस्थान्तर द्वारा रूपान्तरित वा स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं बन पड़ती। पहिले जो सत्ता थी अबभी वही सत्ता बनी हुई है। यह जगत् उस सत्ता का ही परिचायक चिन्हमात्र है—उसी का ऐश्वर्यमात्र है, सुतरां स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं। शंकर का यही दिव्य ज्ञान है।

अवस्था विशेष में भी अनुप्रविष्ट है, तब यह अवस्थान्तर ब्रह्मसत्ता से यथार्थ में पृथक् कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। तत्वदर्शी महात्मा जन जानते हैं कि यह ब्रह्म-सत्ता व्यतीत अन्य कुछ नहीं, वह ब्रह्म-सत्ता ही है।

कई लोग * इस अवस्था विशेष को 'स्वतन्त्र, व स्वाधीन वस्तु ही मानते हैं एवं इसे 'प्रकृति, नाम से अभिहित करते हैं। एवं वे लोग प्रकृति को ही जगत् का उपादान–स्वाधीन उपादान कारण ठहराते हैं। उनके मत में पुरुष-चैतन्य से यह स्वतन्त्र, स्वाधीन वस्तु है, सुतरां यह प्रकृति ही जगत् की कर्त्री है, पुरुष चैतन्य केवल सुख दुःख का भोक्ता है †। किन्तु उनका ऐसा सिद्धान्त युक्ति संगत नहीं है प्रकृति को स्वाधीन वस्तु मानना ठीक नहीं। यह जब कि ब्रह्मसत्ता की ही एक आगन्तुक अवस्था मात्र है, तब प्रकृत पक्ष में वह स्वाधीन नहीं कही जा सकती। इस अवस्थान्तर ग्रहण के द्वारा ब्रह्मसत्ता के स्वातन्त्र्य की भी कोई क्षति नहीं होती क्योंकि यह कोई स्वतन्त्र वस्तु तो हो उठती नहीं। ब्रह्म का कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृति सभी कुछ इस आगन्तुक अवस्था के योग से ही सिद्ध हुआ करता है। स्वरूपतः, उसका कर्तृत्व नहीं, भोक्तृत्व भी नहीं है, वह सर्वदा ही एकरूप सर्वदा ही स्वतन्त्र रहता है। ऐसा होने पर पुरुष-चैतन्य को स्वरूपतः सुख-दुःख का भोक्ता मानना तथा प्रकृति को स्वाधीन कर्त्री समझना नितान्त ही भ्रमात्मक है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व-दोनों ही विकृत अवस्थाएं हैं। निर्विकार पुरुष-सत्ता में स्वरूपतः विकार आ ही नहीं सकता। इस आगन्तुक अवस्था विशेष को लक्ष्य करके ही केवल पुरुष चैतन्य को इस अवस्था विशेष का कर्ता व भोक्ता कहा जा सकता है ‡। स्वरूपतः न वह कर्ता है न भोक्ता है। वह निर्विशेष निर्विकार है। सम्राट् का नियुक्त सेनापति युद्ध में जयलाभ करता है, पर लोग सम्राट् को ही विजयी कहते हैं। किन्तु युद्ध में जय का कर्ता सेनापति से भिन्न अन्य कोई नहीं, सम्राट् तो गौण भाव से ही विजयकर्ता हैं। इस दृष्टांत के अनुसार यदि प्रकृति को ही जगत्

* इसके द्वारा 'सांख्य मत' कहा गया है।

† भोक्ता- सुख दुःख का अनुभवकारी।

‡ भोग का अर्थ क्या है? प्रकृति जब जीव के चित्ताकार से परिणत होती है, तब चित्त के एक प्रकार परिणाम योग से पुरुष सुख का भोग करता है, चित्त का अन्य प्रकार परिणाम होने से पुरुष दुःख भोग करता है। चित्त के परिणाम विशेष के द्वारा ही पुरुष का 'भोग, सिद्ध होता है। स्वरूपतः पुरुष में भोग सिद्ध नहीं हो सकता।

सृष्टि को ही मुख्य कर्त्री माना जाय एवं पुरुष का कर्तृत्व गौणमात्र माना जाय, किन्तु इस प्रकार विवेचना करना भी सुसङ्गत नहीं ? क्योंकि पूर्व में ही कह चुके हैं कि वास्तव में ब्रह्मसत्ता ही जगत् सृष्टि का कर्ता व कारण है । सुतरां जगत् सृष्टि व्यापार में ब्रह्म का ही मुख्य कर्तृत्व है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं ।

परिशेष में षोड़श-कला का विवरण प्रदान करके अपना वक्तव्य समाप्त करेंगे ।

सृष्टि के प्राक्काल में, निर्विशेष ब्रह्मसत्ता के इस जगत्-सृष्टि की आलोचना करने पर सर्व प्रथम सूक्ष्म रूप से प्राण की * अभिव्यक्ति होती है । यह प्राण क्रिया शक्ति और ज्ञानशक्ति रूप से † दो प्रकार का है । यह प्राण वा स्पन्दन ‡ करण रूप से और कार्यरूप से क्रिया करता रहता है । करणांश ही तेज आलोकादि रूप से एवं कार्यांश, जल व पृथिवी रूप से अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार

---

* सृष्टि के पूर्व क्षण में पूर्णशक्तिस्वरूप ब्रह्मसत्ता की जगत् रूप से अभिव्यक्ति होने की उन्मुखावस्था हुई थी । यह इस निर्विशेष सत्ता का ही एक विशेष आकार मात्र है । किन्तु यह विशेषाकार धारण करने से वह निर्विशेष ब्रह्मसत्ता कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं होगई । निर्विशेष सत्ता की इस विशेष अवस्था को 'अव्यक्त, 'प्राण, और 'मायाशक्ति, प्रभृति नामों से व्यवहार करते हैं । यही जगत् की पूर्वावस्था है, यही जगत् का उपादान है । यह उपादान ही सर्वप्रथम सूक्ष्म प्राण रूपसे-स्पन्दन रूपसे अभिव्यक्त होता है। यह सूक्ष्म स्पन्दन-करणाकार (Motion) और कार्याकार (Matter) से विकाशित होकर स्थूल होता है।

† प्राण व स्पन्दन को सांख्य शास्त्री 'महत्तत्व, एवं वेदान्ती 'हिरण्यगर्भ, नाम से कहते हैं । गर्भस्थ भ्रूण में, सर्व प्रथम प्राणशक्ति उद्भूत होती है एवं इन्द्रियादि गोलक निर्मित होने के साथ २ दर्शन श्रवणादि इन्द्रियशक्ति रूप से विकाशित होते हैं । इसलिये इसे ज्ञानशक्ति भी कहा जाता है । क्योंकि इसके द्वारा ही ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है । श्रुति ने इस ज्ञानशक्ति का 'श्रद्धा, शब्द से निर्देश किया है। "महत्तत्त्वं ह्येकमेव प्रकृतेरुत्पद्यमानं ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां बुद्धिप्राण-शब्दाभ्यां अभिलप्यते"—वेदान्तभाष्ये विज्ञानभिक्षु ॥ २·४ ११ ॥

‡ "कलानां हि रूपद्--आरोप्याधिष्ठानोभयात्मकं सत्यानृतमिलनरूपं । तत्र, आरोप्यस्य नामरूपात्मकस्य भेदे, अधिष्ठानात्मकरूप पुरुषात्मना उच्यते,,- आनन्दगिरि । सकल पदार्थों में अनुस्यूत ब्रह्मसत्ता ही एक मात्र 'सत्य, वस्तु है, नामरूपादि आकार असत्य उत्पत्ति विनाश शील हैं ।

कार्यांश से क्रमशः जीवकी देह व देहावयव एवं करणांश से इन्द्रिय बुद्धि प्रभृति की उत्पत्ति होती है। पञ्चस्थूलभूत ही इन्द्रिय प्रभृति के आधार हैं, स्थूल पञ्चभूत द्वारा गठित देह के आश्रय में ही इन्द्रिय, मन प्रभृति शक्तियां क्रिया करती हैं। प्राणी जो अन्नादि ग्रहण करता है, उसी से देह का पोषण होता एवं इन्द्रियादि की भी सामर्थ्य-वृद्धि होती है। भुक्त अन्न से शुक्र शोणित उत्पन्न होता है एवं शुक्र शोणित संयोग से ही जीव देह सुगठित होती है। इस भांति सब जीव सृष्ट होकर ऋग्वेदादि में उपदिष्ट मन्त्र द्वारा द्रव्यात्मक और भावनात्मक-उभयविध क्रिया के अनुष्ठान से इन सब क्रियाओं के फलस्वरूप नानाविध लोकों में, देह छोड़ कर गमन करते हैं एवं इन सकल भिन्न भिन्न लोकों में भिन्न भिन्न नामों से क्रमशः उन्नीत हुआ करते हैं। हम जानते हैं कि इस समय आप षोड़श कलायें कौन हैं, सो समझ गये होंगे। क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति के भेद से प्राण का स्पन्दन, पञ्चस्थूल भूत एवं इन्द्रिय और मन, ये नव कला हैं। प्राणियों का भोज्य व्रीहि, यवादि, "अन्न" और अन्न से उत्पन्न सामर्थ्य;-इनको एकादश कला कहते हैं। वैदिक मन्त्र, द्रव्यात्मक और भावनात्मक यज्ञ का नाम चतुर्दश कला है। यज्ञ के फल स्वरूप लोक एवं इन लोकों में जीवों के भिन्न भिन्न नाम,-सर्व शुद्ध ये ही षोडश कला हैं। इनकी ही 'षोडश कला, नाम से प्रसिद्धि है। जीवों के अविद्या-काम-कर्म-वशतः ये सब कला सृष्ट हुई हैं। पुरुष सत्ता से ही ये अभिव्यक्त हुई हैं। पुरुष स[त्ता] व्यतीत इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं अतएव ये 'असत्य, हैं। पुरुष सत्ता के आश्रय में ही ये अवस्थित रहती हैं।

समुद्रजल सूर्य-किरण द्वारा आकृष्ट होकर मेघाकार धारण करता है एवं मेघ से वह जल अभिवर्षित होकर गङ्गा, सिन्धु, यमुनादि नदी जलोंमें पतित होता है। उस समय उसे समुद्रजल नहीं कहा जासकता। तब तो गङ्गाजल यमुना जल ही कहाता है। इस अवस्थामें ये जल अवश्य ही समुद्र जलसे 'भिन्न,प्रतीत होते हैं, किन्तु स्वरूपतः ये सब जल समुद्र जलके सिवा अन्य कुछ नहीं। पश्चात् जब नदियां बहकर उस सागरमें गिरेंगी, तब फिर गङ्गादि नदियोंके जलोंकी भिन्नता न रहेगी, सब नदियोंके जल एक समुद्र जलके रूपमें ही परिणत हो जांयगे। यों ही कलाओं की बात भी समझ लें। विविध नाम रूपादि कलाओंको आत्म स्वरूप से भिन्न कहकर लोक में व्यवहार होता है। ये कलायें प्रकृत पक्ष में आत्मसत्ता से भिन्न नहीं हैं, तथापि लोग भिन्न रूप से ही व्यवहार करते हैं। यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर जब

अविद्या दूर हो जाती है, तब फिर इन नाम रूपादि कलाओंका आत्म स्वरूपसे भिन्न रूप में बोध नहीं होता। इस प्रकार कलाएं प्रलयकाल में, पुरुष सत्ता में विलीन होकर अवस्थान करती हैं।

रथचक्र की नाभि में जिस प्रकार उसके अरगण * निहित रहते हैं, आश्रय करके वर्तमान रहते हैं, उसी प्रकार प्राणादि कलाएं भी सृष्टि स्थिति प्रलयकाल में सभी अवस्थाओं में पुरुष-सत्ता के आश्रय में ही अवस्थान करतीं हैं। पुरुष-सत्ता ही इन की आत्मभूत है पुरुष-सत्ता ही इनके मध्य में अनुप्रविष्ट है इनमें किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह अभेद बुद्धि उदित होने पर, मृत्यु कोई भी व्यथा नहीं पहुंचा सकती। आप लोग इसी प्रकार अद्वैत तत्व की आलोचना तथा अनुभव करने में यत्न परायण होजावें"।

आचार्य देव ने इस रीति का उपदेश प्रदान कर उस दिन का कथन समाप्त कर दिया।

* नाभि Navel अरगण Shokes नाभौ नेम्याञ्च प्रोतास्तिर्यक् काष्ठ विशेषाः।

षष्ठ परिच्छेद ।

(प्रणव की व्याख्या)

आज महाशय सत्यकाम जी ने आचार्य श्री पिप्पलाद से जिज्ञासा की—

"भगवन् ! सुना है कि जीवों की शरीरान्त में जिन सब लोकों में गति हुआ करती है, उन लोकों की संख्या बहुत है बाह्य विषयवर्ग की चिन्ता न करके शब्द स्पर्शादि विषयों में चित्त को निमग्न न करके, नियत ब्रह्मचर्य अहिंसा और कपट शून्य व्यवहार, बाह्याभ्यन्तर पवित्रता बाह्य इन्द्रियों और अन्तरिन्द्रियों का यथायश संयम एवं आत्मतत्वगतावधान, चित्त की प्रसन्नता प्रभृति साधनों की सहायता से जो सब सज्जन एकान्त मन से ब्रह्म के वाचक व प्रकाशक ओम् शब्द में भक्तिके सहित ब्रह्म का आरोप करके प्रसन्नता करते हुए यावज्जीवन ध्यान परायण रहते हैं, ऐसे व्यक्तिगण यह जीवन समाप्त कर किस लोक में गमन करते हैं ? भगवन् ! जो लोग आत्मविषयिणी चिन्ता व्यतीत अन्य विषय की भावना चित्त में न लाकर निश्चल निर्वात दीप शिखा की भांति सुसमाहित चित्त से ब्रह्म, स्वरूप के प्रकाशक रूप से ओम् शब्द का ही निरन्तर जाप, मनन, ध्यान करते रहते हैं, वे किस प्रकार के लोक में गमन करने में समर्थ होते हैं दया करके हमें इस समय इसी विषय का उपदेश प्रदान करें" ।

भगवान् पिप्पलाद कहने लगे—

"हमने आप लोगों से उस दिन जो निर्विशेष ब्रह्म की बात कही है वही 'पर' ब्रह्म नाम से विख्यात है। और जो प्राण या हिरण्य गर्भ बतलाया है वही "अपर" ब्रह्म कहा जाता है। जो पूर्ण अनन्त ज्ञान व शक्तिस्वरूप है वही निर्विशेष निर्गुण सत्ता है वही "पर" ब्रह्म है *। और इस विश्व में जो सब गुणों व क्रियाओं की अभिव्यक्ति हुई है, इनकी बीजस्वरूपिणी 'अव्यक्त शक्ति' है, तत्सञ्चलित ब्रह्म चैतन्य ही-'अपर'-नाम से ब्रह्मविद् सम्प्रदाय में परिचित है। जो निर्विशेष सत्ता है, वह मन के अतीत है, सुतरां किसी अवलम्बन बिना, केवल चित्त द्वारा वह ध्यान के भी अतीत है †। जितने प्रकार के अभिव्यक्त-पदार्थ हैं, सभी किसी न किसी 'नाम,

---

* द्वितीय खण्ड की अवतरणिका देखना चाहिये ।

† शंकर अन्यत्र भी यह बात कहते हैं-"बाह्यविशेषेषु अनात्मसु आत्मभाविता बुद्धिरनालम्ब्य विशेषं कञ्चित् सहसा अन्तरतम-प्रत्यगात्मविषया निरालम्बना कर्तुमशक्या"-तैत्तिरीयभाष्य ।

वा किसी न किसी 'रूप, से परिचित हैं। और विश्व में जितने नाम हैं,-जितने प्रकार के शब्द हैं, उनके मध्य में ओम् शब्द ही-सर्वापेक्षा ब्रह्मस्वरूप का वाचक तथा प्रकाशक है। जितने प्रकार के अभिव्यक्त पदार्थ हैं, उनमें यह ओम् शब्द ही सर्वापेक्षा ब्रह्म का निकटवर्ती व अन्तरङ्ग है *। अतएव इस ओम् शब्द का अवलम्बन कर, इस शब्द में ही ब्रह्म के स्वरूप व सत्ता की भावना करते २, साधक के चित्त में ब्रह्मसत्ता स्वतः ही फूट पड़ती है †। इस भांति कार्य-पदार्थों-में कारण

*छान्दोग्य उपनिषद् में "लोकेषु साम उपासीत"-इत्यादि स्थलों में यही तत्व निर्दिशित हुआ है। वेदान्तदर्शन के "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्"-इस सूत्र में तथा अन्यान्य स्थलों में भी इसी की व्याख्या प्रदर्शित हुई है। वेदान्त में यही 'प्रतीकोपासना" नाम से विख्यात है। निकृष्ट वस्तु में उत्कृष्ट वस्तु का आरोप कर-कार्यवर्ग में कारण सत्ता का आरोप कर-भावना करते रहने से, क्रमशः वह निकृष्ट वस्तु तिरोहित हो कर, उसके बदले उत्कृष्ट वस्तु ही चित्त पर आती जाती है। इस उपासना का यही लक्ष्य है। अभिव्यक्त चन्द्र-सूर्यादि पदार्थों में ब्रह्मसत्ता की भावना उपदिष्ट हुई है। कारण-सत्ता ही कार्योंमें अनुस्यूत है, कार्योंकी स्वतन्त्र सत्ता कोई नहीं। सूर्यादि पदार्थों में कारण-सत्ता वा ब्रह्मसत्ता की भावना दृढ होने पर क्रम से सर्वत्र ब्रह्मसत्ता का ही सुदर्शन होने लगता है। ओंकारादि शब्दों और सूर्यादि में-ब्रह्मदृष्टि करने का यही फल है। किसी कार्य वस्तु का अवलम्ब लिये विना, साक्षात् रूप से, निर्विशेष ब्रह्मसत्ता की भावना नहीं हो सकती क्योंकि वह इन्द्रियों के अगोचर है। "ओंकारो ब्रह्मबुद्ध्या उपास्यमानो ब्रह्म-प्रतिपत्त्युपायो भवति"—मांडूक्यभाष्ये आनन्दगिरिः।

† मांडूक्यभाष्य में शङ्कर कहते हैं कि वाक्य मात्र ही ओंकार का विकार है सभी वाक्योंमें ओम् अनुप्रविष्ट है। "वागनुरक्तबुद्धिबोध्यत्वात् वाङ्मात्रं सर्वम्। वाग्जातञ्च सर्वमोङ्कारानुविद्धत्वात् ओङ्कारमात्रम्"। जितने कुछ पदार्थ हैं, सभी किसी न किसी शब्द के 'वाच्य, हैं। सुतरां शब्द ही पदार्थों के वाचक हैं। और सभी वाचक शब्द ओम् शब्द के ही विकार हैं। "यदिदमर्थजातं अभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्। अभिधानस्य च ओङ्काराव्यतिरेकात्"-मांडूक्यभाष्ये शङ्करः। जितने पदार्थ हैं, सब ही शब्द द्वारा प्रकाश्य हैं, सुतरां शब्द ही पदार्थ का स्वरूप है। और शब्दमात्र ही ओम् शब्द का विकार है, तो ओम् शब्द ही सब का स्वरूप सिद्ध हुआ-ओम् ही सब शब्दों में अनुगत होरहा है। तब भला ओङ्कार से पृथक् वस्तु कहां है? अतएव मानिये कि, ओम् शब्द ही ब्रह्म का नितान्त निकटवर्ती व अन्तरङ्ग है।

सत्ता की भावना या अनुसन्धान अभ्यस्त होते रहने से, अवशेष में निर्विशेष ब्रह्म सत्ता * स्वयं ही (अवलम्बन के बिना ही) प्रकाशित हो उठती है। इसलिये ही ओम् शब्द-यह अवलम्बन सर्वश्रेष्ठ अवलम्बन है।

ओंकार सकल अवलम्बनों की अपेक्षा क्यों श्रेष्ठतम है; सो कहते हैं सुनिये! ओम् की तीन मात्रा या अवयव हैं अकार उकार एवं मकार। कोई व्यक्ति यदि ओंकार की उक्त तीन मात्राओं को एक साथ ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता, तो भी वह निज साधन में अकृतकार्य नहीं होता। जो साधक ओंकार की सब मात्राओं का तत्व नहीं जानता, वा यदि केवल प्रथम मात्रा ओंकार में ही ब्रह्मदृष्टि करके भावना करने लगता है † तो देहांत में ऐसे साधक की अधोगति नहीं होती; वह मर्त्यलोक के श्रेष्ठ अधिवासी मानव कुल में जन्मग्रहण कर सकता है; इसे निकृष्ट जीव योनियोंमें नहीं गिरना पड़ता ऐसा साधक मनुष्य कुल में जन्म धारण कर, ब्रह्मचर्य,तपश्चर्या प्रभृतिके आचरण में पुनः प्रवृत्त होता है; इसकी फिर स्वेच्छाचार में प्रवृत्ति नहीं होती। नियत ब्रह्मभावना परायण होकर, ब्रह्मानुभव में ही निमग्न हो जाता है। प्रणव की पहली मात्रा-अकार, ऋग्वेद-रूपिणी है।

जो साधक ओङ्कार की दो मात्राओं से परिचित हैं एवं अकार और उकार इन दो मात्राओं का अवलम्बन कर, उभयमात्राविशिष्ट ओङ्कारमें एकाग्रचित्त से ‡ ब्रह्मसत्ता की भावना करते रहते हैं, ऐसे साधकों की चन्द्रलोक में गति होती है। शरीर छूटने पर, चन्द्रलोक में उन्नति होकर, वहां पर विविध ऐश्वर्यों का भोग कर

---

* सकल वस्तुओं में अनुस्यूत कारण-सत्ता-सविशेष सत्ता है। क्योंकि कारण सत्ता या उपादान ही तो कार्यों के आकार से परिणत होता है। सुतरां यह देशकाल में परिणत होने की योग्यता विशिष्ट है। किन्तु यह परिणामिनी कारण सत्ता-निर्विशेष ब्रह्मसत्ता की ही विशेष अवस्थामात्र है। इस कारण, यह निर्विशेष ब्रह्मसत्ता से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं।

† कतिपय पण्डित अर्थ करते हैं कि विराट् की सत्ता और आत्मसत्ता को एक करके उपासना करना ही इसका तात्पर्य है।

‡ मूल में है "मनसि सम्पन्ति"। दीपिकामें इसका अर्थ किया गया है-"एकाग्रतया चिन्तनम्"। कोई कोई अर्थ करते हैं कि हिरण्यगर्भ की सत्ता और आत्म-सत्ता एक है-ऐसी उपासना ही इसका तात्पर्य है।

अन्त में कर्मक्षय होने पर फिर मृत्युलोक में प्रविष्ट होते हैं। ओङ्कार की ये दो मात्रायें—अकार और उकार, यजु-रूपिणी हैं।

और जो उत्तम साधक ओङ्कार की तीनों मात्राओं यानी अकार, उकार तथा मकार को एकत्र * मिला कर, ओम् शब्द का उच्चारण करते हुए, आदित्यमण्डलस्थ सत्ता के सहित स्वीय आत्मसत्ता को एक व अभिन्न मान कर सतत ब्रह्मानुध्यानमें निमग्न रहते हैं; उन साधकों की सूर्यलोक में गति होती है। वहां से फिर उनको लौटना नहीं पड़ता। सर्प जैसे जीर्ण त्वक (केंचुल) परित्याग करके नवकलेवर में सुशोभित होता है वैसे ही वह श्रेष्ठ साधक भी चित्त की अशुद्धि परित्याग कर पवित्र होता हुआ, क्रमशः उन्नतसे भी उन्नततर लोकोंमें ब्रह्मैश्वर्य सन्दर्शन करता, करता ऊँचेसेऊँचे-अति ऊँचे ब्रह्मलोक को पहुंच कर ब्रह्मरूप हो जाता है। यही हिरण्यगर्भका लोक है। हिरण्यगर्भ—समस्त जीवों के सूक्ष्म शरीरों का समष्टि-स्वरूप हैं। इस सूक्ष्मबीज (कार्यात्मक और करणात्मक) से ही सब जीवों के इन्द्रियादि की उत्पत्ति हुआ करती है। इसलिये इसको "जीव-घन" शब्द से भी निर्देश करते हैं *। इस लोक में साधक, सर्व पदार्थों में अनुप्रविष्ट पूर्ण ब्रह्मसत्ता का अनुभव करके; अद्वैतामृतलाभ से कृतार्थ हो जाता है। प्रणव की तीन मात्रायें—अ×उ+म्, सामरूपिणी हैं।

कह चुके हैं कि, ओङ्कार-ब्रह्म-के स्वरूप का प्रकाशक है ओम् किस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप को प्रकाशित करता है, सो आगे कहा जाता है।

ओङ्कार की तीन मात्राओं वा पादों की चर्चा हो चुकी है। इस विश्व की भी तीन अवस्थायें हैं एवं विश्व के अधिष्ठाता पुरुष चैतन्य की भी तीन अवस्थायें हैं। ओङ्कारावलम्बन से ध्यान करते रहने से, ओङ्कार के ये तीन-पाद—विश्व और विश्व के अधिष्ठाता पुरुषके भी तीन पादों की बात को स्मृति पथमें जागरूक कर देते हैं। इसी प्रकार ओङ्कार, ब्रह्म के स्वरूप का परिचायक है। यह विश्व जब अव्यक्त रूप से-बीजरूप से-अवस्थित था, इस बीजशक्ति के साथ साथ जो ब्रह्मचैतन्य अवस्थित था, ब्रह्मचैतन्य की उसी अवस्था का नाम "ईश्वर" है। इसीको अन्तर्यामी, सर्वज्ञ कहते हैं। पीछे जब वह अव्यक्त बीजशक्ति—सूक्ष्म स्पन्दनरूप से अभिव्यक्त हुई, यही विश्व की सूक्ष्म अवस्था है। बीजावस्था से विश्व, प्रथम सूक्ष्मावस्था में उपस्थित हुआ। उस स्पन्दनशक्ति-सम्बलित चैतन्य को सूत्रात्मा वा हिरण्यगर्भ कहा जाता है। फिर जब यह सूक्ष्म स्पन्दन शक्ति, कार्य व करण आकार से स्थूल भाव धारण

* "सर्वे जीवा गीत्वचनान्ये सरहसुरसादय इव संहताः,, आनन्दगिरिः।

करके इस विश्व को गढ़ डालती है यही विश्व की स्थूल अवस्था है। विश्व के स्थूल कार्यवर्ग के सङ्ग संग जो चैतन्य अवस्थित है, उसी को "विराट्" बोलते हैं। जगत् की जो उपादान शक्ति है, उसकी अभिव्यक्ति या विकाश की ये तीन अवस्थायें हैं एवं इन तीन अवस्थाओं के अधिष्ठाता चैतन्य की भी तीन अवस्था हैं। इन तीन अवस्थाओं को लक्ष्य करके, एक चैतन्य की ही तीन संज्ञा-ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट्-कही जाती हैं *। समष्टिभाव से जगत् की ये तीन अवस्थायें विहित हुईं। ओङ्कार की जो तीन मात्रा हैं, उन तीन मात्राओं की भावना के समय, ब्रह्म चैतन्य की भी उक्त तीन अवस्थाओं का चित्तपट में अंकित हो उठना आवश्यक है। इसी रीति पर ओम् ब्रह्म का परिचायक है।

ब्रह्म चैतन्य की जो तीन अवस्थायें वर्णित हुईं, व्यष्टिभाव से जीव चैतन्य की भी तादृश तीन अवस्था हैं। ओंकार की भावना में, जीवचैतन्य की भी तीन अवस्थाओं की बात का स्मरण होना आवश्यक है। केवल यही नहीं। ब्रह्मचैतन्य की तीन अवस्था एवं जीवचैतन्य की तीन अवस्था,-ये सब एक एव अभिन्न हैं। इस तत्व को भी ओंकार स्मरण करा देता है। यह तत्व आपके सन्मुख और भी परिष्कार करके बतलाया जायगा। किन्तु पहिले जीवचैतन्य के अवस्थात्रय का विवरण सुन लीजिये।

जीव की जाग्रदवस्था एवं ब्रह्म का विराट्-रूप,-एकही है। जाग्रत् अवस्था में, इस विशाल विश्व के स्थूल कार्यवर्ग इन्द्रियों के सन्मुख विस्तारित रहते हैं। जाग्रत् अवस्था में जीव,-कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण प्रभृति द्वारा विषयों की उपलब्धि लाभ किया करता है। विराट् पुरुष भी, स्थूल विषयवर्ग व इन्द्रियादि के अधिष्ठाता रूप से अवस्थित है। जाग्रदवस्था चैतन्य का व्यष्टि-रूप है; विराट् अवस्था चैतन्य का समष्टि-रूप है। विराट् पुरुष का वर्णन सुनिये। आकाश, इस पुरुष का मस्तक है; सूर्य इसका चक्षु है; वायु इसका प्राण है; अन्तरिक्ष इसके शरीर का मध्य-अंश है; जल इसका वस्ति स्थानीय है एवं पृथिवी इस विराट् भगवान् का चरण है। अग्नि विराट् देव का मुख माना जाता है। विराट् पुरुष का विराट् शरीर इन सात अङ्गों द्वारा गठित है। सब जीवों की चक्षु-कर्णादि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय एवं वाक् शक्ति, ग्रहणशक्ति प्रभृति पञ्च कर्मेन्द्रिय, कर्म व ज्ञान इन्द्रियों में अनुस्यूत प्राणा-

* द्वितीय खंड की अवतरणिका के 'सृष्टि तत्व' में-इन तत्वोंकी विस्तृत आलोचना है। ओंकार के सम्बन्ध में भगवान् शङ्कर ने माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य में जो सब बातें कही हैं, उनको हमने इस अंश में ग्रथित कर दिया है।

पानादि पञ्च क्रिया शक्ति ; चित्त, मन और बुद्धिः—इन सबों के द्वारा उक्त विराट् पुरुष स्थूल विश्व की विषयोपलब्धि का कर्ता है * । विराट् पुरुष में जो सत्ता अनुस्यूत है, जीवचैतन्य भी उससे भिन्न नहीं । इस प्रकारका अनुभव करना कर्त्तव्य है। इस विराट् पुरुष का "वैश्वानर" नामसे भी निर्देश किया जाता है । जीव चैतन्यको 'विश्व' नाम से निर्देश करते हैं । जीव की स्वप्नावस्था एवं ब्रह्म की हिरण्यगर्भ अवस्था—एकही है । स्वप्नावस्था में स्थूल विषयवर्ग,चक्षु आदि बहिरिन्द्रियों द्वारा अनुभूत नहीं होते । स्वप्न अवस्था में जाग्रदवस्था के अनुरूप विषयवर्ग सूक्ष्म संस्काररूप से अनुभूत होते हैं। जाग्रदवस्था में विषयों के योग से मनका जो स्पन्दन होता है, उस स्पन्दन के अनुरूप संस्कार मनमें अंकित हो जाता है; स्वप्नावस्था में वही संस्कार जागरित हो उठता है। उस कालमें आत्मचैतन्य—मनके ऐसे संस्कारों का दर्शन करता है। स्वप्नावस्था की अनुभूतियाँ प्रायः अविकल जाग्रदवस्था की भाँति होती हैं; उस समय ये सूक्ष्म वासनाकार—स्मरणात्मक स्पन्दनाकार—से अनुभूति होती रहती है। व्यष्टि जीव—चैतन्य इसी प्रकार स्वप्न अनुभव करता है । इस अवस्था में जीव—चैतन्य का "तैजस" शब्द से निर्देश किया जाता है।

समष्टिभाव से इसका नाम 'हिरण्यगर्भ' है । सूक्ष्म स्पन्दन शक्ति के कार्याकार व करणाकार से † विकाशित होने पर, तत्सम्वलित चैतन्य को ही 'हिरण्यगर्भ', कहते हैं । सुतरां तैजस और हिरण्यगर्भ दोनों ही मूलतः एक स्पन्दन के ही अवस्थाभेदमात्र हैं । अतएव दोनों की सत्ता एक वा अभिन्न है । इसी प्रकार साध-

* विराट् की यह वर्णना माण्डूक्य भाष्य से ली गई है । श्रुति में यह उपदेश देखा जाता है कि, विराट् के एक एक अंग को लेकर अपने शरीर के एक एक अंग के साथ अभिन्न रूप से भावना कर्त्तव्य है । इस रूपकी भावना में अपने व्यष्टि शरीर के स्थान में विश्व रूप ही जागता रहता है । प्रथम खण्ड की 'वैश्वानर विद्या' देखनी चाहिये । बृहदारण्यक उपनिषद् के 'मधु ब्राह्मण' में भी हम आध्यात्मिक और आधिदैविक वस्तुओं का एकत्व देख पाते हैं । पृथिवी के मध्य जो अमृतमय पुरुषसत्ता (प्राणशक्ति) अनुस्यूत है, एवं अध्यात्मदेह में जो अमृतमय सत्ता (प्राणशक्ति) अनुप्रविष्ट है, दोनों एक हैं । इत्यादि प्रकार से दोनों का मौलिक एकत्व प्रकटित हुआ है ।

† कार्य Matter करण Motion कार्यांश ही—जल और पृथिवी आदि रूप से व्यक्त होता है एवं करणांश-तेज आलोकादि रूप से व्यक्त होताहै । प्राणीमें भी करणांश इन्द्रिय मन प्रभृति शक्ति रूप से व्यक्त होता है एवं कार्यांश देह व देहावयवों का गठन करता है । द्वितीय खंड का सृष्टितत्व देखो ।

करण अनुभव करते हैं और भी एक बात का ध्यान रखना चाहिये। स्थूल कार्यवर्ग जैसे सूक्ष्म स्पन्दनाकार में परिणत होकर विलीन होता है वैसेही विराट् रूपको हिरण्यगर्भ रूपमें लीन करके भावना करना उचित है। महाशय! अब आपको जीव की सुषुप्ति अवस्था का तत्व सुनाते हैं। जीव की सुषुप्ति अवस्था एवं ब्रह्म चैतन्य की "ईश्वरावस्था,, एकहै;सुषुप्ति कालमें किसी प्रकारकी स्थूल वा सूक्ष्म अनुभूतिनहीं रहती मनका स्थूल वैषयिक स्पन्दन वा सूक्ष्म वासनामय स्पन्दन कुछ भी नहीं रहता। मनके सब प्रकारके विज्ञान और क्रियाएं एकाकार होकर प्राणशक्ति में अव्यक्तभाव से अवस्थान करते हैं*। यही बीजावस्था है निद्रा से फिर जाग पड़ने पर इस बीज से ही-प्राणशक्ति से ही-पुनः समस्त संस्कार व इन्द्रिय क्रियाएं विकाशित हो जाती हैं। सुषुप्ति में मन विषयी व विषय के आकार से स्पन्दित नहीं होता। तब जीव-चैतन्य को 'प्राज्ञ, नाम से निर्देश करते हैं। क्योंकि उस समय यद्यपि किसी विशेष प्रकारकी अनुभूति नहीं रहती; तथापि निर्विशेष रूपसे साधारण ज्ञान रहता है। और एक साधारण आनन्दानुभूति भी रहती है। व्यष्टि रूप में जो 'प्राज्ञ, है, समष्टि रूपमें वही 'ईश्वर, वा 'अन्तर्यामी, है। बात समझा देते हैं, मनको भली भांति एकाग्र कर लीजिये, जगत् जब स्थूल व सूक्ष्म अवस्था परित्याग करके कारणावस्था ग्रहण करता है तब इस कारण शक्ति संम्वलित चैतन्य को ही "सद्‌ब्रह्म" वा कारणब्रह्म वा अन्तर्यामी कहा जाता है। † प्रलयकाल में यह जगत् शक्तिरूप से ही लीन हो जाता है ‡ इस शक्ति वा उपादान से ही पुनः सृष्टि समय जगत् अभिव्यक्त

* सुषुप्ति काल में प्राणशक्ति अव्यक्तभाव से अवस्थान करती है। उस समय प्राणकी क्रिया देश.काल.बद्ध होकर प्रकीर्णित नहीं होती। प्राण की क्रिया के ऊपर उस समय अभिमान अर्पित नहीं होता। इसीलिये तब प्राणशक्ति अव्यक्त रूपसे अवस्थान करती रहती है। माण्डूक्यभाष्य।

† जड़ जगत्-प्राणशक्ति वा कारणशक्ति से ही ऊर्णनाभ देह से सूत्र की भांति उत्पन्न होता है। और परमात्म चैतन्यसे जीव चैतन्य प्रादुर्भूत होता है जैसे अग्निसे स्फुलिङ्ग निकलते हैं "इतरान् सर्वभावान् पदार्थान् प्राणबीजात्मा जनयति यथोर्णनाभिः। पुरुषः विषयविलक्षणान् अग्निस्फुलिङ्गसलक्षणान् जीवलक्षणान्'''जनयति माण्डूक्यकारिकायाम् शङ्करः। १। ६।

‡ "प्रलीयमानमपि चेदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते" शक्तिमूलमेव च प्रभवति इतरथा आकस्मिकत्वप्रसंगात्-वे० भा० १। ३। ३० "इदमेव जगत् प्रागवस्थायाम्''''''बीजशक्त्यवस्थं अव्यक्त शब्द-योग्यम्" वे० भा० १। ४। २ "प्रलये सर्व कार्यकारण शक्तीनामवस्थानमभ्युपगन्तव्यं शक्तिलक्षणस्य नित्यत्वनिर्वाहाय"-कठभाष्ये आनन्दगिरिः।

होता है। इस कारण शक्ति को स्वीकार न करने पर जगत् की सृष्टि का कोई कारण निर्देश नहीं किया जा सकता था ऐसा होने से, जगत् शून्य से अभिव्यक्त हुआ यह भी कहनापड़ता। किन्तु शून्य वा असत् किसीका भी कारण नहीं होसकता* यह बीज माने विना जीव की मुक्तिभी असम्भव हो पड़ती है† इन सब कारणोंसे श्रुतियों में सर्वत्र जगत् की कारणशक्ति स्वीकृत हुई है एवं इस कारणशक्ति-युक्त ब्रह्म-चैतन्यको सर्वत्र 'प्राण-ब्रह्म' वा 'सद्ब्रह्म, कहा गया है ‡। सकल कार्य ही कारण रूप में लीन हो जाते हैं, पुनश्च इस कारण से ही अभिव्यक्त होते हैं। सुषुप्ति काल में जीव चैतन्य जैसे प्राणशक्ति युक्त रहता है, वैसे ही प्रलय में वा सृष्टि के प्राक्काल में ब्रह्मचैतन्य इस प्राणशक्ति से सम्बलित रहकर "सद्ब्रह्म" अन्तर्यामी वा ईश्वर नाम से निर्देशित हुआ करता है। अतएव जीवकी सुषुप्ति अवस्था एवं ब्रह्मचैतन्य की कारणावस्था-मूलतः एक है। इसी भावसे साधक भावना करते हैं। और भी एक वात लक्ष्य करने की है। स्थूल कार्यवर्ग,—सूक्ष्म स्पन्दनाकार में परिणत होकर लीन होते हैं; तैसे सूक्ष्म स्पन्दनभी कारणशक्ति में परिणत होकर अव्यक्त आकार धारण करता है। इस भाँति, विराट् को 'हिरण्यगर्भ, रूप में लीन करके भावना करनी चाहिये एवं हिरण्यगर्भ को अव्यक्त कारणसत्ता में लीन करके भा-

---

*"कार्येण हि लिङ्गेन कारणं ब्रह्म 'सत्' इत्यवगम्यते अन्यथा ग्रहणद्वारा भावात् ब्रह्मण "असत्व-प्रसंगः" माण्डूक्यकारिकाभाष्ये १।६। "आकाशादिकारणत्वात् ब्रह्मणो न नास्तिता"-तैत्तिरीयभाष्य २।६।२ "सदास्पदं हि सर्वम् सर्वत्र सद्बुद्धिअनुगमात्" गीताभाष्य १३।१५ "शशविषाणादेरसतः समुत्पत्त्यदर्शनादस्ति सद्रूपं वस्तु जगतो मूलं, तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणप्रवृत्तेरपि हेतुत्वात्"-रत्नप्रभा।

† क्योंकि यदि पुनरुत्पत्ति का कारणस्वरूप यह बीजशक्ति स्वीकार न की जाय तो यथार्थ ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञान द्वारा कौन बीज दग्धीभूत होकर मुक्त व्यक्ति का फिर पुनर्जन्म नहीं होगा? माण्डूक्यकारिका की भाष्यव्याख्या में टीकाकार आनन्दगिरि ने स्पष्ट कहा है कि जगत् के बीज स्वरूप 'अज्ञान, को मन का ही एक संस्कार न जानिये। यह अज्ञान कोई संस्कार वा Idea मात्र नहीं, यह जड़ जगत् का जड़ीय उपादान है इसीसे जगत् उत्पन्न होता है।

‡ "बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव 'प्राणशब्दत्वं सतः, 'सत्,-शब्द वाच्यता च।" "तस्मात् सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च 'कारणत्व,-व्यपदेशः' माण्डूक्यकारिकायाम् शंकरः। "ब्रह्मणः सल्लक्षणस्य प्राणत्वांगीकारात्,, आनन्दगिरिः।

बना करना कर्त्तव्य है। ओंकार की तीन मात्रा इसी प्रकार जीव चैतन्य एवं ब्रह्म-चैतन्य की तीन अवस्थाओं का परिचय प्रदान करती हैं एवं उभय चैतन्य की मध्य-गत सत्ता एक है,—यह भी प्रकाशित करती रहती हैं।* अतएव ओंकार ब्रह्म स्वरूप का प्रधान परिचायक है।

ओंकार की एक निगूढ़ चतुर्थ मात्रा है †। ब्रह्म चैतन्य का भी एक निर्विशेष पूर्ण स्वरूप है। यही निरुपाधिक स्वरूप है। यह उस अव्यक्त बीज से भी स्वतन्त्र है। यही ब्रह्म की "तुरीय" अवस्था नाम से प्रसिद्ध है। स्थूल कार्यवर्ग जैसे अव्यक्त कारण-सत्ता में विलीन होकर रहता है, वैसेही यह अव्यक्त कारण-सत्ता भी-निर्विशेष ब्रह्मसत्ता व्यतीत अन्य कुछ नहीं ‡। इस भाँति स्थूल कार्यवर्ग विलीन होजाकर एक पूर्ण अद्वैत तत्व ही सर्वदा जागरित रहता है। पूर्ण निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता सृष्टि के प्राक्काल में एक विशेष अवस्था में अभिव्यक्त होने के उन्मुख आकार को धारण करती है। यहां फिर प्रथम सूक्ष्मावस्था, पश्चात् स्थूल अवस्था धारण करती है। किन्तु यथार्थ तत्ववेत्ता के निकट, निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता सभी अवस्थाओं में एक रूप ही रहती है। घट, शरावादिक विशेष विशेष आकार धारण करने पर मृत्तिका की सत्ता में क्या कोई क्षति वृद्धि होती है? नहीं। सुतरां सकल अवस्थाओं के मध्य अनुप्रविष्ट सर्वदा ही एक रूप रहती है। इस जगत् विकाश के पूर्व में जो ब्रह्मसत्ता विद्यमान थी, विकाश के प्राक्काल में भी वही ब्रह्मसत्ता थी; जगत् जब स्थूल आकार धारण

---

* इसीलिये नियम है कि, ओंकार की स्थूल मात्रा 'अकार, को उकारमें, सूक्ष्म मात्रा 'उकार, को मकार में, एवं कारणीभूत 'मकार, को अन्त में कार्य-कारण के अतीत ब्रह्मसत्तामें लीन करके भावना की जाती है।

† ओंकार का नाद-विन्दु ही यह चतुर्थ मात्रा है। यही कार्य-कारण की अतीत अवस्था है। "कार्यकारणरूपतां विहाय सर्वकल्पनाधिष्ठानतया स्थितस्य सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मना चतुर्थपादत्वम्„ आनन्दगिरि।

‡ वास्तव में, अवस्था के भेद से वस्तुका भेद नहीं होता। यही तत्वदर्शी का अनुभव है। "न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वं भवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्"" तथा सति गर्भवासिन उत्तानशायिनश्च भेदप्रसंगः" वेदान्तभाष्य २।१।१८ निर्विशेष पूर्ण ब्रह्मसत्ता सृष्टिके प्राक्काल में जगदाकार धारण के उन्मुख होती है, परमार्थतः इस विशेष आकार द्वारा उस निर्विशेष सत्ता की कोई क्षति या रूपान्तर नहीं होता। इसीलिये वृहदारण्यक में ब्रह्म का रूपान्तर अस्वीकृत हुआ है। परमार्थ दृष्टिके अनुभव से ही यह निषेध है, यह बात पाठक मनमें रक्खें। यही सत्ता सर्वत्र अनुस्यूत है

कर दर्शन देता है तबभी वही ब्रह्मसत्ता विराजमान है। और जगत् जब इस स्थूल आकार को छोड़कर कारणाकार से ब्रह्म में विलीन हो जायगा, तब भी नित्य एक रस रहनेवाली भगवती ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों विद्यमान मिलेगी *। कार्य और कारणके इस सम्बन्धका तत्त्व भी ओङ्कार ही साधक के चित्त में उद्बुद्ध कर देता है। सुतरां ओम् के तुल्य अन्तरंग अवलम्बन (प्रतीक) और कौन है? कोई नहीं, कहीं नहीं। ब्रह्म-स्वरूप-ज्ञान के पक्ष में यही श्रेष्ठ अवलम्बन है। इस शैली से ओंकार की भावना से क्रम क्रम से तुरीय ब्रह्मतत्त्व में प्रवेश किया जा सकता है। महाशय! हमने आपके सन्मुख पर ब्रह्म के स्वरूप और उसके साधन की प्रणालीका उपदेश कर दिया। मनुष्यके लिये इस परब्रह्म के तत्व से भिन्न कोई विज्ञेय वस्तु नहीं है। सभी को परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अविद्यारूप महासागर के अपर पार में उत्तीर्ण होजाने के निमित्त,इसे ही एकमात्र उपाय जानिये। यह कहकर आचार्य पिप्पलाद मौन होगए।

सुकेशा सत्यकाम प्रभृति गृहस्थ महाशय, इस प्रकार आचार्य श्री के मुखारविन्द से परब्रह्म के सम्बन्ध में अमूल्य सदुपदेश लाभकर, अपने को कृतार्थ मानने लगे। और गुरुदेवसे वारम्वार प्रणाम पूर्वक कहने लगे, "भगवन्! आपने हमें मुक्ति का मार्ग बताकर,रोग दुःखादि ग्राह संकुल अविद्या रूप भीषण महासमुद्र पार कर जाने का सदुपाय सुना कर सर्वथा कृतार्थ कर दिया है। आप ही हमारे परमपूज्य पिता हैं। हम लोग आपके श्री चरणों में शरीर, मन और आत्मा को अतिश्रद्धा से समर्पित करते हैं"। ओम् तत्सत्

हमें इस बड़ी आख्यायिका में जो सब उपदेश मिले हैं उनकी एक संक्षिप्त तालिका इस स्थान पर दी जाती है—

१—हिरण्यगर्भ वा स्पन्दन ही इस विश्व का सूक्ष्म कारण बीज है।

२—यह स्पन्दन क्रिया करने के समय दो आकारों में विकाशित होता है एक अंश का नाम प्राण दूसरे अंश का नाम रयि है।

३—प्राण और रयि ही इस विश्व का स्थूल उपादान है।

क-प्राणांश से वायु, तेज, आलोकादि व्यक्त होते हैं।

ख-रयि अंश से जल और पृथिवी व्यक्त होती है।

---

* "यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं, न व्यभिचरति, एवं कार्यमपि जगत् त्रिषु काले 'सत्त्वं' न व्यभिचरति एकञ्च पुनः सत्त्वम्," वेदान्त भाष्य २। १। १६

ग। प्राणी राज्य में भी, प्राणांश से इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति व्यक्त होते हैं। एवं रयि अंश से प्राणी की देह और देहावयव व्यक्त होते हैं।

४—ऋग्वेद में यह प्राण और रयि नामक मिथुन ही "अग्नि" और "सोम" नाम से वर्णित है।

५—विश्व के प्रत्येक स्थूल पदार्थ के ही दो अंश हैं। एक अंश प्राण दूसरा अंश रयि है।

६—सकल स्थूल पदार्थों में अनुप्रविष्ट "कारण-सत्ता" या प्राणशक्ति का अनुसन्धान और भावना करना परम कर्तव्य है। इस कारण-सत्ता ब्रह्म-सत्ता से पृथक् स्वतन्त्र कोई भी वस्तु नहीं है।

७—प्राणशक्ति ही देह में पांच भागों में विभक्त रहती है मृत्युकाल में यह प्राणशक्ति ही जीव को स्वसंस्कारानुरूप लोक में ले जाती है।

८—जीव की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का वर्णन।

क-जाग्रत् अवस्थामें, स्थूल विषयों के योगसे प्रबुद्धादिन्द्रियादि द्वारा स्थूल विषयों की अनुभूति प्राप्त होती है।

ख-स्वप्नावस्था में केवल मात्र सूक्ष्म संस्कारमय अनुभूति अन्तःकरण में जागरित होती है।

ग-सुषुप्ति में समस्त विशेष विशेष सूक्ष्म संस्कार प्राणशक्ति में विलीन हो जाते हैं। उस समय केवल प्राणशक्ति निर्विशेष रूपसे जागरित रहती है।

९—पुरुष चैतन्य से ही प्राणशक्ति प्रकट होती है। प्राणशक्ति निर्विशेष पूर्ण ब्रह्म-सत्ता का ही आकार या अवस्था विशेष मात्र है। यह प्राणशक्ति ही 'षोड़श कला" रूप में परिणत होती है।

१०—षोड़श कला का विवरण,

११—प्रणव की व्याख्या। ब्रह्मका स्वरूप समझने के लिये प्रण वही सर्वप्रधान उपाय है।

१२—प्रणव और ब्रह्म का सादृश्य निर्द्धारण।

१३—मुक्ति की व्याख्या

चतुर्थ अध्याय ।

महीदास का आत्म-स्वरूप-कीर्तन ।
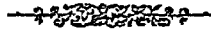
पूर्वकाल में इतरा के पुत्र महात्मा महीदास, आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है उसे समझने में पूर्ण समर्थ हुए थे । एक दिन ब्रह्मवेत्ता सज्जनों की सभामें बैठकर उन्होंने अपना अनुभव सबको भलीभांति सुनाया था. वह इस प्रकार है—

"वर्तमान में असंख्य नाम रूप विशिष्ट पदार्थ देखे जाते हैं । सृष्टि के पूर्व में ये सब नाम रूप इस भाव में नहीं थे । ये सब अव्यक्त भाव से आत्मसत्ता के मध्य में ही अवस्थित थे । सुतरां सृष्टि के पहिले केवल एक अद्वितीय आत्मा ही था अन्य कुछ क्रियाशील न था । वर्तमान में भी जब असंख्य नाम और रूप विशिष्ट विविध पदार्थ व्यक्त हुए हैं तब भी वह आत्मसत्ता ही अवस्थित है यह बात सत्य है किन्तु दोनों अवस्थाओं के मध्य में एक विशेषत्व है । जगत्-सृष्टि के पूर्व में ये नाम रूप अव्यक्त भाव में थे सुतरां उस समय केवल मात्र एक आत्म-शब्द द्वारा निर्देश करने से ही समझा जाता था । किन्तु जगत् सृष्टि के पश्चात् जब सब नाम रूप प्रकट हुए तब इस जगत् का ज्ञान केवल मात्र आत्म शब्द द्वारा निर्देश करने से ही नहीं होता, इस समय इस जगत् का निर्देश आत्म शब्द द्वारा एवं नाम रूपादि विविध भेदात्मक शब्दों द्वारा करना पड़ता है । आत्मसत्ता एवं नाम रूपादि असंख्य भेद इन दो प्रकारों से सम्प्रति जगत् का निर्देश किया जाता है । किन्तु सृष्टि के पूर्व में केवल एक आत्मसत्ता द्वाराही इस जगत्का निर्देश किया जा सकता था । क्योंकि उस समय एक आत्म सत्तामें ही नाम रूप गण अव्यक्त रूपसे विराजमान थे । समुद्रजल के दृष्टान्त द्वारा विषय स्पष्टता से समझ में आजायगा । समुद्र जल में फेन, वीचि, तरंग आदि उत्पन्न होनेके पहिले, समुद्र जलका एक जल शब्द द्वारा निर्देश करनेसे ही काम चलताहै । किन्तु जब जलमें फेन आदिका उद्भव होताहै, तब जल एवं फेनादियों उभय प्रकार से निर्देश करना पड़ता है । फेन, वीचि, तरंग-इत्यादि जल के पृथक् २ नाम और रूपहैं । इनके उत्पन्न होनेके पूर्व, समुद्रजल कहनेसे ही काम चलता था, किन्तु इन्होंने जब जल से स्वतंत्र नाम और रूप ग्रहण किया; तब सलिल शब्द

और फेनादि-शब्द दोनों बोलने पड़ते हैं। * सांख्यकी 'प्रकृति, जैसे 'अनात्म-पक्ष पातिनी, † है, स्वतन्त्र एक वस्तु है;-नैयायिकोंका 'परमाणु, जैसे स्वतंत्र स्वाधीन वस्तु है;-सृष्टि के पूर्व में उस प्रकार आत्म-सत्ता से स्वतन्त्र क्रिया शील कोई वस्तु नहीं थी। केवल मात्र अद्वितीय एक आत्म-सत्ता ही थी। सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अजर अद्वय आत्म-सत्ता मात्र उस काल में विद्यमान थी।

आत्म सत्ता उस समय सजातीय विजातीय और स्वगत भेद से शून्य रूपसे अवस्थान करती थी। वह अद्वितीय है चेतन आत्म-सत्ता के मध्य ऐसा कोई पदार्थ नहीं था, जिसके द्वारा उसमें स्वगत भेद हो सके। वृक्ष एक होने पर भी जैसे तद-न्तर्गत शाखा-प्रशाखादि द्वारा उसमें स्वगत भेद देखा जाता है, आत्मसत्ता में ता-दृश कोई भेद नहीं था। एवं उस अद्वितीय आत्मसत्ता के सिवाय अन्य कोई चेत-नान्तर भी नहीं था, जो उसके द्वारा उस में 'सजातीय, भेद आ सके। चेतन आत्म सत्ता से भिन्न कोई 'विजातीय, जड़ वस्तु भी उस काल में नहीं थी, अतएव उस समय उसके अद्वितीयत्व में कोई भी व्याघात नहीं था।

अब बात यह विचारणीय है कि सृष्टि के पूर्व में नामरूप तो अव्यक्तरूप से आत्म सत्ता में लुके ही थे। इससे ये उसमें बीजरूप से थे ही। बीजरूप से न होते तो ये सृष्टि में आते कहाँ से ? शून्य वा असत् से कोई वस्तु प्रादुर्भूत हो ही नहीं सकती। सुतरां इनका बीज स्वीकार करना पड़ता है। बस, इस बीजावस्था का ही नाम 'माया, है। ‡ किन्तु आत्म-सत्ता में यदि जड़ माया शक्ति की सत्ता स्वीकार कीजाय, तब तो आत्म-सत्ता की अद्वितीयता उड़ी जाती है। परन्तु एक बात है। मायाशक्तिकी निजी कोई 'स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते, आत्म-सत्तामें ही उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं ऐसी दशामें उसके कारण आत्म-सत्ता की अद्वितीयता की हानि क्योंकर मानी जाय ? जो अज्ञानी हैं वे ही नाम-रूप को स्वतन्त्र पदार्थ मान बैठते हैं किन्तु जो तत्वदर्शी हैं वे समझते हैं कि आत्म-सत्ता से पृथक् किसी भी तत्व की स्वतंत्र सत्ता नहीं हो सकती। मायाशक्ति कोई विजातीय पदार्थ नहीं माना जा

* पाठक भाष्यकार का तात्पर्य लक्ष्य करें। सृष्टिका अर्थ है आधिक्य। आत्मासत्ता एवं आत्म सत्ता के ऊपर और कुछ इसीका नाम है सृष्टि। सृष्टि के पहले केवल एक आत्मसत्ता थी। सृष्टि हुई तो उसमें कुछ नाम रूपों की अधिकता बढ़ गई।

† अनात्म पक्षपातिनी आत्मासत्तासे स्वतन्त्र स्वाधीन।

‡ प्रलये सर्वकार्यकरणशक्तीनामवस्थानमभ्युपगन्तव्यम्, शक्तित्वलक्षणस्य नित्यत्वनिर्वा हाय तासां समाहारो „मायातत्वम्„। कठभाष्य टीका।

सकता न सिद्ध किया जासकता है। क्योंकि माया रहते भी उस समय मायाकी कोई क्रिया नहीं थी। किन्तु कोई क्रिया न होते भी माया शक्ति तो थी हां, उसीसे ब्रह्मके अद्वितीयत्व की हानि होगई यदि इस प्रकार की शङ्का कीजाय तो इसका उत्तर यह है कि मायाकी अपनी कोई स्वतंत्र-सत्ता ही नहीं; आत्म-सत्ता में ही उसकी सत्ता है। वह आत्माकी ही शक्ति है; सुतरां वह आत्मा के ही अन्तर्भूत-आत्मपक्षपाती है शक्ति कदापि शक्तिमान् से स्वतन्त्र नहीं हो सकती। जिसकी निजी सत्ता है और अपनी कोई क्रिया भी है-वही स्वतन्त्र कहा जाता है। जगत् वा जगत् की उपादान शक्ति में कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, क्रिया भी नहीं; अतएव वह "असत्य" ही है यह ठीक है कि "वर्तमान" में जगत् आत्म-सत्ता से स्वतन्त्र ज्ञान पड़ता है वह आत्म-सत्ता से स्वाधीन नहीं-इस भांति का बोध सहसा उदित नहीं होता। किन्तु जब यह नाम-रूप की अभिव्यक्ति नहीं थी, सृष्टि के पहले जिस समय नाम रूप बीजाकार से आत्म-सत्ता में ही लीन थे;—उस समय केवल अकेली आत्म सत्ता ही थी, ऐसा ज्ञान तो सहज में ही उपलब्ध होता है। एवं सृष्टि के पूर्व काल सम्बन्धी इस ज्ञान से वर्त्तमान में भी वह आत्म-सत्ता ही है-ईदृश बोध भी सहज-प्राप्य हो पड़ता है। इसी लिये, सृष्टिके पूर्वकाल में केवल आत्म-सत्ता ही थी,-इस प्रकार निर्देश किया गया है *

कार्य की पूर्वावस्था—असत् वा अलीक नहीं हो सकती। कार्य की जो पूर्वावस्था है वह निश्चय ही 'सत्, है। सद्वस्तु से ही कार्यवर्ग अभिव्यक्त होता है। यह सत् वस्तु ही कार्य का कारण वा उपादान है। इस उपादान का आत्म-सत्ता से भिन्न कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। तत्त्वदर्शी की दृष्टि में, यह आत्म-सत्ता से 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं,—यह आत्म-सत्ता ही है; यह सत् ब्रह्म वस्तु है। सुतरां ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण है। अचेतन जड़ उपादान कभी भी स्वतन्त्र स्वाधीन भाव से क्रिया नहीं कर सकता; इससे ब्रह्म-सत्ता को उसका अधिष्ठान कहा जाता है। इस अधिष्ठान की सत्ता में ही उसकी सत्ता एवं अधिष्ठान की क्रिया में ही उसकी क्रिया है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता तथा स्वतन्त्र क्रिया न रहने से, अधिष्ठान-सत्ता को ही उपादान—सत्ता कहा गया है † इस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्,

* ये सब बातें टीकाकार ज्ञानामृत यति के लेख से गृहीत हुई हैं।

† महात्मा ज्ञानामृत यति की इन उक्तियों से पाठक निश्चय करें कि, वेदान्त मत में जगत् की उपादान शक्ति अस्वीकृत नहीं हुई। शङ्कर प्रकृति-शक्ति को स्वीकार

नित्य, ब्रह्मवस्तु ने सृष्टि के पूर्वक्षण में सृष्टि विषयक आलोचना की थी *। किन्तु कुम्भकार जैसे मृत्तिका, जल प्रभृति उपादान द्वारा कुम्भ निर्माण करता है, ब्रह्मवस्तु के निकट उस समय तादृश कोई उपादान तो था नहीं। तब ब्रह्म ने किसके द्वारा जगत् की सृष्टि की? उस काल में आत्मसत्ता व्यतीत अन्य कोई स्वतन्त्र वस्तु तो थी नहीं, तब क्योंकर किसके द्वारा जगत् सृष्ट हुआ?

जगत् का कार्य वर्ग मात्र ही विकारी परिणामी है। इस विकार वर्ग के कारण रूप से एक परिणामी उपादान अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है। आत्मा तो निर्विकार, निरवयव है। आत्मा तो वैसा उपादान भी हो नहीं सकता, परिणामी कार्यवर्ग का उपादान भी परिणामी होना चाहिये, यह अङ्गीकार कर

करते हैं। किन्तु उसे स्वतन्त्र नहीं मानते। वेदान्तभाष्य में [१। २। २२] वे स्पष्ट कहते हैं कि, "हम प्रधान को (प्रकृति को) कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं समझते। हमारी प्रकृति वा 'अव्याकृत-शक्ति, आत्म सत्ता से 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं। 'भूत सूक्ष्म, नाम से भी यह अभिहित होती है"; इस लिये, यद्यपि प्रकृति ही जगत् का उपादान है; तथापि तत्वदर्शी की दृष्टि में ब्रह्म ही जगत्‌का उपादान होता है। आत्म सत्ता में ही प्रकृति की सत्ता है; अतएव प्रकृति'असत्य, है। जिसकी निजी सत्ता ही नहीं वह वस्तु अवश्य ही असत्य है। इस प्रकार के अर्थ में ही प्रकृति 'असत्य, कही जाती है। अलीक कहकर वह उड़ाई नहीं जाती! ज्ञानामृतने कहा है कि,-"वर्त्तमान में नाम-रूपों को मिथ्या नहीं कहा जाता, क्योंकि, वे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। प्रत्यक्ष का अपलाप सम्भव नहीं। सृष्टि के पूर्वमें जब ये इस भावमें नहीं थे; तब ही मिथ्या थे। ये सृष्टि में आनेसे आगन्तुक, कादाचित्क क्षणिक हैं। प्रलयमें भी अन्यरूप धारण करेंगे। आगन्तुक होने से ये अवश्य ही असत्य, मिथ्या हैं इस भाव से ही वर्त्तमान में ये मिथ्या कहे जाते हैं। पाठक, ज्ञानामृत का तात्पर्य अनुभव करें। जगत् अस्थिर, नियत परिवर्तन शील, सर्वदा रूपान्तर ग्रहण करता है-इससे असत्य है। किन्तु ब्रह्म-सत्ता चिर-नित्य, स्थिर, अपरिवर्तनीय है अतएव ब्रह्म ही सत्य है।

* सृष्टि विषयक आलोचना श्रुतिमें-'ईक्षण, 'तप, 'संकल्प, प्रभृति संज्ञा द्वारा निर्दिष्ट हुई है। जो नित्य, अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, उसमें सृष्टि के समय एक आगन्तुक आलोचना (ज्ञान का विकार) आई किस प्रकार? यह एक गुरुतर प्रश्न है। परन्तु शङ्करभाष्य एवं शङ्करभाष्य के टीकाकारों के मन्तव्य में, इस शङ्का का समाधान किया गया है। "ननु स्वाभाविकेन नित्यचैतन्येन कथं कदाचित्कमीक्षणमिति?

लेने से, नाम रूप का बीजभूत अव्यक्त उपादान वा शक्ति माया या प्रकृति अङ्गीकार करनी पड़ती है। किन्तु यह आत्म सत्ता-से सत् ब्रह्म वस्तु से-कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं। आत्म सत्ता में ही इसकी सत्ता है यह आत्मभूत आत्म शब्द द्वारा ही निर्दिष्ट है *। तात्पर्य यह कि, इस आत्मभूत, आत्म सत्तासे अ-स्वतन्त्र अव्यक्त उपादान के योग से सर्वज्ञ ब्रह्म चैतन्य ने जगत् का निर्माण किया है। यह उपादान शक्ति आत्मसत्ता के ही अन्तर्भूत है, आत्म शब्द वाच्य है आत्मसत्ता से पृथक् स्वाधीन कोई पदार्थ नहीं। यह आत्म सत्ता ही है। सुतरां आत्म सत्ता ही विविध नाम रूपादि विशिष्ट जगदाकार से अभिव्यक्त हुई है।

अत्र केचित् सर्गादौ प्राणिकर्मभिरेका सृज्याकारा अविद्यावृत्तिरुत्पद्यते-तस्यामात्मचैतन्यं प्रतिबिम्बते तदेव ईक्षणम्। अपरे तु सृष्टिकाले अभिव्यक्त्युन्मुखीभूतामभिव्यक्तिनामरूपावच्छिन्नं सत्स्वरूपचैतन्यमेव औन्मुख्यकादाचित्कत्वात् कादाचित्कमीक्षणम् इत्याहुः" ज्ञानामृत। जो निर्विशेष ब्रह्मसत्ता है, सृष्टि काल में उस सत्ता का ही एक आगन्तुक अवस्थान्तर-सृष्टि होने की उन्मुखावस्था-हुई। इसका नाम 'ईक्षण' है। किन्तु तत्वज्ञ व्यक्तिगण जानते हैं कि इस अवस्थान्तर ग्रहण द्वारा ब्रह्मसत्ता कोई नवीन स्वतन्त्र वस्तु नहीं बन गई। यह अवस्थान्तर ही मायाशक्ति है।

* "वियदादेः परिणामित्वमङ्गीकृत्य तत्र अनभिव्यक्तनामरूपावस्थं बीजभूतमव्याकृतं······माया······प्रकृति······परिणाम्युपादानमस्तीति आह नैष दोष इति। ज्ञानामृत।

नामरूप आगन्तुक आकार मात्र हैं। आत्मसत्ताको अवलम्बन करके कितने ही नाम रूप आए हैं। ये नियत परिवर्तन शील हैं सृष्टि के पूर्व में ये इस रूप में नहीं थे, तब अव्यक्त बीजरूप में थे तब अव्यक्त बीजरूप में थे। सृष्टि में भी ये नित्य नये आकार धरते हैं नियत रूपान्तर ग्रहण करते हैं और परिवर्तित होते हैं। फिर प्रलयमें भी इनके ये आकार नहीं रहेंगे। अतएव नाम रूपात्मक आकार असत्य हैं। किन्तु ये जिस सत्ता की अभिव्यक्ति हैं जिस सत्ता के आश्रय में स्थित हैं। वह सत्ता नित्य है। यही ब्रह्मसत्ता है। नाम रूप जब सृष्टि के प्रथम बीज रूप में थे, तब भी ब्रह्मसत्ता थी, नाम रूप जब व्यक्त होकर जगदाकार में हैं तब भी ब्रह्म सत्ता है, जब नामरूप प्रलय में बीजभाव धारण करेंगे, तब भी ब्रह्मसत्ता रहेगी। ब्रह्म चिर सत्य है और नाम रूपात्मक जगत् सर्वदा असत्य है। उक्त बीजाकार ही जग का उपादान है और ब्रह्मसत्ता में ही उसकी सत्ता है।

यह अव्यक्तशक्ति वा मायाशक्ति सर्व प्रथम सूक्ष्म प्राण स्पन्दन रूप में अभिव्यक्त होती है । इसी की प्रजापति व हिरण्यगर्भ व प्राणब्रह्म नाम से प्रसिद्धि है * । इसी प्रजापति से-प्राणस्पन्दन से-यह स्थूल जगत् विकाशित हुआ है ।

जीवों के भोग निमित्त ही, यह जगत् सृष्ट हुआ है । भोग होने के लिये,भोग का स्थान, भोग का उपकरण, भोग्य वस्तु एवं भोक्ता चेतन जीव की आवश्यकता है इसलिये प्राणस्पन्दनसे भोगकी भूमि वा स्थान रूपसे चतुर्विध "लोक" उत्पन्न होते हैं । अम्भः, मरीचि, मर एवं आप नामसे चतुर्विध लोक वा स्थान पहले व्यक्त हुए थे सृष्टिकी आदिमें'अम्भ'वा विपुल लघु तरल वाष्पराशि † अभिव्यक्त हुई थी । इस वाष्प राशिके आकाशमें आवर्तित होते रहनेपर उसके एक अंशसे चन्द्रसूर्यादि ज्योतिष्क मण्डलोका आश्रय स्वरूप 'मरीचि वा अन्तरिक्ष लोक विकाशित हुआ; एवं अपर अंश से स्थूल जल वा'अप, एवं वही घनीभूत होकर'मर-लोक वा पृथिवी अभिव्यक्त हुई । ‡

भोगभूमि के विनिर्मित होने पर भोग के उपकरण-स्वरूप-चन्द्र-सूर्यादि आधिदैविक पदार्थ उत्पन्न हुए । एवं क्रमःक्रमसे चक्षु-कर्णादि आध्यात्मिक इन्द्रियवर्ग भी उत्पन्न हो गया । चक्षु-कर्णादि इन्द्रियां एवं इन्द्रियों के अधिष्ठाता सूर्यचन्द्रादि आधिदैविक पदार्थवर्ग-येही भोगके उपकरण हैं। प्राणस्पन्दनसे ही सर्वप्रथम वायु, तेज, आलोकादि व्यक्त होकर सूर्य चंद्र, अग्नि आदि ज्योतिष्मान् पदार्थ समूह अभिव्यक्त हुए हैं । वायु तेज आलोकादि शक्ति ही फिर प्राणी देहकी अभिव्यक्ति के साथ २ चक्षु कर्णादि इन्द्रियशक्ति रूपसे अभिव्यक्त हुई है जीव उक्त चक्षु कर्णादि इन्द्रियों द्वारा ही विषय भोग में समर्थ होता है सुतरां ये ही भोगके साधन हैं ।

आधिदैविक सूर्य चन्द्र वायु अग्नि प्रभृति पदार्थों को प्रजापति के अंगरूप से कल्पित कर सकते हैं । क्यों कि अंगी की सत्ता में ही जिस प्रकार सब अंगों की

---

* हिरण्यगर्भ की अभिव्यक्ति का विस्तृत विवरण द्वितीयखण्ड की अवतरणिका के सृष्टितत्व में प्रदर्शित हुआ है ।

† यह वाष्पराशि ऋग्वेद में समुद्र नाम से वर्णित हुई है । यही पाश्चात्य पण्डितों की है Nebwlons theory

‡ स्पन्दन स्थूलाकार में विकाशित होते ही-'कारणरूप से Motion एवं 'कार्यरूप,से Matter विकाशित होता है । वेदमें यही प्राण और रयि नाम से परिचित है ।Motion घनीभूत होकर वायु तेज आलोकादि रूप से व्यक्त होता है ।Matter साथ साथ सघन होकर जल (तरल) और फिर पृथिवी (कठिन) रूप से विकाशित होता है ।

सत्ता रहती है उसी प्रकार प्राणस्पन्दन व्यतीत सूर्य चन्द्रादि पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं ठहर सकती। * इसी लिये इनका विराट् पुरुष के अँगरूप से वर्णन सङ्गत माना जाता है। अग्नि उस प्रजापति वा विराट् पुरुषका वाणी रूप है। वायु उसका निःश्वास-प्रश्वास (नासिका) है। सूर्य-उसका नेत्र स्वरूप है। दिक् (आकाश) उसकी श्रवणेन्द्रिय है। ओषधिवर्ग उसकी त्वक् वा स्पर्शेन्द्रिय स्वरूप है। चन्द्रमा उसका मन और जल उसका रेत है।

इस प्रकार, प्राण-स्पन्दन से, उस प्राण के ही अंग रूप से, सूर्यचन्द्रादि आधिदैविक पदार्थों का विकाश हुआ है। इन आधिदैविक पदार्थों को प्रजापति जी ने विषय-तृष्णा-विशिष्ट † बना कर ही उत्पन्न किया है। जो पदार्थ जिसके ऊपर क्रिया करेगा, उत्पत्ति के समय से ही सो निर्दिष्ट जानना चाहिये। सूर्यादि पदार्थ इन्द्रियवर्ग के ऊपर ही क्रिया करते हैं, इस लिये प्राणी शरीर उत्पन्न होने से, ये चक्षु आदि इन्द्रियों पर क्रिया करने लगे। चक्षु आदि इन्द्रियां भी इनकी सहायता पाकर निज निज विषय के ग्रहण में योग्य हो गईं ‡।

सूर्य (आलोक) चक्षु इन्द्रिय की सहायता न करे, तो चक्षु कदापि रूप दर्शन में समर्थ नहीं हो सकती। अग्नि की सहायता पाये विना, वाक्शक्ति वाक्य-उच्चारण नहीं कर सकती। दिशाएँ अवकाश प्रदान न करें, तो कर्ण कभी भी शब्द सुनने में समर्थ नहीं होसकता। इस प्रकार आधिदैविक पदार्थ आध्यात्मिक इन्द्रिय वर्गका उपकार साधन करते रहते हैं एवं इसी प्रकार जीवका भोग सिद्ध होता है ×।

---

* मूल में यही बात अन्य भांति वर्णित हुई हैं। मूल में है 'प्रजापति का मुख फूटा, मुख से वाक्य एवं वाक्य से अग्नि का जन्म हुआ ?। प्रजापति का चक्षु खुल गया, चक्षु से दर्शन-इन्द्रिय एवं दर्शन इन्द्रिय से सूर्य उत्पन्न हुआ, – इत्यादि।

† मूल में 'अशना-पिपासा„ शब्द व्यवहृत हुए हैं। सायणदीपिका में इसका अर्थ 'विषय लोलता„ किया गया है।

‡ मूल में इसीका यों वर्णन है, 'सूर्य ने दर्शनेन्द्रिय रूप से चक्षु में प्रवेश किया'। 'अग्नि ने वाणीरूप से मुख में प्रवेश किया, इत्यादि। टीकाकार कहते हैं„ ' सूर्यचन्द्रादि अपरिच्छिन्न विश्वव्यापक शक्ति हैं। सुतरां व्यष्टिदेह में परिच्छिन्न रूप से प्रवेश किये विना, विषय भोग करेंगे किस प्रकार' ?

× मूल में यही बात कुछ भिन्न रूप से देखिये। सूर्य-चन्द्रादिक देवताओं ने प्रजापति से निवेदन किया कि, हमें भोग के लिये देह दीजिये। विराट् देह सर्व-

इस भांति 'भोग-साधन, इन्द्रियादि की उत्पत्ति हुई है । इसी भांति प्राणस्पन्दन से ही 'भोग्य, वस्तुएँ भी उत्पन्न हुई हैं। स्पन्दनका जो कार्यांश या रयि अंश है। वही क्रमशः घनीभूत-कठिन होकर स्थूल व्रीहि यवादि अन्न वस्तु से उत्पन्न होता है। इस अन्नको ग्रहण करके ही जीव जीता रहता है प्राणीदेह के भीतर भुक्त अन्न परिपक्व होकर, देहस्थ इन्द्रियों की पुष्टि करता है। अन्यथा इन्द्रियादि शक्ति कार्यक्षम नहीं हो सकती। देहमध्यस्थ 'अपान, वायु द्वारा अन्न परिपक्व हुआ करता है। * अपान वृत्ति-देहमध्यस्थ प्राणशक्ति का ही कार्यभेद मात्र है। प्राण-

व्यापक, अपरिच्छिन्न है; उसमें विषय भोग होना असंभव है। देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर प्रजापति ने पहिले गौ, अश्व प्रभृति इतर प्राणी देह दिये। किन्तु देवता बोले कि, ये सब देहें असम्पूर्ण हैं; इन योनियों में प्रवेशकर हम पूरा विषय भोग न कर पावेंगे। तब प्रजापति ने मनुष्य देह दिया। जिसे देखकर देवता आल्हादित हो गये। एवं प्रसन्नचित्त होकर उसमें चक्षुकर्णादि इन्द्रियरूप से घुस पड़े। प्रिय पाठक इस कथा का तात्पर्य देखें। इससे हम दोबातें पाते हैं। पहली यह कि, जिस शक्ति से सूर्य, चन्द्रादि आधिदैविक शक्तियाँ व्यक्त हुई है; उसी से इन्द्रियादि शक्तियां प्रकट हुई हैं। दूसरी यह कि मनुष्य की उत्पत्ति के पहले अन्य प्राणी उत्पन्न हुए थे एव उन प्राणियों में जो इन्द्रियां अभिव्यक्त हुईं, वे अधूरी हैं—विषय भोग के पूर्ण योग्य नहीं। केवल मनुष्य शरीर में ही इन्द्रियां अपेक्षाकृत सम्पूर्णरूप में प्रकट हुई हैं। विषय भोग के पूर्ण उपयोगी मनुष्य की ही इन्द्रियां है।

विश्वव्यापिनी प्राणशक्ति ही—तेज, प्रकाशादि रूप से विश्व को व्याप्त कर वर्तमान है ? प्राणीदेह में भी सर्व प्रथम प्राणशक्ति ही अभिव्यक्त होती हैं एवं वही क्रमशः चक्षुकर्णादि इन्द्रियरूप से विकाशित होती है। अर्थात् बाहर और भीतर एक ही शक्ति है। मृत्यु के समय दैहिक परिच्छिन्न प्राणवायु—आधिदैविक अपरिच्छिन्न प्राणशक्ति में लीन हो जाती है। चक्षुकर्णादि परिच्छिन्न शक्तियां-सूर्य आकाश प्रभृति अपरिच्छिन्न शक्ति में लीन हो जाती हैं। इसलिये श्रुति में सूर्य चन्द्रादि का इन्द्रियवर्ग के रूपसे देह में प्रवेश करना लिखा है।

* यह तत्व भी मूल में भिन्न भाँति से उपदिष्ट हुआ है। मूलमें है कि प्रजापति कर्तृक 'अन्न, निर्मित होकर पलायन करने लगा। और उसको पकड़ने के लिये चक्षु, कर्ण घ्राणेन्द्रिय, जिह्वा प्रभृति इन्द्रियाँ एक २ कर उसके पीछे दौड़ चलीं। किन्तु कोई भी इंद्रिय उसे पकड़ न सकी। अन्त में अपान वायु ने मुखछिद्र द्वारा बहिर्गत होकर अन्नको धर लिया। तब अन्नने जठर में प्रवेश किया। पाठक ! देखेंगे इस कथा का अभिप्राय यही है कि, भुक्त अन्न-पानादि जठर में पके विना इंद्रियों का सामर्थ्य नहीं बढ़ा सकता। अपान वायु का [क्रिया का] जठर में स्थान है। इसीलिये प्राणको—'अन्नायु, [अन्न-बन्धन] कहा जाता है। जो वायु नासिका और मुखछिद्र द्वारा देहमध्य में प्रवेश करता है, वही अपान है। अतएव अन्न ग्रहण-कार्य श्वास वृत्ति-विशिष्ट प्राण का ही धर्म है।

शक्ति ही शरीर में पांच भागों में विभक्त होकर अवस्थित है * ।

यों एक प्राणस्पन्दन से आधिदैविक पदार्थ एवं भोग के साधन स्वरूप आध्यात्मिक इन्द्रियवर्ग के भोग अन्नादि विषयवर्ग उत्पन्न हुए हैं । अब 'भोक्ता' जीवात्मा के प्रवेश की बात कही जायगी । भोक्ता जीव के बिना देह और इन्द्रियादि कोई भी क्रियाशील नहीं हो सकता । प्राणशक्ति के विविध इन्द्रिय रूप से क्रिया करते रहने पर साथ २ चैतन्यकी अभिव्यक्ति प्रतीत हुआ करती है † । यह अखण्ड चैतन्य ही, इन्द्रियवर्ग का अधिष्ठान है, यही इन्द्रियों का प्रेरक है, यही इन्द्रियों के विविध विज्ञानों के-साक्षी रूप से, द्रष्टारूप से विराजमान रहता है । इसके होने से ही इन्द्रियां अपने २ विषय में धावित हो सकती हैं । जो सावयव है, जो जड़ है, वह जड़वर्ग से भिन्न स्वतन्त्र चेतन का प्रयोजन सिद्ध करता है एवं उसी के प्रयोजन साधनार्थ सम्मिलित भाव से काम करता रहता है । आत्म-चैतन्य ही स्वप्रयोजनार्थ, चक्षु आदि इन्द्रियोंको प्रेरित करता है, नतु वा ये क्रियाशील नहीं होसकतीं वह सबका प्रेरक है, वह सब विज्ञानों का विज्ञाता है एवं वही ज्ञानस्वरूप है ‡ ।

---

* इसी ग्रन्थ में आचार्य पिप्पलाद का 'शक्ति का एकत्व-प्रतिपादन देखो ।

† मूल में है कि, भोक्ता पुरुष ने मस्तक का मध्यभाग विदीर्ण कर देह में प्रवेश किया । यह भोक्ता पुरुष ही देहपुरी का राजा है । सब इन्द्रियां इसकी सेवा में ही विषय विज्ञानरूप उपहार उपस्थित करती हैं । इसीके लिये इन्द्रियां क्रियाशील हैं । इसी के प्रयोजन साधन के उद्देश्य से इन्द्रियां परस्पर मिल रही हैं ।

‡ टीकाकार ज्ञानामृत यति का भी मन्तव्य सुन लीजिये । आत्मा ही ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप कहा जाता है । ज्ञाता ज्ञानस्वरूप न कहा जाय, तो किस ज्ञान का वह ज्ञाता होगा ? तब तो अन्य किसी स्वतन्त्र ज्ञान का उसे ज्ञाता कहा जायगा । किन्तु वैसा होने से, कर्त्ता और कर्म एक ही हो पड़ेगा । फिर उस ज्ञान का यदि अन्य एक स्वतन्त्र ज्ञाता स्वीकार किया जायगा; तब तो उसका भी फिर अपर एक स्वतन्त्र ज्ञाता स्वीकार करना पड़ेगा, इस प्रकार 'अवस्था दोष' होगा । इस दोष से बचने के लिये यही सिद्धांत ठीक है कि जो ज्ञाता है वही ज्ञानस्वरूप है । स्वतन्त्र ज्ञाता और स्वतंत्र ज्ञान, ऐसा स्वीकार नहीं कर सकते । अतएव आत्मा ज्ञातृ-ज्ञान ज्ञेय स्वरूप नाम से समझाया गया है ।

आत्मा के प्रयोजन साधन के उद्देश्य से ही इन्द्रियों की क्रिया शीलता है। प्रयोजन दो प्रकार का है । एक प्रयोजन-इन्द्रियादि का दर्शनार्थ व्यवहार सम्पादन है । दूसरा प्रयोजन-आत्मा के प्रकृत स्वरूप का बोध है । इन्द्रियादि के खण्ड २ विज्ञान के मूल में एक अखण्ड ज्ञान-स्वरूप आत्मा की प्रतीति होती है ।

अब किस प्रकार जीव का 'भोग' सिद्ध होता है, किस प्रकार जीव की विषयोपलब्धि सम्पादित होती है, यही बात बताई जाती है।

आत्मा के तीन क्रीड़ा स्थान हैं। इन तीन स्थानोंमें ही जीवात्मा विहार करता घूमता है। जाग्रत् अवस्था में जीवात्मा प्रधानतः चक्षुद्वारा ही विषयदर्शन किया करता है। स्वप्नावस्था में, जीवात्मा कण्ठदेश में अवस्थान करता है। गाढ़ सुषुप्ति के समय जीवात्मा हृदयाकाश में अवस्थित रहता है। इसी कारण चक्षु, कंठ एवं हृदय ये ही तीन जीवात्मा की क्रीड़ा के स्थान कहे गये। इस जीवात्मा की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएं व्यावहारिक भाव से निर्दिष्ट हुई हैं। पारमार्थिक भाव में अखंड, अनन्त; पुरुष-चैतन्य का अवस्था भेद नहीं ठहर सकता। ये अवस्थायें उपाधि-वशतः और व्यावहारिक भाव में ही सिद्ध होसकती हैं। संसार दशा में जीवात्मा का प्रकृत-स्वरूप आच्छादित रहता है।

परम कारुणिक ब्रह्मदर्शी आचार्य के उपदेश से जीवात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को देखने में समर्थ होता है। इसीलिये इसका नाम है 'इदन्द्र, *। इस इदन्द्र का ही पण्डितगण परोक्षभाव से 'इन्द्र, नाम से निर्देश किया करते हैं।

जीवात्मा का तीन प्रकार का जन्म है। देहस्थ तेजःस्वरूप शुक्र के मध्य जीवात्मा का प्रथम जन्म होता है। माता के गर्भ में शुक्र शोणित योग से जीव देह गठित व पुष्ट होती है, यही समझिये जीव का द्वितीय जन्म। जीव इस लोक से प्रस्थान करके, कर्मफल के अनुसार अन्य लोक में जन्म ग्रहण करता है, यही कहाता है जीव का तृतीय जन्म।

देह के नव छिद्रों में प्राणशक्ति नव प्रकार से क्रिया करती है। देह के ऊपरी भाग में चक्षुकर्णादि सात छिद्र हैं, एवं अधोभागमें दो छिद्र हैं। इनके सिवा मस्तक में भी एक छेद वा मार्ग है। मृत्युकाल में उत्तम साधक की इसी मार्ग से गति होती है। यह मुक्तिपथ है।

* ब्रह्म का साक्षात् भाव से अनुभव करना कर्त्तव्य है। बुद्धिगुहा में सकल विज्ञानों के साक्षी रूप से आत्मा 'प्रत्यक्ष, होता है। सारी क्रियाओं के साथ साथ मिलित भावसे जो उसका अनुभव है, वह 'परोक्ष, अनुभव है। इन्द्रियां आत्मा के प्रकृत स्वरूप को आच्छादित कर रखती हैं, इसी से उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। इन्द्रियां शब्दस्पर्शादि की अनुभूति में ही व्यस्त रहती हैं। इन्द्रियां सूर्यादिकी ही अभिव्यक्ति होने से 'देवता, कही जाती हैं।

पुराकाल में वामदेव महर्षि * मातृगर्भ में रहकर ही जीव के इस जन्म तत्व से अवगत हुए थे । वे समझ सके थे कि आत्मा वास्तव में देहादिके अतीत है, जन्म मरणादि अवस्थाओं के अतीत है । यह समझ जानेके कारण वे भूमिष्ठ होते ही जीवन्मुक्त हो गये थे †

आत्मा का यथार्थ स्वरूप कैसा है, इस समय यही निर्धारित किया जायगा शरीर में दो प्रकार की वस्तुओं की उपलब्धि हुआ करती है । इस उपलब्धि के कई एक 'करण, हैं एवं एक कर्त्ता है-जो कि इसी शरीरमें हैं। करण-सावयव एवं अनेक हैं । जो उपलब्धि का कर्त्ता है, वह निरवयव एक है । करणगण कर्त्ता के ही प्रयोजन साधनार्थ मिलितभाव से क्रिया करते रहते हैं । करणोंसे कर्त्ता स्वाधीन और स्वतन्त्र हैं । आज हमने एक वृक्ष चक्षु द्वारा देखा । दो दिन पश्चात् किसी कारण चक्षु नष्ट होजाने पर भी, वृक्षदर्शन की स्मृति बनी रहेगी । यह स्मृति ही निर्देश करती है कि, जो मुख्य द्रष्टा पुरुष चैतन्य है, वह चक्षु आदि से पृथक् स्वतन्त्र है । दो दिन पहिले एक पदार्थ को आंख से हमने देखा था, आज हाथ से उस पदार्थ का स्पर्श हमने किया । यहाँ भी एक ही आत्मा दर्शन और स्पर्शन का कर्ता है और वह दोनों से स्वतन्त्र है, सो बात ही प्रमाणित हो जाती है । एक अन्तःकरण ही विषययोग से चक्षु आदि विविध इन्द्रिय रूप से क्रिया करता है । विषय से क्रिया प्रवाहित होकर, चक्षु कर्णादि इन्द्रियों की क्रिया उद्बुद्ध करती है । इन्द्रियों की ये विशेष २ क्रियाएँ एक अन्तःकरण के ही आकार भेद मात्र हैं । एक अन्तःकरण ही विषय वर्ग की क्रिया वशतः भिन्न २ आकारमें परिणत हुआ करता है । अन्तःकरण के ही ये भिन्न २ आकार-चक्षु आदि इन्द्रिय नामों से परिचित होते हैं । अन्तःकरण ही सारी उपलब्धियोंका द्वार है । इस द्वारके योगसे ही आत्मा उपलब्धि का कर्ता वा विज्ञाता हुआ करता है । अज्ञजन अन्तःकरण की विविध क्रियाके सहित उसे अभिन्न मान बैठते हैं । भ्रमका बीज इसी स्थान में पड़गया ।

प्रकृतपक्ष में आत्मा-अन्तःकरण की इन दर्शन श्रवणादि वृत्तियों वा क्रियाओंसे स्वतन्त्र है । किन्तु लोग आत्माकी इस स्वतन्त्रता को भूल जाते हैं । यह अन्तःकरण प्राणात्मक है, ज्ञान की ओर देखने से जो अन्तःकरण वा मन है

---

* वामदेव की यह कथा ऋग्वेद से फैली है । अवतरणिका में यह अंश तात्पर्यनिर्णय के साथ लिखा गया है ।

† हमने उपनिषद् के इस अंश का अनुवाद अति संक्षेप में दिया है । यह अंश उतना आवश्यकीय नहीं ।

क्रिया की दिशा में वही प्राण है * सज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, संकल्प, क्रतु, असु, काम, वश, ये ही मन वा अन्तःकरण की वृत्तियां हैं †। आत्म वस्तु-अन्तःकरण की इन समस्त वृत्तियों के साक्षी वा द्रष्टा रूप से विद्यमान है। इस रूप से ही उसे उपलब्धि का कर्ता कहा जाता है।

---

* "यो वै प्राणः, सा प्रज्ञा। यो वै प्रज्ञा, सः प्राणः"-इति कौषीतकी उपनिषद्। द्वितीयखण्ड में इस तत्वकी व्याख्या की गई है। "चक्षुरादीनां प्राणांशत्वात् अथर्वत्वं प्राणस्य" प्रश्नोपनिषद्भाष्य। प्राण की ही भिन्न २ क्रियावश, एक अखंड चैतन्य का (ज्ञान का) जो विभिन्न अनुभव होता है विज्ञान अनुभूत होताहै उस विज्ञान को लक्ष्य करके ही, प्राण का ही 'मन, नाम से निर्देश किया जाता है। "मनः स्पन्दित मात्रं विषय जातं"....चलनव्यापारपूर्वकाण्येवहि स्वव्यापारेषु लक्ष्यन्ते करणानि। नहि प्राणादन्यत्र चलनात्मकत्वोपत्तिः" बृहदारण्यक भाष्य। "मनन दर्शकात्मकानां चलनात्मकानाञ्च क्रियासामान्यमात्रे (प्राणे) अन्तर्भावः।" बृ०भा० प्राणशक्ति के परिणत होकर इन्द्रियों का स्थान निर्माण कर देने पर, तब विशेष २ ऐन्द्रियिक विज्ञान प्रादुर्भूत होते हैं। " शरीरदेशे व्यूढेषु तु करणेषु विज्ञानमय उपलभ्यते"। निष्कर्ष यही कि, प्राण और मन एक ही वस्तु है।

† अन्तःकरण की जिस वृत्ति द्वारा "मैं चेतन जीव हूँ" इस प्रकार बोध होता है, उस वृत्ति का नाम 'संज्ञान, है। जिस वृत्ति द्वारा निज का ईश्वर भाव (प्रभुत्व) अनुभूत होता है, उसको 'आज्ञान,-बोलते हैं। जिस वृत्तिद्वारा चतुःषष्टि प्रकार कला शिल्पादि विज्ञान लब्ध होता है, उसका नाम 'विज्ञान, है। तात्कालिक प्रतिभा का नाम 'प्रज्ञान, वृत्ति है। ग्रन्थादि के उपदेश धारण का जो सामर्थ्य है, उसका नाम है 'मेधा,। इन्द्रियों द्वारा लब्ध सर्वप्रकार वैषयिक विज्ञान का साधारण नाम' दृष्टि, वृत्ति है। जिस सामर्थ्य के प्रभाव से शरीर और इन्द्रियों के अवसाद से विमुक्त हुआ जाता है, उसे 'धृति, कहते हैं। मनन शक्ति का नाम 'मति, है। मनके स्वातन्त्र्य का नाम 'मनीषा, है। चित्त की रोगादि जनित पीड़ा का नाम 'जूति, है। स्मरण वृत्ति का नाम 'स्मृति, है। मन की जिस वृत्ति द्वारा वस्तु प्रत्यक्ष-काल में 'यह शुक्ल है कि पीत ; इत्याकार का विशेष विचार किया जाता है, वही संकल्प (और विकल्प) वृत्ति है। जिस वृत्ति वश 'यह वृक्ष ही है, मनुष्य नहीं, ऐसा स्थिर निश्चय किया जाता है, उसका नाम 'क्रतु, है (अध्यवसाय, यह बुद्धिका धर्म है)। चेष्टात्मक जीवन क्रिया का नाम 'असु, (प्राणक्रिया) है। असन्निहित विषय के लिये तृष्णा का नाम 'काम' है। स्त्री समागम की अभिलाषा का नाम 'वश, है। शङ्कराचार्य।

इन सब उपाधियोंके योग में, अन्तःकरण की इन सारी क्रियाओं के योग में, आत्मा द्रष्टा, श्रोता, मननकर्त्ता प्रभृति रूप से कहा जाता है। वस्तुतः वह सकल उपाधि से सारी क्रिया से स्वतन्त्र, निर्विकार, पूर्ण है। चक्षु आदि की दर्शनादि क्रियाएँ अनित्य, परिवर्तन शील एवं विकारी हैं। वह सर्व प्रकार की क्रियाओं के मूल में निर्विकार प्रेरक रूप से अवस्थित है। चक्षु आदि के दर्शनादि विषय योग से प्रवुद्ध होते हैं, विषय न रहने पर प्रवुद्ध नहीं होते। इसी प्रकार, श्रवणशक्ति, मननशक्ति, बुद्धिशक्ति ये सब ही स्व स्व शब्दादि विषय योग से प्रवुद्ध हो उठती हैं, विषय के अभाव में प्रवुद्ध नहीं होतीं। अतएव ये सब क्रियाएं अनित्य, उत्पत्ति विनाश शील हैं। किन्तु आत्मशक्ति निरवयव है, निरवयव होने से इसके सहित किसी का भी योग वा वियोग सम्भव नहीं। इसलिये यह नित्य है। फिर रोगादि द्वारा दर्शनादि क्रिया नष्ट हो जाती है, रोग के हटने पर पुनः वह पूर्ववत् सक्रिय होती है इससे दर्शनादि क्रियाएं अनित्य हैं। किन्तु आत्मशक्ति सर्वदा एक रूप है, इसका विनाश नहीं, उत्पत्ति भी नहीं। यह चक्षुरादि इन्द्रिय क्रियाओं की सब अवस्था के साक्षी रूप से स्थित है। जब चक्षु आदि रोगादि द्वारा नष्ट होती हैं तब यह आत्मा ही जानता है, फिर जब रोग दूर होते ही दर्शनादि क्रियाएँ पुनः आ जाती हैं, उसका भी साक्षी वा द्रष्टा आत्मा ही है। चक्षु नष्ट हो जाने पर भी, स्वप्न में पूर्वदृष्ट वस्तु का दर्शन होता है इससे सिद्ध हुआ कि, चक्षु आदि क्रिया से स्वतन्त्र पृथक् एक नित्य दर्शन-शक्ति है। आत्म शक्ति ही नित्य, पूर्ण, निर्विकार है। यह सब प्रकार की क्रिया का 'ग्राहक' है। अर्थात् सब जड़ीय क्रिया इसी का 'ग्राह्य' है। इसी लिये लोग भ्रमवश ग्राह्य इन्द्रियादि के उत्पत्ति-विनाश द्वारा, ग्राहक आत्मा का भी उत्पत्ति-विनाश मान बैठते हैं। फलतः आत्मशक्ति सर्व प्रकार विशेषत्व-रहित है; यह निर्विशेष निर्विकार है। यही सबका प्रेरक है, सबका ग्राहक है। इसके सिवा किसी की भी स्वतन्त्र क्रिया नहीं हो सकती। समुदय क्रिया, समुदय नाम-रूप उसी में एकीभूत होजाते हैं। वह सबसे परे है, सबका साक्षी है। उससे स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं, उसीकी सत्ता और स्फुरण सब वस्तुओं में अनुस्यूत ओतप्रोत हैं।

वह प्रज्ञान स्वरूप है। अन्तःकरण के विविध विज्ञानोंका वह साक्षी वा द्रष्टा है। अन्तःकरणादि की क्रिया द्वारा वह अखण्ड ज्ञान ही खण्ड २ रूप से प्रतिभात होरहा है। पुनः इन विविध विज्ञानों द्वारा, वह जो अखण्ड ज्ञान स्वरूप है हम यही आभास पाते हैं। वह प्रज्ञान स्वरूप है इसीसे तो अन्तःकरण की इन वृत्तियों को हम विविध 'विज्ञान' नाम से कहते हैं। इसी रीति पर बुद्धि वृत्तियां आत्माकी

रूपोपलब्धि के उपाय हैं। ये उस प्रज्ञान ब्रह्म के ही भिन्न २ नाम वा उपाधि हैं। वह एक प्रज्ञान ब्रह्म ही प्राणन क्रिया द्वारा 'प्राण, नामसे अभिहित होता है। मनन क्रिया द्वारा वह प्रज्ञान ब्रह्म ही 'मन, नाम से अभिहित होता है। फलतः वह सकल क्रियाओं के मध्य में अनुस्यूत अनुगत होरहा है। मन की ये वृत्तियां जड़ अचेतन हैं। भला ये किस प्रकार विषयों को प्रकाशित कर सकती हैं? आत्मा ही इनको प्रकाश देता है तब ये विषय प्रकाश में समर्थ होती हैं। प्रज्ञानसत्ता ही सब वृत्ति से स्वतन्त्र रहकर उसके भीतर घुसी पड़ी है। जब अव्यक्त शक्ति सर्व प्रथम प्राणस्पन्दन रूप में सूक्ष्मभाव से व्यक्त हुई, तब भी प्रज्ञान सत्ता उसमें अनुस्यूत थी। अतएव इसीका 'इन्द्र, वा प्रजापति नामसे निर्देश किया जाता है। फिर जब समग्र विश्वकी उपादान-रूपिणी अव्यक्त बीजशक्ति जगत्‌रूप से अभिव्यक्त होने को उन्मुख हुई थी, उसके भीतर भी यह प्रज्ञान सत्ता अनुस्यूत थी। इसी को प्रज्ञागण 'सद्‌ब्रह्म, वा 'ईश्वर, कहा करते हैं। फिर जब सूक्ष्म प्राणस्पन्दन 'अन्नाद, और 'अन्न, रूप से विकाशित होकर यावतीय स्थूल पदार्थराशि निर्मित हुई, तब भी यह प्रज्ञान सत्ता उसके भीतर अनुप्रविष्ट हुई। इस का नाम तत्वज्ञसमाज में विराट् पुरुष पड़गया। इस प्रज्ञान की सत्ता में ही सबकी सत्ता है एवं इस प्रज्ञान सत्ता द्वारा ही सकल वस्तु निज निज क्रिया में प्रवर्तित होरही है। इसीलिये ज्ञानी लोग इसका निर्देश 'प्रज्ञानेत्र, नाम से करते हैं *। सब पदार्थों की सत्ता एवं क्रिया (स्फुरण) सर्वतोभाव से इसके ही अधीन है सुतरां उत्पत्ति स्थिति और प्रलय सर्वावस्था में यह जगत् प्रज्ञानसत्ता के ही अधीन है। यह निर्विशेष निर्विकार है। यह सत्ता ही नानाविध नाम रूपाकार से अभिव्यक्त होकर सकल नाम रूपोंमें अनुस्यूत अनुगत होरही है। किसी वस्तु की भी इसकी सत्ता से अलग 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं, स्वतन्त्र क्रिया, नहीं है। सब भूतों में यह सत्ता एक है। यह सत्ता ही सबका अधिष्ठान, अद्वितीय है। यह आत्मसत्ता नित्य है, शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वरूप है। पूर्व समय में महादेव इस अनृत प्रज्ञान सत्ता का अनुभव करके जन्म-जरा मरण जाल को छिन्न करने में पूर्ण समर्थ हुए थे †।

---

* "प्रज्ञानेन सत्तां नीयते सत्तां प्राप्यते सत्तावत् क्रियते इत्यर्थः। यद्वा स्वव्यापारेषु प्रवर्त्यते इति वा"। नेत्र शब्देन सर्वस्य सत्ताव्यापारहेतुत्वमुक्तम्··· इदानीं सर्वस्य स्फुरणहेतुरयमेवेति उच्यते"। "सर्वस्य जगतः सत्ता-स्फूर्त्योः प्रज्ञानाधीनत्वात्"। टीकाकार।

† निर्विशेष ब्रह्मसत्ता अव्यक्त बीज शक्ति की प्रेरक है, निर्विशेष ब्रह्म पूर्णशक्ति स्वरूप है, यह सुस्पष्ट निर्देशित हुआ है। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तमेकमद्वयम्···

इस उपाख्यान में उपदिष्ट विषयों का संक्षिप्त मर्म यह है:—

१—प्रजापति वा प्राण-स्पन्दन से ही यह विश्व अभिव्यक्त हुआ है।

२—प्राण का आधिदैविक और आध्यात्मिक विकाश ।

३—कोई भी वस्तु प्राण-स्पन्दन से स्वतंत्र नहीं है। सभी वस्तुएँ प्रजापति के अँग-स्थानीय हैं।

४—विश्वव्याप्त अपरिच्छिन्न तेज और आलोकादि शक्ति ही प्राणी देह में परिच्छिन्न रूप से इन्द्रियशक्ति रूपसे व्यक्त हो रही है।

५—आधिदैविक और आध्यात्मिक वस्तुओं के मूल में एक ही प्राण-स्पन्दन है उक्त वस्तुएँ परस्पर उपकार व क्रिया करती रहती हैं।

६—पहले सूर्य चन्द्रादि की, फिर ओषधि वनस्पति प्रभृति की, पुनः प्राणियों एवं अन्त में मनुष्य की अभिव्यक्ति होती है।

७—अन्न वा बाह्य जडांश ही-प्राणशक्ति का आश्रय एवं पोषक है।

८—आत्मा विषयेन्द्रिय योग से शब्द स्पर्शादि का भोग करता है।

९—आत्मा, सब वस्तुओं से स्वतन्त्र है; विषयेन्द्रिय से अतीत है।

१०—बुद्धि के सब विज्ञानों का साक्षी, एक आत्मा ही है।

११—ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। आत्म-सत्ता जगत् के प्रत्येक पदार्थ में अनुगत हो रही है। जगत् की प्रत्येक अवस्था वा विकाश के भीतर आत्म-सत्ता अनुप्रविष्ट है।

विशुद्धप्रज्ञोपाधिसम्बन्धेन सर्वज्ञमीश्वरं सर्वसाधारणाव्याकृत-जगद्बीज-प्रवर्तकं नियन्तृत्वादन्तर्यामिसंज्ञं भवति। तदेव व्याकृतजगद्बीजभूत--हिरण्यगर्भसंज्ञं भवति तदेवान्तरंडोद्भूत प्रथम शरीरोपाधि विराट् प्रजापति संज्ञं भवति"। इत्यादि शङ्कराचार्यः। अव्यक्त शक्ति वा प्राणशक्ति सृष्टिके प्राक्काल में अभिव्यक्ति के उन्मुख हुई थी; सुतरां यह आगन्तुक है। ब्रह्म उससे स्वतन्त्र नित्य है। इसीलिये अव्यक्त शक्ति का नाम 'उपाधि, है। द्वितीय खण्ड की अवतरणिका एवं तृतीय अध्याय का अन्तिम परिच्छेद देखना चाहिये। प्राणशक्ति क्यों 'प्रज्ञा, कही जाती है, इसका भी द्वितीय खण्ड में खुलासा है।

पञ्चम अध्याय ।

ब्रह्म निरूपण एवं ब्रह्मप्राप्ति ।*

प्रथम परिच्छेद ।

(ब्रह्म का स्वरूप-निर्णय)

एक समय एक शिष्य ने अपने आचार्य देव से तीन प्रश्न पूछे थे । ये तीन प्रश्न नीचे लिखे जाते हैं ।

"भगवन् ! आपके मुखारविन्दसे मैंने जब तब सुना है कि ब्रह्मवस्तु सब प्रकार के विशेषत्व से रहित है । ब्रह्मका अवस्थान्तर नहीं, विशेषत्व नहीं, वह सर्वसाधारण स्वरूप है, किन्तु जिसका विशेषत्व नहीं उस वस्तुका अस्तित्व किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है ? जिसमें कोई विशेषता ही नहीं वह तो शून्य है, वह तो असत् ही जान पड़ती है । गुरो ! तब क्या ब्रह्म वस्तु असत् है ? मेरे दो सन्देह और भी हैं । उनका भी उत्तर जानना चाहता हूं । ब्रह्म यदि विशेषत्व-रहित ही है, तो जो लोग ब्रह्मविद् नहीं हैं, वे ही ब्रह्म को क्यों न पायेंगे ? केवल ब्रह्मज्ञ ही ब्रह्म को क्यों पायेंगे ? जो वस्तु सर्वसाधारण है वह तो सब को सर्वदा प्राप्य रहती है । ऐसा होने से ब्रह्मज्ञानी व्यक्तिही ब्रह्म को पाते हैं और जो ब्रह्मको नहीं जानते, वे उसे नहीं पाते, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? प्रभो ! इन तीन प्रश्नों का उत्तर प्रदानकर मुझे कृतार्थ कीजिये ।"

शिष्य के प्रश्नों को श्रवण कर आचार्य बोले—

"सौम्य ! तुमने अच्छा प्रश्न उठाया है । हम पहले ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करेंगे, कारण कि अभी तुम यह नहीं जानते हो कि, ब्रह्म का स्वरूप कैसा है ।

---

*पंचम अध्याय में तैत्तिरीय उपनिषद् गृहीत हुई है । वर्त्तमान कालमें अनुपयोगी जान कर 'शिक्षा वल्ली, छोड़ दी गई है । समझाने की सुविधा के अर्थ "ब्रह्मवल्ली" और 'आनन्दवल्ली, के उपदिष्ट विषय तीन परिच्छेदों में विभक्त कर लिये गए हैं । "भृगुवल्ली" का विवरण चतुर्थ परिच्छेद में दिया गया है ।

ब्रह्म वस्तु–सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है। सत्य ज्ञान और अनन्त–ये तीन ब्रह्म के विशेषण हैं। सत्य, ज्ञान और अनन्त ये तीनों विशेषण पृथक् २ सब ब्रह्म-वस्तु को विशेषित करते हैं। अर्थात् ब्रह्म सत्य स्वरूप है, ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, ब्रह्म अनन्त स्वरूप है। सजातीय और विजातीय सारी वस्तुओंसे, ये विशेषण,ब्रह्मवस्तु को पृथक् कृत वा व्यावर्तित करते हैं *। ये विशेषण ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी वस्तु को नहीं बता सकते। ये एक मात्र ब्रह्म स्वरूप का ही निर्देश करते हैं।

जो वस्तु जिस प्रकार की निश्चित है, यदि वह सर्वदा वैसी ही रहती है;–किसी प्रकार कभी भी उसके स्वरूप का कोई रूपान्तर वा प्रकारान्तर वा व्यभिचार नहीं होता, तो उसका 'सत्य, शब्द से निर्देश किया जा सकता है और जो वस्तु जिस प्रकार की निश्चित है, यदि उसके उस प्रकार का परिवर्तन होता है वा अवस्थान्तर होता है या अन्य रीति से व्यभिचार होता है, तो वह वस्तु अवश्य ही 'असत्य, कही जाती है। क्योंकि वह त्रिकाल में एक स्वरूप नहीं रहती। सारे विकार सर्वदा ही रूपान्तर होते हैं, अवस्थान्तर प्राप्त होते, उनके स्वरूप की स्थिरनिश्चयता नहीं है। जैसे मिट्टी से घड़े और चांदी से कड़े छड़े गढ़े गए। यहां पर मिट्टी और चाँदी 'सत्य, वस्तु है, घड़े, कड़े, छड़े झूठे 'असत्य, हैं। मृत्तिका से घट शरावादि जो कुछ भी निर्मित क्यों न हों, उसमें मृत्तिका की सत्ता स्थिर ही मिलेगी, किन्तु घट आदि का परिवर्त्तन अवश्यम्भावी है। क्योंकि घट आदि पहले तो थे नहीं, पीछे से आये हैं "आगन्तुक" हैं। वे वर्तमान में भी परिवर्त्तित होते हैं। और वे तोड़े फोड़े भी जा सकेंगे, उनकी मिट्टीसे अन्य वस्तुएं बनाली जायगी। घटादिक टूट कर फूट फाट करके अपना आकार छोड़कर उस मृत्तिका में ही परिणत हो जांयगे। अतएव घटादिक विकार क्षणभङ्गुर असत्य हैं। पर मृत्तिका की सत्ता घट से पहले थी घट में है और घटके ध्वंस होने पर भी बनी रहेगी, अतएव मृत्तिका 'सत्य, है। इसी प्रकार ब्रह्म भी सत्य वस्तु हैं। ब्रह्म सत्य है, यह कहने से विदित होगा कि ब्रह्म वस्तु विकार वर्गसे स्वतन्त्र निर्विकार तत्व है। यह स्वतंत्र, निर्विकार ब्रह्म वस्तु मृत्तिका की भांति अचेतन कारण नहीं, यह बतलाने के लिये ब्रह्म ज्ञानस्वरूप कहकर वर्णित हुआ है।

---

* व्यावर्तित करना Differentiate "सत्य शब्द द्वारा, जड़ एवं परिच्छेद (Condition limit) दोनोंसे ब्रह्म पृथक्कृत होता है। क्योंकि परिच्छिन्न जड़वर्ग सभी 'असत्य, है। ज्ञान शब्द द्वारा असत्य परिच्छेद से ब्रह्म व्यावर्तित होता है। क्योंकि स्वप्रकाशस्वरूप में कोई बाधा नहीं दे सकता"—ज्ञानामृत।

ब्रह्म ज्ञाता (ज्ञान का कर्त्ता) नहीं कहा जाता, किन्तु ब्रह्म ज्ञानस्वरूप माना जाता है। यदि वह ज्ञाता कहा जायगा, तो 'सत्य, और 'अनन्त, ये दो विशेषण असङ्गत हो पड़ेंगे। कारण कि जो ज्ञाता होता है, वह विकारी होता है। किन्तु जो विकारी है, वह कदापि 'सत्य, नहीं हो सकता, 'अनन्त, भी नहीं हो सकता। अन्य कोई वस्तु जिसको परिच्छिन्न नहीं कर सकती, जिसका अन्य किसी वस्तुसे भिन्न नहीं कर लिया जा सकता,-वही 'अनन्त है। पर जो कोई किसी का विज्ञाता है, वह अवश्य ही ज्ञान और ज्ञेय दोनों से भिन्न है। ज्ञाता ज्ञेय से स्वतन्त्र होता ही है। ज्ञाता, ज्ञेय वस्तु से स्वतन्त्र वा पृथक् होकर ही उस वस्तु का ज्ञाता होता है। सो यदि ब्रह्म भी ज्ञाता है तो वह फिर 'अनन्त; शब्द से निर्देशित नहीं हो सकता *। इसी लिये ब्रह्म में ज्ञान कर्तृत्व निषिद्ध हुआ है एवं उसका ज्ञानस्वरूप नाम से ही निर्देश किया गया है। हम लौकिक ज्ञान की उत्पत्ति व विनाश देखते हैं, लौकिक ज्ञान का अवस्थान्तर भी देखते हैं। सो ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप कहने पर यदि कोई आशँका करे कि, तब तो ब्रह्म का भी नाश होगा, इस शङ्का के निवृत्ति अर्थ उसके और दो विशेषण दिये गये हैं। ब्रह्म सत्य-स्वरूप है। मृग तृष्णा, वँध्यापुत्र, शशशृङ्ग प्रभृति अलीक पदार्थों की भांति ब्रह्म वस्तु शून्य किम्वा असत् नहीं, सत्-सत्य है। और वही सकल पदार्थों का अधिष्ठान है। उसी की सत्ता का आश्रय कर सब पदार्थ ठहर रहे हैं।

जीवात्मा और परमात्मा में स्वरूप-गत भेद नहीं है। इसलिये ब्रह्मका आत्मा शब्द द्वारा भी निर्देश किया करते हैं। किन्तु हम भी देख पाते हैं कि, आत्मा-विषय विज्ञान-समूह का विज्ञाता है, आत्मा तो समस्त ज्ञेय पदार्थों का ही विज्ञाता है, तब क्या परमात्मा भी इसी भांति ज्ञान का कर्ता है? सृष्टि की आदि में ब्रह्म वस्तु ने जगत् सृष्टि का संकल्प वा कामना की थी, श्रुतिमें इसका भी उल्लेख है। इससे ब्रह्म परमात्मा संकल्प का कर्ता समझ पड़ता है। सो यदि ब्रह्म ज्ञाता है, तब तो वह अन्य के आधीन भी कहा जायगा। क्योंकि जो ज्ञाता है, वह विषयवर्ग का ही

* "कर्तृत्वं कर्मत्वंच भिन्नाधिकरणं प्रसिद्धम्"—ज्ञानामृत। "प्रसिद्धमेव अन्यो अन्यत् पश्यतीति" भाष्यकार। "यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्र अन्यत् विजानाति, तदल्पम्" इति श्रुत्यन्तरात्। ब्रह्म आप अपना ही ज्ञाता है; यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ब्रह्म निरवयव है, उसका एक अंश अपरांश का ज्ञाता है, ऐसा अंश विभाग सम्भव नहीं,

जाता है, यों वह विषयवर्ग के आधीन होगया । ब्रह्म को ज्ञाता कहने में ऐसे अनेक दोष पड़ते हैं । इन दोषों को-इन सब शंकाओं की-मीमांसा क्या है ?

ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है । यह ज्ञान आत्म-वस्तु से अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं । ज्ञान अनित्य नहीं, यह नित्य है । विषयवर्ग द्वारा चक्षु आदि की क्रिया उद्बुद्ध होकर, उस क्रिया के योग से, अन्तःकरण की विषयाकार से परिणति होने पर, शब्द स्पर्शादिक विज्ञान उत्पन्न होते हैं एवं वे आत्मा के अखंड ज्ञान द्वारा सर्वतोभाव से व्याप्त होकर ही उत्पन्न होते हैं । अज्ञानी लोग इन विज्ञानों को आत्मा का (अखंड ज्ञान का) विकार-धर्म-मान लेते हैं किन्तु आत्मा का स्वरूप यथार्थ में ऐसा नहीं है । वह तो अखंड, नित्य, निर्विकार, ज्ञानस्वरूप है । ज्ञान ब्रह्म के स्वरूप से भिन्न वा स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं । वह सब देश और कालका कारण है । विभाग का वा भिन्नता का हेतुभूत देश और काल उसी के कुक्षिगत हैं । उसी के अन्तर्भुक्त हैं । देश और काल अविभक्त भाव से उसी में अन्तर्भुक्त हैं । कोई वस्तु वा-कोई ज्ञेय ही उससे स्वतन्त्र देश में अवस्थित नहीं रह सकता । वर्त्तमान, भूत, भविष्यत् प्रभृति काल के अवयव भी अविभक्त रूप से उसीमें अन्तर्भुक्त हैंइस कारण कोई क्रिया वा कोई भी ज्ञान उससे पृथक् स्वतन्त्र या भिन्न नहीं रह सकता और न कोई पदार्थ उससे अज्ञेय होसकता है। उसकी विज्ञेय सभी वस्तुएँ एक साथ उसके मध्य में अवस्थान करती है । इसी लिये ब्रह्म सर्वज्ञ कहा जाता है । उससे कोई द्वितीय वस्तु नहीं उसके ज्ञान का ध्वँस नहीं विलोप नहीं । वह नित्य ज्ञानस्वरूप है ।

किन्तु हम लोग ज्ञान शब्द द्वारा, शब्द स्पर्शादि ज्ञानोंको ही समझा करतेहैं । ये ज्ञान तो अनित्य, विकारी हैं । इसलिये ही ज्ञान शब्द मुख्य रूपमें ब्रह्म का निर्देश नहीं कर सकता । ब्रह्म का स्वरूपभूत जो ज्ञान है, वह कदापि लौकिक ज्ञान की तरह खँड, खँड, देश-काल विभक्त ज्ञान नहीं हो सकता । वह तो अखँड, नित्य है । ब्रह्म मुख्य रूप में ज्ञान शब्द का वाच्य नहीं हो सकता । केवल 'लक्षण, द्वारा ही ज्ञानादिक शब्द उसके ऊपर प्रयुक्त होते हैं । वह ज्ञानादि शब्दों का 'लक्ष्य, माना जाता है । वह सकल शब्दों के अतीत है, वाणी के अतीत है । बुद्धि के जो सब विज्ञान प्रकट होते हैं इन सब विज्ञानों के अनुगत रूप से, इन सब विज्ञानों के साक्षी रूप से उसके अखंड ज्ञान का अभ्यास पाया जाता है ।

'सत्य, शब्द के सम्बन्ध में भी यह कथन प्रयोज्य है । सत्य शब्द या सत्ता शब्द, जड़ीय कारण को ही बतलाता है * । मृत्तिकादि की भांति विशेष २ सत्ताएँ

* "सत्यशब्दो जड़े 'कारणे, वर्त्तते । ज्ञानामृत । "सत्ता च अनुगतरूपं सामान्यम्" ज्ञानामृत । "बाह्य-सत्तासामान्यविषयेण 'सत्य, शब्देन लक्ष्यते सत्यं ब्रह्मेति" भाष्यकार ।

ही हमारी परिचित हैं। किन्तु ब्रह्म में कोई विशेषत्व नहीं, वह निर्विशेष है। वह सब प्रकार की विशेष २ वस्तुओं से स्वतन्त्र है। अतएव सत्य वा सत्ता शब्द मुख्य रूप से उसको बतला नहीं सकता। "लक्षण" द्वारा ही यह शब्द उसका निर्देश करता है। अर्थात् हम जिस प्रकार घटादि के कारणरूप से घटादि में अनुगत मृत्तिकादि की विशेष २ सत्ता समझते हैं, उसी प्रकार जगत् कारण से निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता का भी आभास पाते हैं। जड़ीय सत्ताएँ ब्रह्म-सत्ता का आभास सूचित करती हैं *।

ब्रह्म वस्तु-देश, काल एवं वस्तु से 'अनन्त, है। कोई देश,कोई काल वा कोई वस्तु उसका परिच्छेद करने, इयत्ता करने, परिमाण करने में समर्थ नहीं। आकाश सर्व विध देश से † अनन्त है, कोई भी विशेष देश आकाश को परिच्छिन्न नहीं कर सकता। परन्तु आकाश कार्य द्रव्य ‡ है। इसलिये वह काल और वस्तु द्वारा परिच्छिन्न है, अतएव उसे काल और वस्तुसे 'अनन्त, नहीं कह सकते। किन्तु ब्रह्मवस्तु इस आकाश से भी 'अनन्त, है क्योंकि वह आकाश का भी कारण है। तभी देखा जाता है कि, ब्रह्म-वस्तु देश और काल, दोनों से बृहत् अनन्त, है। काल भी उसका परिच्छेद नहीं कर सकता। जो 'कार्य' है, केवल वही काल द्वारा परिच्छिन्न हो सकता है, हमारा ब्रह्म किसी का कार्य तो है नहीं, वह तो सब का 'कारण' है। तब भला बिचारा काल उसे कैसे परिच्छिन्न कर सकता है ? वह काल का भी काल अनन्त है। इस प्रकार वह वस्तुओं से भी 'अनन्त, है। कोई भी वस्तु उसका परिच्छेद नहीं कर सकती, क्योंकि कोई भी वस्तु तो ब्रह्म से भिन्न वा स्वतन्त्र नहीं है। एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होकर ही उसको परिच्छिन्न कर सकती है। पर यहां तो कोई भी वस्तु ब्रह्म से स्वतन्त्र या भिन्न नहीं। क्योंकि स्वतन्त्र नहीं ? इसलिये कि, ब्रह्म सब वस्तुओं का ही 'कारण, है। अतएव कोई वस्तु उससे स्वतन्त्र नहीं हो सकती। कार्य और कारण का सम्बन्ध ही ऐसा है

---

* इस प्रकार यद्यपि साक्षात् सम्बन्ध से ब्रह्म का स्वरूप जाना नहीं जा सकता, यद्यपि ब्रह्म केवल मात्र 'नेति नेति, शब्दवाच्य है, तथापि जगत् में जो विविध विज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति देखी जाती है, उसके द्वारा सबका साक्षीस्वरूप ब्रह्म अखंड ज्ञान स्वरूप और अखंड सत्ता स्वरूप है, इसका आभास अवश्य पाया जाता है। द्वितीयखंड की अवतरणिका द्रष्टव्य है।

† देश-Limited spaces परिच्छेद Limit

‡ आकाश un limited space श्रुतिके मत में भूताकाश ही कार्यद्रव्य है। प्राणस्पन्दन विशिष्ट आकाश ही 'भूताकाश, नाम से प्रसिद्ध है।

कि कार्य कारण से स्वतंत्र नहीं रह सकता। कार्य वास्तव में कारण सत्ता से भिन्न कोई वस्तु नहीं, वह कारण-सत्ता ही है। सुतरां ब्रह्म जब सब वस्तुओं का कारण है, तब उससे पृथक्, कहां है कि जिससे ब्रह्म की अनन्ततामें बाधा पड़ेगी! तात्पर्य यह निकला कि ब्रह्म वस्तु सब से ही स्वतंत्र है। लोग सर्वव्यापक आकाश को सकल देशसे पृथक् अनन्त कहा करते हैं। किन्तु ब्रह्म-वस्तु उस सबसे बड़े आकाश से भी बड़ा अनन्त है-आकाश का भी कारण है। अतः वह निरतिशय रूप से अनन्त है। सबका कारण होने से, वह काल से भी अनन्त है एवं कोई भी वस्तु उस की सत्ता से स्वतंत्र नहीं, इसले वह वस्तुओं से भी अनन्त है *। इस भांति विचार करने से सिद्ध हुआ कि ब्रह्म निरतिशय रूप से 'सत्य' है।

सौम्य! ब्रह्म का स्वरूप बतला दिया। तुम समझ गये हो कि ब्रह्म-ज्ञान स्वरूप, सत्य स्वरूप और अनन्त स्वरूप है। यह परम सत्य ब्रह्मवस्तु 'अव्याकृत आकाश में' गूढ़ रूप से स्थित रहता है। इस 'अव्याकृत आकाश, को परम व्योम एवं 'गुहा, शब्द से भी कहते हैं †। यही सब पदार्थों का बीज है। इस बीज से ही सकल पदार्थ अभिव्यक्त होते हैं। सब ज्ञान, सब ज्ञेय, सब ज्ञाता-इस अव्याकृत बीज में निहित रहते हैं यह अव्याकृत बीज ही विश्वका उपादान है। जो साधक इस अव्याकृत बीज शक्ति में जगत्कारण ब्रह्म-सत्ता को निहित जानकर अनुभव करते हैं, वे ही यथार्थ तत्वदर्शी हैं। कोई भी वस्तु; कोई भी कामना, उनको अप्राप्य नहीं रहती उन्हें सब कामनाओं की वस्तुयें युगपत् प्राप्त होजाती हैं। क्योंकि जो व्यक्ति ब्रह्म सत्ता का सर्वत्र अनुभव कर सकते हैं, उनसे कोई भी वस्तु दूर रही नहीं सकती। कोई व्यवधान न होने से, वस्तु के लाभ में बाधा की सम्भावना कहाँ? इनकी दृष्टि

* क्योंकि उपादान सत्ता में कार्य द्रव्य की सत्ता रहती है। उपादान सत्ता व्यतीत, कार्य-वस्तु की 'स्वतन्त्र, सत्ता नहीं। सुतरां वह वस्तु से भी अनन्त ही है। ज्ञानामृत।

† यही मायाशक्ति है, जगत् की उपादान शक्ति है। बृहदारण्यक में इसी का 'अक्षर, नाम है। "एतस्मिन्नु खलु अक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्च,,। यह निर्विशेष ब्रह्म सत्ताका ही विशेष आकार वा अवस्थान्तर मात्र है। निर्विशेष सत्ता ही सृष्टि के प्राक्काल में सविशेष होती है अर्थात् जगत् रूप से प्रकट होने की उन्मुखावस्था धारण करती है। किन्तु स्मरण रहे अवस्थान्तर धारण कर लेने मात्र से वस्तु कोई भिन्न स्वतन्त्र वस्तु नहीं होजाया करती। निर्विशेष ब्रह्मसत्ता ही उसमें अनुस्यूत अनुप्रविष्ट ओत प्रोत होरही है उसका ही ज्ञानीगण सर्वदा दर्शन करते हुए कृतार्थ होजाते हैं।

द्वितीय परिच्छेद।

ब्रह्म की सत्ता का निर्धारण।

आचार्य भगवान् आज शिष्य को निकट बैठाकर फिर उपदेश देने लगे कि-

"पुत्र! गत दिन तुम्हें ब्रह्म का स्वरूप कैसा है, सो बतला चुके हैं। अब हम तुमने जो प्रश्न पूंछा था उसका उत्तर देंगे। तुमने ब्रह्म की सत्ता व अस्तित्व सम्बन्ध में प्रश्न किया है सो आज हम तुमको ब्रह्म की सत्ता समझा देंगे। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप, सत्य-स्वरूप और अनन्त-स्वरूप है सो बात तुमसे कही चुके हैं? अब ब्रह्म किस प्रकार सत्य स्वरूप कहा जाता है इस विषय की आलोचना करने से तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हो जायगा।

जिसकी सत्ता है उस सत्ता द्वारा ही उसका 'सत्य, शब्द से निर्देश किया जाता है किन्तु बात यह है कि ब्रह्म तो साधारण;-सर्वप्रकार विशेषत्व-रहित है। जिसका विशेषत्व नहीं; उसका अस्तित्व हमारी समझ में नहीं आता। जो इन्द्रिय ग्राह्य नहीं, उसका भी अस्तित्व हम नहीं समझ पाते। इन कारणों से ब्रह्म 'असत्, हो उठता है तब क्या ब्रह्म ,असत्, है? इस आशङ्का का उत्तर क्या है?

ब्रह्म जब इस जगत् का 'कारण, है तब वह कदापि 'असत्, या शून्य नहीं हो सकता। जिससे कोई कुछ उत्पन्न होता है वह असत् नहीं हो सकता। अँकुर से वृक्ष उत्पन्न होता है, सुतरां अँकुर उसका उपादान है; यह असत् नहीं हो सकता! मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है मृत्तिका ही घट का उपादान है, मृत्तिका असत् कदापि नहीं हो सकती, कारण-सत्ता ही कार्यवर्ग में अनुस्यूत होती है, इसी प्रकार जगत् से ब्रह्म उत्पन्न हुआ है; ब्रह्म ही जगत् का 'कारण, है जो 'कारण' है, वह भला 'असत्' क्योंकर हो सकता है? सुतरां ब्रह्म सत् वस्तु है? * यदि जगत् के ये नाम रूपादि कार्य असत् से उत्पन्न होते? तो उनके भीतर असत् ही अनुस्यूत हो कर रहता। एवं पदार्थ मात्र ही असदन्वित जान पड़ता पर ऐसा तो होता नहीं, हम तो प्रत्येक पदार्थ को ही सत्ता विशिष्ट अनुभव करते हैं। अतएव जगत् कारण ब्रह्म असत् नहीं। असत् से-शून्य से-कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि असत्

---

* 'सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः। सर्वश्रुतिषु च "कारणत्व," व्यपदेशः। माण्डूक्यभाष्य। यह कारण सत्ता स्वीकार न करने पर ब्रह्म असत् हो पड़ता है। युक्ति के द्वारा ही ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है इस मन्तव्य को शंकर ने अति स्पष्ट भाषा में बतला दिया है।

से ही कार्यवर्ग उत्पन्न होता, तो कार्यवर्ग भी अवश्यमेव असत् हो पड़ता;—सर्व शून्यता उपस्थित हो जाती। ब्रह्म सत्ता से ही जगत् उत्पन्न हुआ है एवं वह सत्ता ही जगत् के प्रत्येक कार्य के मध्य अनुस्यूत हो रही है इसलिये ब्रह्म सत् वस्तु है।

मृत्तिका प्रभृति जड़ीय कारण कलाप की भाँति ब्रह्म वस्तु अचेतन कारण नहीं। सृष्टि विषयक कामनासे ही यह सद्वस्तु चेतन है सो बात समझमें आजाती है। क्योंकि कारणसत्ता अचेतन जड़ होने पर वह सृष्टिविषयिणी कामना किस प्रकार कर सकती है? यहां पर एक बात विचारने की है। जिसे किसी वस्तुका अभाव होता है, उसीको तो उस वस्तुके लिये कामना करते देखा जाता है। तब क्या ब्रह्म वस्तु को कोई अभाव है कि फिर वह कामना करता है? ब्रह्म वस्तु तो किसीके भी आधीन नहीं, वह सर्वथा ही 'स्वतन्त्र, स्वाधीन है। कामना जैसे हम लोगोंको सम्पूर्ण रूप से वशीभूत करदे, प्रवृत्तिके मार्ग में खींच ले जाती है; तदनुसार ब्रह्म की कामना ब्रह्मको आयत्तीकृत नहीं कर सकती। यह कामना उससे कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं, वह उसकी ही आत्मभूत है' वह उसकी ही स्वरूपभूत है; उसके स्वरूप से कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। ब्रह्म वस्तु सत्य स्वरूप और ज्ञान स्वरूप है, यह बात हम तुम से कह चुके हैं। उसकी कामना भी सत्य-स्वरूप और ज्ञान-स्वरूप है। मायाशक्ति के योगसे ही ब्रह्म जगत्-कारण है, कामना संकल्पादि उसी मायाकी परिणति मात्र हैं। तद्द्वारा ही ब्रह्म जगत् सृष्टि विषयक कामना करता है किन्तु ध्यान रहे, यह मायाशक्ति उसकी सत्ता से भिन्न वा स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वह उसकी आत्मभूत ही है। और यह ज्ञानद्वारा व्याप्त है विशुद्ध है।* वह सत्य ज्ञानात्मक ब्रह्म की ही स्वरूपभूत है न कि स्वतन्त्र कोई वस्तु।† स्वतन्त्र न होने से तो वह ब्रह्म को आयत्तीकृत नहीं कर सकती। ब्रह्म ही इस कामना का प्रेरयिता है। सृज्यमान नाम रूपात्मक पदार्थराशि के कर्म और संस्कार के अनुसार ही ब्रह्म सङ्कल्प वा कामना किया करता है, इसीलिये ब्रह्मका स्वातन्त्र्य अव्याहत रहता है ब्रह्मके लिये अप्राप्य कोई विषय नहीं, ब्रह्मको किसी बातका अभाव नहीं;—कामना की भी कोई वस्तु नहीं; वह सर्वदा पूर्ण काम है हमारी कामना जैसे धर्माधर्मादि प्रवृत्तिजात एवं इन्द्रियादि साधनों की अपेक्षा रखती है; उस प्रकार ब्रह्म की कामना कोई इन्द्रियादि साधनों की अपेक्षा

---

* मनुष्यों की कामना अविद्या-अज्ञानादि दोषों से दूषित होती है किन्तु ब्रह्म की कामना विशुद्ध सत्व प्रधान रहती है। क्योंकि यह सब प्रकारके ज्ञान की अभिव्यक्तिका बीज है। इसीलिये इसे 'प्रज्ञा, भी कहा जाता है।

† अखंड सत्ता स्वरूप ब्रह्म ही सृष्टि के प्राक्काल में जगदाकार धारण करने के उन्मुख हुआ था। इस अवस्था के भेद से यह प्रकृत पक्ष में कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं हो उठता।

नहीं रहती। वह ब्रह्मकी आत्मभूत है, वह उसके स्वरूपसे कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं। जगत् की बीजस्वरूपिणी मायाशक्ति ही कामना संकल्पादि का आधार है किन्तु यह शक्ति ब्रह्म सत्तासे 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं, * । ब्रह्म अपनी आत्मभूता इस माया-शक्ति द्वारा ही जगत् सृष्टि का संकल्प करता है,-बहु होकर व्यक्त होने के निमित्त कामना करता है।

समुदय नाम रूप की बीज-शक्तिस्वरूपिणी इस माया योग से ही ब्रह्म बहुत प्रकार अभिव्यक्त होता है यह शक्ति सृष्टि के पहिले आत्मसत्ता के मध्य में ही अनभिव्यक्त रूप से अवस्थित थी जब यह विविध नाम रूप से अभिव्यक्त हुई, तब भी यह आत्म-सत्ता को परित्याग नहीं कर चुकी। यह सभी अवस्थाओं में ब्रह्मसत्ता द्वारा सत्तावती रहती है किसी अवस्था में भी यह ब्रह्म सत्ता छोड़ स्वतन्त्र नहीं रह सकती।

जो निर्विशेष ब्रह्म सत्ता है वही सृष्टि के प्राकाल में अभिव्यक्त होने की उन्मुखावस्था धारण करती है। † इस अवस्था का ही 'माया, वा अव्यक्त नाम से निर्देश किया जाता है। किन्तु कुछ अवस्थान्तर होने पर ही कोई 'स्वतन्त्र, वस्तु मानली जाय, ऐसा नहीं हो सकता। जो ब्रह्मसत्ता पूर्व में थी अब भी वही वर्त्तमान है। यही देशकाल में विभक्त होकर अभिव्यक्त होती है; अभिव्यक्त होजाने के पश्चात् भी यह ब्रह्म स्वरूप को परित्याग नहीं कर भागती, अर्थात् तब भी ब्रह्मसे स्वतन्त्र कोई शक्ति नहीं हो पड़ती है। इस भाँति, इस मायाशक्ति द्वारा ही ‡ ब्रह्म बहुत रूपों में व्यक्त होजाता है।

नाम-रूप की बीज-शक्ति ब्रह्म-सत्ता से 'स्वतन्त्र, कोई वस्तु नहीं, वह आत्मा की ही स्वरूपभूत है। सूक्ष्म स्थूल, दूरस्थ निकटस्थ, भूत भविष्यत, कोई भी ब्रह्म सत्ता से स्वतन्त्र नहीं होसकता। ब्रह्मातिरिक्त वस्तु ही नहीं है सुतरां ब्रह्म सत्ता में ही नाम रूप की सत्ता माननी चाहिये। नाम-रूप, किसी अवस्था में भी ब्रह्मसत्तासे स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हो सकता। सृष्टि के पहिले, सृष्टि के परकाल में, सृष्टि के

---

* सांख्य वाले जिस प्रकार प्रकृति को स्वतन्त्र वस्तु मानते है उस प्रकार वेदान्ती इसे ब्रह्म से अलग कोई स्वतन्त्र तत्व नहीं मानते। स्वतन्त्र न होने से ही ब्रह्म के अद्वैतपन की हानि नहीं होती। ज्ञानामृत।

† "व्याचिकीर्षितावस्थातोऽन्नात्,,-शङ्कर मुण्डकभाष्य।

‡ 'नामरूप-शक्त्यात्मक-माया परिणामद्वारेण इत्यर्थः'—ज्ञानामृत।

प्रलय में–सब ही अवस्थाओं में, ब्रह्मसत्तामें हा नाम-रूप की सत्ता रहती है।* किन्तु ब्रह्मसत्ता–चिर स्वतन्त्र, चिर स्वाधीन है। क्योंकि नाम–रूप अभिव्यक्त होने के पूर्व ब्रह्मसत्ता स्वतन्त्र ही थी, फिर नाम-रूप अभिव्यक्त होने के पश्चात् भी ब्रह्मसत्ता की स्वतन्त्रता अटूट रहेगी। †

सृष्टि के पूर्व क्षण में समागत इस कामना या जगत् सृष्टि विषयिणी आलोचना का नाम 'तप, भी कहा जाता है और तप का अर्थ यहां पर ज्ञान है। यह आगन्तुक है, सुतरां यह उसी अखण्ड ज्ञान का ही अवस्थान्तर मात्र है परन्तु यह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। सृज्यमान वस्तु समूह के कर्मानुसार सृष्टि विषयक आलोचना होते ही, यह जगत् विविध नामों व विविध रूपों से, विविध काल व विविध देश में विकासित होगया है। एक ही सत्ता बहुत से आकारों में व्यक्त हो गयी है। कारण सत्ता ही जब असंख्य नामरूपात्मक कार्यवर्ग के आकार में अभिव्यक्त हुई, तब प्रत्येक कार्य के भीतर वह कारण–सत्ता ही अनुप्रविष्ट हो रही है। कारण–सत्ता में ही कार्यों की सत्ता है, उनकी निजी कोई सत्ता नहीं। इस प्रकार

---

* "नहि आत्मनोऽन्यत् अनात्मभूतं तत्........"नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती। न ब्रह्म तदात्मकं, ते तत्प्रत्याख्याने न स्त एवेति तदात्मके उच्यते"— भाष्यकार। पाठक शङ्कर स्वामी के इस स्थल को विशेष रूप से लक्ष्य करें। यह स्थल ही शङ्कर के मायावाद और अद्वैतवाद को समझने के लिये उत्कृष्ट स्थल है। अज्ञानी ही मायाशक्ति को ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र वस्तु मानते हैं। तत्वदर्शी जानते हैं कि यह ब्रह्मसत्ता व्यतीत अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्म-सत्ता में ही जगत् की सत्ता है कारण-सत्ता में ही कार्यों की सत्ता है। नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म से पृथक्, अलग, भिन्न कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। आकार आवें चाहे चले जावें-चाहे और भी आते रहें, मूल कारण–सत्ता मृत्तिका, सुवर्ण या ब्रह्मसत्ता के बाहर नहीं रह सकते। पर कारणसत्ता उनके बिना भी रह सकती है, कारण–सत्ता को उठा लेने पर नाम रूप नहीं ठहर सकते ब्रह्मसत्ता ही कारण सत्ता है। ब्रह्मसत्ता ही नाम–रूप होकर प्रकट होरही है या यों कहिये कि ब्रह्मसत्ता ही सर्वत्र दर्शन दे रही है। कारण कि ब्रह्मसत्ता से पृथक् रूप में नाम रूपात्मक जगत् का अस्तित्व कभी सिद्ध ही नहीं हो सकता। नाम-रूप ब्रह्माधीन है ब्रह्मात्मक–अतएव ब्रह्म ही है नाम रूप के बिना भी ब्रह्म है, ब्रह्म के बिना नाम रूप नहीं। "तत्प्रत्याख्याने न स्त एव इति तदात्मके उच्येते" शंकर के ये शब्द यही कहते हैं।

† पाठक शङ्कर की इन उक्तियों को भली भांति मन में रक्खें और द्वितीय खण्ड की अवतरणिका देखें।

समझिये कि सृष्टि जगत् में वह चेतन ब्रह्मसत्ता ओतप्रोत हो रही है या चारों ओर से वही भरी पड़ी है।

कार्यों के भीतर चेतन ब्रह्मसत्ता का प्रवेश किस प्रकार का है, तुम्हें स्पष्ट बताये देते हैं। हम देख पाते हैं कि मृत्तिका घट-शरावादि से स्वतन्त्र रहकर, तत्पश्चात् चूर्णादि आकार धारण करती, घट-शरावादि में अनुप्रविष्ट होती है ब्रह्मतत्त्व भी क्या उसी प्रकार अन्य कोई आकार धारण करके कार्यवर्ग में प्रविष्ट हुई है! पर मृत्तिका की भांति ब्रह्मवस्तु तो सावयव नहीं। ब्रह्म निरवयव और एक है। इस कारण वह, अन्य कोई आकार धारण करके कार्य वर्ग में प्रविष्ट नहीं हो सकता। उससे पृथक् स्वतन्त्र देश ही कहां है कि, वह उसके भीतर प्रवेश करेगा? जल में जैसे सूर्य प्रतिबिम्बित होता है, वैसा प्रवेश भी सम्भव नहीं। क्योंकि ब्रह्म निरवयव अमूर्त एवं सर्वव्यापक है। उससे दूर एवं उसकी आधारभूत वस्तु कहां है कि उसमें उसका प्रतिबिम्ब प्रविष्ट होगा? तब फिर ब्रह्म के कार्यवर्ग में प्रवेशका अर्थ क्या है? अन्य किसी कार्य वस्तु में स्पष्ट रूप से उसकी सत्ता की उपलब्धि की नहीं जा सकती। केवल बुद्धि वृत्ति-विविध विज्ञानों के साक्षीरूप से ब्रह्मसत्ता की उपलब्धि हुआ करती है।

वह बुद्धिगुहामें प्रविष्ट रूपसे अनुभूत हुआ करता है। वह बुद्धिके प्रकाशक रूप से बुद्धि के विविध विज्ञानों के साथ२ तदनुगत रूपसे उसके अखंड ज्ञान और सत्ता का आभास पाया जाता है। बुद्धि में वही मनन कर्ता, श्रोता, द्रष्टा, विज्ञाता रूपसे अनुभूत हुआ करता है। इसी स्थान में ब्रह्म की सत्ता उपलब्धिगोचर होगी। अन्य किसी प्रकार उसकी सत्ता सुस्पष्ट समझी नहीं जा सकती। इस बुद्धिगुहा में ही उसकी सत्ता की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है।

कार्यों में अनुप्रविष्ट जगत्कारण ब्रह्म सत्ता का अस्तित्व इस प्रकार ही उपलब्धि का विषयभूत होता है। निर्विशेष ब्रह्म सत्ता मायाशक्ति के योग से दो आकारों में विकाशित होती है एक अमूर्त आकार; दूसरा मूर्त आकार है *। शक्ति के विकाशकी प्रणाली ही ऐसी है। एक अंश अमूर्त अविनाशी दूसरा अंश-मूर्त-विनाशी है। ये ही स्थूल नाम रूपात्मक जगत् के बीज हैं। ये बीज रूप से अव्यक्तभाव से आत्मसत्ता के मध्य में ही अवस्थित थे। जब अभिव्यक्त हुए तभी से दो आकारों में अभिव्यक्त हुए। शक्ति का जो करणांश है वह प्रत्यक्ष के योग्य नहीं एवं उसको शब्द द्वारा निर्देशित भी नहीं कर सकते। किन्तु शक्ति का जो कार्यांश है, वह प्रत्यक्ष है

* यही प्राण और रयि है। इसी को करणांश और कार्यांश कहते हैं। अन्नाद और अन्न नाम से भी परिचित है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में यही motion एवं matter है।

एवं शब्द द्वारा ही भी निर्देश करने योग्य है। जो देश और काल में विभक्त है, वह प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-ग्राह्य) हो सकता है। समान जातीय पदार्थ के साथ तुलना करके एवं भिन्न जातीय पदार्थ से पृथक् करके जिसका निर्देश किया जा सकता है, वही शक्तिका कार्यांश है पर करणांश का इस प्रकार निर्देश नहीं किया जासकता (क्यों कि 'शक्ति, केवल अनुमानगम्य वस्तुमात्र है) इसलिये ही इसे 'अनिरुक्त, और कार्यांश को 'निरुक्त, कहा गया है। शक्ति का जो करणांश है, वह मूर्त द्रव्य के आश्रय में क्रिया करता रहता है और शक्ति का कार्यांश अमूर्त शक्ति का आश्रय है। चेतन तथा अचेतन प्रत्येक पदार्थ में ये दो अंश हैं। सकल पदार्थ ही इन दो अंशों द्वारा घटित है। प्रत्येक पदार्थ ही प्राणांश अपर अन्नांश है। यह प्राण और अन्न एकत्र हो कर सब पदार्थों को गढ़ डालता है। * इन दो अंशों को ही एक साथ 'सत्य, शब्द द्वारा निर्देशित करते हैं। ये अलीक, असत्, शून्य, वस्तु नहीं। ये सत्य वस्तु हैं। किन्तु सत्य होने पर भी परम सत्य ब्रह्म वस्तु की तुलना में ये 'असत्य, कहे जाते हैं। मृग-तृष्णा शशविषाण प्रभृति अलीक पदार्थों की अपेक्षा ये 'सत्य, ही हैं। अव-श्य ही परमार्थतः सत्य नहीं है, परन्तु व्यवहारतः सत्य अवश्य हैं। शश-विषाणादि की भांति ये अलीक नहीं। ‡ इस भाव में ही जगत् असत्य है और ब्रह्म सत्ता चिर-नित्य स्वतः सिद्ध एक रूप है। अतएव ब्रह्म वस्तु परम सत्य है। नामरूपात्मक वस्तुएँ परिणामि नित्य, चिरपरिवर्तनशील रूपान्तर ग्रहणकारी हैं सुतरां ब्रह्मकी तरह सत्य

---

* पाठक यहां लक्ष्य करें, शक्ति के विकाशका यह विवरण पढ़ने २ आधुनिक विज्ञान शास्त्र पढ़ रहे हैं ऐसा भ्रम होने लगता है। जगद् व्यापक शक्ति वा Force जो Motion एवं Matter रूप से व्यक्त होकर धीरे २ जगत् गढ़ डालती है उसका कैसा सुन्दर वर्णन यहाँ पर जान पड़ता है।

पाठक देखें भाष्यकार भगवान् अलीक एवं असत्य में भेद स्वीकार करते हैं जगत् की उपादान शक्ति को एकवार ही शून्य व अलीक नहीं कहते। वे जगत् को भी उड़ा नहीं देते शक्ति को भी नहीं उड़ाते।

‡ शङ्कर इसी भांति जगत् को असत्य मिथ्या, कल्पित, इन्द्रजालवत् कहते हैं जगत्का आकार चिरपरिवर्तनशील है; इसी निमित्त एवं इसी अर्थमें जगत् असत्यहै नहीं तो जगत् अलीक वा शून्य नहीं। विशाल परिवर्तन प्रवाह के भीतर कारण सत्ता चिर-स्थिर और नित्य है; इसीलिये वह 'सत्य, परम सत्य है। पाठक शङ्कर के इस भाव को भूलें नहीं। इस अंशको भूल जाने से अनेक सज्जन शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध, शून्यवादी कहकर उपहास करने में भी संकोच नहीं करते। फलतः जगत् अ-लीक वा शून्य नहीं। जगत्-कारण ब्रह्म सत्ता ही जगत् में अनुस्यूत है। उस सत्ता द्वारा ही जगत् सत्य है। तब जगत्के नाम-रूप-आकार-निरन्तर परिवर्त्तित होते हैं रूपान्तर ग्रहण करते हैं अतएव ये 'असत्य, हैं।

नहीं हैं ‡ मूर्तामूर्त विकाशात्मक जगत्-एक ब्रह्मसत्ता से ही अभिव्यक्त हुआ है, ब्रह्मसत्ता ही उसमें अनुप्रविष्ट है। इस कारण वह ब्रह्मसत्ता से स्वतन्त्र कोई तत्व नहीं*। इसी लिये तो ब्रह्मज्ञानी गण ब्रह्मसत्ता को ही एक मात्र 'सत्य, कहा करते हैं। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन श्लोक प्रचलित है, जिसमें यही कहा गया है कि–

"जगत्-सृष्टि के पहिले जो 'असत्, रूप से अवस्थित था, जगत् सृष्टि में वही 'सत्, रूप से व्यक्त होगया है। असत् शब्द का अर्थ यह है कि इस समय जैसे नाम रूप देश और काल में विभक्त होरहे हैं, उस प्रकार सृष्टि के पूर्व में नहीं थे, तब तो अविभक्त रूप से बीजाकार में अवस्थित थे। अर्थात् अनभिव्यक्त अवस्था का नाम ही 'असत्, है। यह अनभिव्यक्त नाम रूप ही सृष्टि दशा में नानाविध स्थूल नाम-रूपाकार में व्यक्त हुआ है। विशेष रूप से व्यक्त होने का नाम ही 'सत्, है, सत् अवस्था है। जो अविभक्त था, वही विभक्त हो कर विकाश पा गया। ब्रह्मसत्ता ने स्वयं ही अपने आप को विविध नाम रूपों के आकार में विकाशित कर दिया। इसलिये ही ब्रह्म का 'सुकृत, शब्द से निर्देश किया जाता है ‡। वही सबका 'कारण, है। कारण रूप वही एक मात्र 'कर्त्ता, है इसीलिये वह 'सुकृत, है। वह सुकृत है–वह सबका कारण है यह कहने से उसका अस्तित्व है' उसकी सत्ता है सो भी समझा जा सकता है। क्योंकि कारणसत्ता ही कार्याकार से व्यक्त होती और कार्य में अनुप्रविष्ट रहती है। वह सत् वस्तु रस स्वरूप भी कही जाती है। पृथिवी में जो सब सुःख दुःख, हर्ष शोकादि व्यक्त हुए हैं, उनका कारण यह सद्वस्तु ही है। यही 'रस, सुख दुःखादि के भीतर अनुस्यूत होरहा है। रसस्वरूप कहा जाने से भी ब्रह्म सद्वस्तु है, ऐसा बोध होजाता है। क्योंकि कारण सत्ता यदि रसस्वरूप न होती, तो कार्यवर्ग में कदापि सुख आनन्दादि नहीं आ सकता था। जीव शरीर में जो प्राण

---

*"तद्व्यतिरेकेणाभावात् नाम-रूप विकारस्य। विकारजातमेकमेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म अभवत्"--भाष्यकार।

† आकाशादि तावत् वस्तुओं की कारण ब्रह्मसत्ता-कार्यों में अनुस्यूत होरही है। वही हृदयगुहा में द्रष्टा श्रोता मन्ता प्रभृति रूपों से विशेषतया प्रत्यक्ष हुआ करती है।

‡ वेदान्तदर्शन के २।१।१७ सूत्र के भाष्य में इस श्रुति का अर्थ ग्रहण किया गया है। एवं शंकर ने अर्थ किया है कि "यह जगत् सृष्टि के पूर्व सत्‌रूप से स्थित था। वह सत्ता ही जगदाकार में परिणत हुई है। सत्ता को लक्ष्य करके ही "तदात्मानं स्वयमकुरुत" कहा गया है। इस स्थल के 'आत्मानं' शब्द का अर्थ है 'सद्ब्रह्म, । ब्रह्मशक्ति द्वारा ही 'सद्ब्रह्म' कहा जाता है। न कि शक्ति रहित निरुपाधिक ब्रह्म। "बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव"......सत् शब्द वाच्यता (शंकर)"। यह बीजशक्ति वस्तुतः ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं। इस स्थल के 'आत्मा, शब्द का अर्थ है 'शक्ति, ।

अपानादि रूप से ऐन्द्रियिक क्रिया हुआ करती है, इसके द्वारा भी ब्रह्म की सत्ता समझा जाती है। क्योंकि दैहिक इन्द्रियों की यह जो एक ही प्रयोजनार्थ एकत्र सम्मिलित रूप में क्रियाशीलता है वह चेतन आत्मसत्ता के निमित्त ही हुआ करती है। एक ही प्रयोजन साधने के अर्थ यदि वस्तुएँ मिलकर क्रिया करती हैं तो समझना चाहिये कि वे अन्य किसी के प्रयोजन साधनार्थ ही मिलित भाव से क्रिया करती हैं। इन्द्रियों की क्रिया एवं तज्जनित सुखानुभव चेतन आत्म-सत्ता को ही सूचित कर देती हैं, चेतन आत्मसत्ता न होती तो इन्द्रियां क्रियाशील न होसकतीं"।

पुत्र ! ब्रह्म के सम्बन्ध वाली प्राचीन गाथा तुमने सुन ली ! ब्रह्म वस्तु अदृश्य है। जो दृश्य है, वह इन्द्रिय ग्राह्य विकारी है, परन्तु ब्रह्मतत्व अदृश्य होने से अविकारी निर्विकार है। वह अदृश्य शरीर वर्जित है इसीलिये अनिर्देश्य है। किसी शब्दादि द्वारा उसका निर्देश नहीं किया जा सकता क्योंकि जो सविशेष है, जो देश कालबद्ध है, जो विकारी है-उसी का निर्देश करना सम्भव होता है। किन्तु जो निर्विकार है-जो सब विकारों का कारण है-वह कैसे निर्देशित हो सकता है ? जड़ वस्तु की भांति, वह किसी का भी 'आधार, नहीं वह सबका अधिष्ठान है। कार्यवर्ग का जो कुछ धर्म है उससे वह पृथक् है। जो व्यक्ति ऐसे ब्रह्म में प्रतिष्ठा लाभ कर सकते हैं-जो ऐसे ब्रह्म में आत्मभाव स्थापन कर सकते हैं, जो अपने आत्मा के सहित अभिन्न भाव से ब्रह्म की भावना कर सकते हैं, वे कदापि किसी वस्तु से, भय, शोक दुःखादि नहीं पाते। जब तक भेद बुद्धि है, जब तक द्वैत-बोध है, जब तक स्वतन्त्रता का ज्ञान है, तभी तक भयादिकी सम्भावना है। किसी वस्तु को अपने से स्वतन्त्र मानने पर ही तो उससे भय की आशंका हो सकती है। किन्तु जो महात्मा जन किसी भी वस्तु को आत्म-सत्ता से पृथक्-स्वतन्त्र मानने का भ्रम नहीं करते, सर्वत्र केवल एक ब्रह्मसत्ता का ही अनुभव करते हैं, वे भय पायेंगे किससे? भय तो दूसरे से होता है पर इनकी दृष्टि में तो दूसरा है ही नहीं, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ही है। इसलिये ऐसे तत्वदर्शीगण अभय पद का ही लाभ करते हैं। तत्वज्ञ जनों की इस अभय प्राप्ति द्वारा इस अभय प्राप्ति के कारण रूप से, ब्रह्मका भी अस्तित्व समझा जा सकता है। अविद्या द्वारा भेद बुद्धि द्वारा वस्तुएँ आत्म सत्ता से स्वतन्त्र सी जान पड़ती हैं। परन्तु अविद्या का नाश होते ही भेद बुद्धि के चले जाने पर सर्वत्र एक अद्वितीय ब्रह्मसत्ता ही जागरूक हो उठती है। जिनके चित्त में बिन्दुमात्र भी भेद-बुद्धि रहती है, उनको ही भय शोकादि हो सकते हैं। "मैं ब्रह्म

से पृथक् हूं, ब्रह्म मुझसे पृथक् है और सब वस्तुएँ आत्मा से पृथक् हैं"–ऐसा बोध ही भय का हेतु है। किन्तु जो लोग सर्वत्र आत्मदर्शन करते हैं–सर्वत्र एक मात्र आत्मा को ही पाते हैं पदार्थों की सत्ता और आत्मा की सत्ता में कोई भेद नहीं देख पाते वे सर्वदा निर्भय रहते हैं। ज्ञात रहे समस्त जगत् उस ब्रह्म-सत्ता के ही भय से कम्पित होकर निज २ कार्य निर्वाह करता है। इसके द्वारा ब्रह्म-सत्ता का अस्तित्व भी समझा जाता है। इस सम्बन्ध में भी एक प्राचीन गाथा प्रचलित है। वह भी सुन लीजिये—"इसी के भय से वायु प्रवाहित होता है। इसी के शासन भय से सूर्य उदित होकर प्रतिदिन स्वकार्य निर्वाह करता रहता है। अग्नि और इन्द्र इसी के डर से पृथिवी के विविध कार्यों का सम्पादन करते हैं। इन चार पदार्थों के सिवा मृत्यु नामक पदार्थ भी इसी के डर से यथाकाल प्राणियों को स्व-स्थान में ले जाता है। जगत् की कोई भी शक्ति उससे स्वतन्त्र रूप में क्रिया नहीं कर सकती। उसी के भय से, उसी के शासन और नियमों के अनुवर्ती होकर सकल पदार्थ निज २ क्रिया करते रहते हैं।

सौम्य! ब्रह्म के अस्तित्व सम्बन्ध में तुमने जो प्रश्न किया था उसकी आलोचना होगई। हमने ब्रह्मसत्ता के सम्बन्ध में जो कुछ कह दिया है उसका विशेष रूप से अनुभव करना चाहिये।

तृतीय परिच्छेद।

(पंच-कोष का विवरण)

एक दिन फिर कृपालु आचार्य शिष्य को निकट बैठाकर, सस्नेह कहने लगे- "पुत्र! हमने जो ब्रह्म के स्वरूप एवं ब्रह्म की सत्ता की बात कही थी, वह तुम्हारी समझ में आ गई होगी। आज तुम्हें और एक गुरुतर विषय सुनाते हैं। मनको एकाग्र कर इस तत्त्व को हृदय में धारण करो। तुमने जो तीन प्रश्न किये थे उनके उत्तर आज की आलोचनासे भलीभांति समझ जाओगे, यह दृढ़ विश्वास है।

उस दिन कहा गया है कि, एक ब्रह्म-सत्ता ही प्रथमतः सूक्ष्म-रूप से अभिव्यक्त होकर, पीछे इस स्थूल विश्व के आकार में प्रकट होती है। एक ब्रह्म-सत्ता ही विश्व के यावत् पदार्थों में ठँसी पड़ी है।

ब्रह्म-वस्तु ही जगत् का कारण है। सत्, ज्ञान और अनन्त यही ब्रह्म का स्वरूप है। अनन्त ज्ञान और सत्ता-स्वरूप ब्रह्म-वस्तु से सर्व प्रथम आकाश * अभिव्यक्त होता है। महाकाश के एक देश में सूक्ष्म स्पन्दन ही उस ब्रह्म-सत्ता का प्रथम विकाश है। यह सूक्ष्म स्पन्दन ही, करणाकार और कार्य्याकार से क्रिया करने लगता है, तभी एक ओर वायु, आलोक, अग्नि आदि का विकाश होता है एवं दूसरी ओर साथ ही साथ जल उत्पन्न होता है। जल ही अधिक घनीभूत होकर पृथिवी बन जाता है प्राणी राज्य में भी, स्पन्दन क्रिया ही एक ओर इन्द्रियादि का सङ्गठन करती है, दूसरी ओर देह के अवयव बनाती है। यह विषय उस दिन कह चुके हैं†।

---

* जो नित्य आकाश है उसका उत्पत्ति विनाश नहीं। वह परमव्योम वा महाकाश नाम से श्रुति में परिचित है। जब अव्यक्त शक्ति महाकाश में स्पन्दन वा प्राणरूप से प्रकट होती है, तब उस स्पन्दनशक्ति से विशिष्ट आकाश का नाम 'भूताकाश" होता है। यही उत्पन्न होता है।

† स्पन्दन-करणाकार (Motion) और कार्य्याकार (Matter) में व्यक्त होकर स्थूल होता है। यह बात पहले कही गई है। Matter वा अन्न के आश्रय में ही Motion वा प्राण क्रिया करता है। इसीलिये अन्न प्राण का पोषण कारी कहा जाता है। प्रथमखंड में श्वेतकेतु का उपाख्यान देखो। द्वितीयखंड की अवतरणिका के "सृष्टि तत्व" में इसकी विस्तृत व्याख्या दी गई है।

आज पुरुष देह का विस्तृत वर्णन करेंगे। पृथिवी में उत्पन्न ओषधि प्रभृति 'अन्न, प्राणी द्वारा भुक्त होने पर प्राणी की देह और इन्द्रिय दोनों की पुष्टि होती है अन्न पानादि द्वारा पुष्ट इस देह की एक पक्षी के आकारमें कल्पना कर सकते हैं*। यह मस्तक ही पक्षी के मस्तक रूप से विवेचित हो सकता है। हमारे दक्षिण और वाम बाहु को दो पक्ष मान लीजिये। देह का मध्य भाग ही उस पक्षी का भी देह मध्य स्थान है। नाभि से लेकर पादाग्र पर्यन्त अंश को पक्षी का पुच्छदेश कह सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य का अन्नरसमय शरीर एक उत्तम पक्षी के आकारमें कल्पित होसकता है। यह देह अन्न रस द्वारा गठित एवं अन्न रस द्वारा पुष्ट है। इस अन्न या स्थूलांशके सम्बन्धमें एक अतिप्राचीन गाथा प्रचलितहै उस गाथाका अर्थ यह है कि

"रसादि रूपसे परिणत 'अन्न' द्वारा ही पृथिवीस्थ स्थावर जङ्गमादि समस्त पदार्थ उत्पन्न, गठित और पुष्ट हुआ करते हैं। अन्न न रहता तो प्राणन-क्रिया ही न हो सकती थी। उद्भिद् आदि में जो रसपरिचालनादि क्रिया स्पष्ट देखी जाती है, अन्न ही उसका हेतु है। प्राणीवर्ग में भी, जो प्राणक्रिया और जीवनधारण सम्पादित होता है; उसका भी कारण अन्न ही है। अन्नांश से ही इन्द्रियादि पुष्ट तथा क्रियाशील होते हैं। गर्भस्थ भ्रूण में अन्नांश के आश्रय से ही पहले प्राण अभिव्यक्त होता है। इसी लिये अन्न 'ज्येष्ठ, कहा जाता है। अन्न ही शरीर में ओषधि स्वरूप है। मृत्यु के समय प्राणीदेह अन्नरूप में ही परिणत होजायगी। भूतवर्ग जिसे भक्षण वा भोग करता एवं जो भूतवर्ग का भक्षण करता (अर्थात् जिसके आश्रय में सब अवस्थाओं में भूतवर्ग अवस्थान करता) है, उसी का नाम 'अन्न; है Matter है। जो तत्वज्ञ साधक अन्न में ब्रह्मदृष्टि करते हैं अन्नकी ब्रह्मबोध से उपासना करते हैं, वे ही यथार्थ तत्वदर्शी हैं। देहके बाहरी अवयव इस अन्न द्वारा ही गठित हैं। प्राणी देह में यही 'अन्नमय कोष, के नाम से प्रसिद्ध है।"

इस स्थूल अन्नमय कोष के भीतर एक और कोष है। उसका नाम 'प्राणमय

---

* भाष्यकार ने कहा है कि मनुष्यवर्ग बाह्य शरीरादि को ही 'आत्मा, मान बैठता है। आत्मा के स्वातन्त्र्य को भूलकर, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन इत्यादि को ही आत्मा समझता है। आत्मा सकल वस्तुओं का अन्तरतम एवं सकल वस्तुओं से ही स्वतन्त्र है, यह बोध शीघ्र नहीं होता। किसी एक बाहरी अवलम्बके बिना सहसा निरुपाधिक, सर्वातीत ब्रह्म की धारणा पहले नहीं होती इसीलिये श्रुति में पञ्चकोष का विचार उपदिष्ट हुआ है। स्थूल से सूक्ष्म फिर और भी सूक्ष्म में प्रवेश करके अन्त में परम सूक्ष्म ब्रह्म तक पहुँचना उचित है।

कोष, है। यह अन्नमय कोष को सर्वतोभाव से व्याप्त कर रहा है। अन्नमय कोष से यह सूक्ष्म एवं उससे अन्तरतम है। प्राणमय कोष के द्वारा ही अन्नमय कोष परिपूर्ण हो रहा है गलित द्रव धातु को किसी सांचे में ढाल देने पर, वह जैसे इस सांचे के आकार में आविर्भूत होजाता है प्राणमय कोषका आकार भी अविकल अन्नमय कोष के अनुरूप है। अन्नमय कोष की पक्षी के आकार में कल्पना जैसे की गई है, वैसे ही प्राणमय कोष को भी पक्षी के आकार में कल्पित कर सकते हैं। प्राणन क्रिया पांच भाग में विभक्त होकर * दैहिक समुदय क्रियाओं का निर्वाह करती है। पांच भागों का नाम है प्राण क्रिया अपान क्रिया, समान क्रिया, व्यान क्रिया और उदान क्रिया। प्राण के ही ये पांच भेद हैं। प्राण ही † इस प्राणमय कोषरूप पक्षी का मस्तक है। व्यान इसका दक्षिण पक्ष, एवं अपान इसका वाम पक्ष है। समान इस पक्षी देह का मध्यांश है। पृथिवी को ही इस पक्षी का पुच्छ कह सकते हैं। क्योंकि पृथिवी का अवलम्बन करके ही प्राणादि वायु (क्रिया) अवस्थान करती है। नहीं तो देह ऊपर को उत्क्षिप्त हो जाती, या गुरुत्ववशतः पतित हो जाती ‡।

इस प्राणमय कोषके सम्बन्ध में एक पुरानी गाथा है, उसका तात्पर्य यह है—

'अग्नि सूर्यादि आधिदैविक पदार्थ, प्राणशक्ति से ही उत्पन्न हुए हैं एवं प्राण क्रिया का ही अनुवर्तन कर, निज निज क्रिया का सम्पादन करते हैं। क्योंकि प्राण स्पन्दन शक्तिमात्र है। सूर्य अग्नि प्रभृति की क्रियाएं भी स्पन्दन से पृथक् नहीं हैं। चक्षु आदि आध्यात्मिक इन्द्रियवर्ग भी प्राण से ही उत्पन्न होता है एवं प्राणक्रिया का ही अनुवर्तन करके अपना २ काम करता है +। प्राण का स्पन्दन रहे बिना चक्षु आदि की कोई क्रिया नहीं हो सकती। अतएव मानना चाहिये कि प्राण क्रिया से

---

* प्रश्नोपनिषद् में इन पांच क्रियाओं का विस्तृत विवरण है। जो इसी ग्रन्थ में पहले लिख आये हैं। देखो तृतीय परिच्छेद का द्वितीय अंश।

† मुख्य प्राण मुख और नासिका में अपनी क्रिया करता रहता है इसलिये यह मस्तक स्थानीय कहा गया है। देहमध्यगत आकाश में समान की क्रिया होती है, इसलिये यह देह का 'मध्यांश, कहा गया है।

‡ 'अन्न, या जड़ांश ही प्राण का आश्रय है। इसलिये ही पृथिवी का प्राणमय कोष के 'पुच्छ' नाम से निर्देश किया गया है। "सैषा (पृथिवी) पुरुषस्य अपानमवष्टभ्य„ इत्यादि प्रश्नोपनिषद् देखिये।

+ 'देवताओं का झगड़ा' एवं 'इन्द्रियों का झगड़ा, इन दोनों उपाख्यानों में यह तत्त्व विशेष रूप से विवृत हुआ है। 'संवर्ग विद्या, में भी यह तत्व है। प्रथम खण्ड देखना चाहिये

स्वतन्त्र रूप में इन्द्रियादि की कोई क्रिया नहीं है। मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणीवर्ग प्राण स्पन्दन का ही अनुवर्तन करता है नहीं तो, कोई चेष्टा कोई व्यापार इससे नहीं हो सकता था। अतएव ससीम परिच्छिन्न स्थूल अन्नमय कोष ही प्राणियों की स्थिति का एकमात्र कारण है सो नहीं; अपरिच्छिन्न और सर्वदेह व्याप्त प्राणमय कोष भी उन की स्थिति और क्रिया का कारण है। यह सर्व व्यापक प्राणमय कोष, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की शारीरिक क्रियाओं का मूल कारण है। प्राणशक्ति के अन्नपानादि द्वारा परिपुष्ट होने से अन्यान्य इन्द्रियों की भी पुष्टि होती तथा क्रिया सामर्थ्य जन्मता है। इसीलिये प्राण को 'आयु" भी कहते हैं। चक्षुकर्णादि इन्द्रिय क्रियाएं प्राण के ही अंशमात्र हैं। जितने दिन शरीर में प्राण है उतने दिन ही जीवन है। शरीर की यावतीय क्रियाओं का चेष्टाओं का मूल यह प्राण है।* जो व्यक्ति प्राण में ब्रह्मदृष्टि कर के उपासना करते हैं "मैं ही प्राण हूं" इस प्रकार भावना करते हैं उन की अकाल मृत्यु नहीं होती शत वत्सर पर्यन्त आयु बढ़ती है।

इस से भी अधिक सूक्ष्मतर अन्तरतर और व्यापकतर एक कोष है उसका नाम "मनोमय" कोष है यह कोष प्राणमय कोष को व्याप्त कर रहा है एवं प्राणमय कोष के अनुरूप इस का आकार है। इस की भी पक्षी के आकार रूप से कल्पना की जा सकती है। वैदिक यज्ञों में साधकगण जिन सब मंत्रों को उच्चारण कर के यज्ञ का काम करते हैं वे मन्त्र प्रधानतः तीन प्रकार के हैं। पद्यात्मक मन्त्र ऋक् गद्यात्मक मंत्र यजु और गानात्मक मंत्र साम हैं। मंत्र वा शब्दमात्र ही मनके संकल्पाधीन है। मन के संकल्प वा इच्छा द्वारा प्रेरित होकर कंठादि स्थानों में आहत होकर ही शब्द वा मंत्र उच्चारित वा अभिव्यक्त हुआ करते हैं। वर्ण व अक्षर निबद्ध पदकदम्ब, जो किसी अर्थ को प्रकाशित करता है 'वाक्य" कहलाता है। वाक्य ही शब्द का प्रतिपाद्य विषय है और शब्दमात्र ही मन के ही वृत्ति विशेष हैं।† अतएव यजुमंत्र इस मनोमय पक्षी के मस्तक रूप से निर्देशित हो सकते हैं साम एवं ऋक् मन्त्र इस के दक्षिण और वाम पक्ष हैं। वेद का ब्राह्मणादि विभाग ही इसकी देहका मध्यांश है। कर्मप्रधान अथर्वादि मन्त्र ही इसके पुच्छ-

---

* "देहे चेष्टात्मक जीवन देहत्वं प्राणस्येति "आयुत्व" "निर्देशः,, वेदान्तभाष्ये रत्न प्रभा।

† "मनोवृत्त्यवच्छिन्नमात्मविज्ञानं मन्त्राः,, मनोवृत्तीनां चिद्व्याप्तत्वेनैव सिद्धेः चिदात्मतामाह,, ज्ञानामृत।

स्थानीय हैं ।* प्राणी शरीरके इस मनोमय कोषके सम्बन्धमें जो प्राचीन गाथाहै उसका स्वरूप यह है ।

"मन के सहित वाणी, ब्रह्मवस्तु को न पाकर लौट आती है । ब्रह्मानन्द के अनुभूत होनेपर फिर किसी प्रकार का भय नहीं रहता द्वैत बोध सर्वथा नष्ट हो जाता है ।"

इस मनोमय कोष से स्वतन्त्र एवँ सूक्ष्मतर व्यापकतर और अन्तरतर एक और कोष है। उस का नाम "विज्ञानमय कोष है ।† इस के द्वारा ही पूर्वोक्त मनोमय कोष व्याप्त हो रहा है। मनोमय कोष के आकार के अनुरूप इस का आकार है। सुतरां विज्ञानमय कोष की भी कल्पना पक्षी रूप से की जा सकती है। यज्ञादि क्रिया अन्तःकरण द्वारा निरीकृत होकर ही सम्पादित होती है। किसी भी कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के सम्पादनार्थ कोई अवसर क्यों न हो तदर्थ पहले स्थिरनिश्चय बनना पड़ेगा। ठीक निश्चय कर लेने पश्चात् ही कर्त्तव्य विषय पर श्रद्धा उपस्थित होती है। श्रद्धा को ही इस विज्ञानमय कोष का मस्तक मान लीजिये। ऋत एवँ सत्य इसके दक्षिण और वाम पक्ष हैं। चित्त की एकाग्रता ही इसका मध्यांश है। जो आत्मवान् हैं–जो एकाग्रता विशिष्ट और मनन परायण हैं,–श्रद्धा, ऋत, सत्यादि ही उनकी उस एकाग्रता के अङ्ग स्वरूप होते हैं। इस लिये ही चित्त की एकाग्रता को विज्ञानमय कोष (बुद्धि) का प्रधान अंग माना जाता है। इस विज्ञानमय कोष का पुच्छ वा प्रतिष्ठा महत्तत्व है। महत्तत्व ही सबसे पहिले अभिव्यक्त हुआ था एवं यही समस्त विज्ञान का मूल कारण है ।‡ इस कोषके सम्बन्ध में एक बड़ी अच्छी पुरानी गाथा यह है—

* श्रुति ने सांसारिक कार्य की बात न कहकर यज्ञादि क्रिया की बात ही कही है एवं सांसारिक शब्द या वाक्य की चर्चा न कर के यज्ञादि क्रिया में जो मन्त्रादि व्यवहृत होते हैं उसी का उल्लेख किया है। मनका सङ्कल्प शब्द द्वारा ही व्यक्त होता है। इसीलिये शब्द ही मन का अङ्गस्थानी कहा गया है।

† अध्यवसायात्मक बुद्धि वृत्ति का नाम 'विज्ञान' है। एक अन्तःकरण नामक द्रव्य ही वृत्ति या क्रिया के भेदवश मन और बुद्धि इन दो नामों से व्यवहृत होता है।

‡ अव्यक्त शक्ति सबसे पूर्व स्फुरण स्पन्दन रूपसे व्यक्त होती है। उसी का नाम है 'महत्तत्व, वा 'हिरण्यगर्भ, है यही फिर प्राण क्रिया एवं बल रूपसे क्रिया करती है। सब विज्ञान सब क्रिया इसीसे उद्भूत होते हैं। क्योंकि प्राणी देह में प्राणशक्ति ही अभिव्यक्त होकर चक्षु कर्णादि इन्द्रियों का गठन करती है। इन्द्रियां ही शब्द स्पर्शादि विज्ञानों की हेतुभूत हैं।

'प्राणी-शरीर में जितने प्रकार की प्रवृत्ति वा क्रिया है; उसका मूल 'विज्ञान' ही है। एवं विज्ञान ही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत हुआ करता है। आध्यात्मिक भाव से जो 'विज्ञान; है वही आधिदैविक भाव में 'प्राण' वा महत्तत्व है। विज्ञान ही यज्ञादि सकल क्रिया का मूल प्रवर्त्तक है एवं यही (प्राणरूप से) सर्व प्रकार क्रिया का मूल-बीज है। सब इन्द्रियां (आध्यात्मिक) एवं सब देवता (आधिदैविक सूर्यादि) इस विज्ञान की ही क्रियाके अनुगत होकर अपना अपना काम करते रहते हैं। जो भाग्यवान् इस विज्ञानमय कोष में ब्रह्मदृष्टि करके उपासना करते हैं- मैं ही विज्ञानमय कोष हूं,- यों अभिन्न भाव से भावना करते हैं, वे सब प्रकार के पातकों से मुक्त होकर, सर्वविध कामनाओं से अतीत हो जाते हैं। वे ही 'आत्मकाम हो सकते हैं, उनका फिर जड़ शरीर में आत्माभिमान नहीं रहता, ।

पाठक लक्ष्य करके देखें कि, अन्नमय कोष से आरम्भ कर विज्ञानमय कोष पर्यन्त, आध्यात्मिक कोषों का विवरण कथित हुआ है। देह में पहले प्राणशक्तिकी अभिव्यक्ति होती है एवं उसकी क्रिया की अभिव्यक्ति और पुष्टि के सङ्ग २ अन्न वा Matter भी अभिव्यक्त व पुष्ट होता रहता है। इस प्रकार प्राणशक्ति से द्विविध इन्द्रियों वा विज्ञानों एवं अन्नांश से देह के अवयवों का संगठन होता है। तभी पाठक समझलें कि श्रुति मत में देह के दोनों अंश प्रधान हैं, एक 'प्राणांश' दूसरा उसका आश्रय भौतिक अंश वा 'अन्नांश, प्राणांश की क्रिया द्वारा ही विज्ञान व्यक्त होते हैं। शंकर ने वृहदारण्यक भाष्य में कह दिया है कि, "व्यूढेषु तु करणेषु विज्ञानमय उपलभ्यते" प्राणशक्ति जितना ही चक्षु कर्णादि इन्द्रिय रूप से व्यक्त होकर काम करती रहती है उतना ही एक अखण्ड ज्ञान (चैतन्य) विविध विज्ञान रूप से प्रकाशित होता है। सुतरां विज्ञानमय कोष और प्राणमय कोष मूलतः एक ही वस्तु है। ज्ञान के विकाश की ओर देखने से जिसे विज्ञानमय कोष कहा जाता है। क्रिया के विकाश की ओर वही प्राणमय कोष है। इसी लिये कहा गया है कि, महत्तत्व ही उन दोनों का कारण बीज है। एक ही महत्तत्व नामक द्रव्य का ज्ञानशक्ति और प्राणशक्ति नाम से दो प्रकार का विकाश जानिये। इसी से श्रुति हिरण्यगर्भ वा महत्तत्व को विज्ञानमय कोष का "पुच्छ" बतलाती है। हिरण्यगर्भ को विश्वव्यापिनीशक्ति(Universal Force) कहा जाता है। बाहर जैसे यह प्राण (Motion) और अन्न (Matter) रूपसे स्थूलभावमें काम करती है, वैसेही भीतर (प्राणी देहमें) भी प्राण और अन्न रूप से इन्द्रियों और देहावयवों का गठन करती है। इस भांति यही स्थूल अन्नमय कोषरूप से व्यक्त हो गई है। पञ्चकोष विद्या में श्रुति ने शक्ति का यह महा एकत्व ही सूचित किया है।

पूर्वोक्त विज्ञानमय कोष से भी अधिक व्यापकतम अन्तरतम एवं सूक्ष्मतम 'आनन्दमय-कोष; है। * इस कोष का आकार, विज्ञानमय-कोष के आकारानुरूप है। आनन्दमय कोष के द्वारा ही विज्ञानमय कोष सर्वतोभाव से व्याप्त और पूर्ण हो रहा है। यह भी पक्षि देहाकार में परिकल्पित हो सकता है। प्रिय, मोद और प्रमोद ये आनन्द के अवयव स्वरूप हैं एवं आनन्द ही प्रिय मोद और प्रमोदादि सर्व प्रकार सुख के मध्य में अनुस्यूत हो रहा है मित्रदर्शनजन्य सुख ही प्रिय नाम से अभिहित किया जाता है। यह प्रिय ही पक्षिरूप से कल्पित इस आनन्दमय कोष का मस्तक है। प्रियलाभ के उद्देश्य से ही लोग विज्ञान और कर्म का अवलम्बन करते हैं अतएव प्रिय ही इसका मस्तक स्थानीय है। क्योंकि आनन्द प्राप्ति ही विज्ञान और कर्म का एक मात्र उद्देश्य है। प्रियलाभ निमित्त हर्ष वा 'मोद, इसका दक्षिण पक्ष एवं तज्जनित प्रकृष्ट आह्लाद वा 'प्रमोद, इसका वाम पक्ष है। निरुपाधिक ब्रह्मानन्द ही इस पक्षी का पुच्छ है। चित्त का तमोभाव अपसारित होने पर यह आनन्दमय-कोष ही सुखादि आकार से अन्तःकरण में व्यक्त होता है;-इसी का नाम है वैषयिक सुख। उत्तेजक विषयोंके क्षणिकत्व निबन्धन से यह वैषयिक आनन्द भी क्षणिक है। विद्या ब्रह्मचर्य्य श्रद्धादि के अनुशीलन द्वारा चित्त की कलुषता दूर होने पर, जब चित्त निर्मल और प्रसन्न होता है, तब हो-आनन्द विपुल रूप से व्यक्त होता है। इसी का नाम 'रस, है। इस रसस्वरूप आनन्द का ही अंश विशेष पृथिवी में प्रकट हुआ है एवं प्राणीगण उसी के भोगमें पड़े हैं। वैषयिक कामना के तृप्तिजनित आनन्दकी अपेक्षा, परमात्ममात्र-कामनाकारी मुमुक्षु के चित्त की उत्कर्षता से उत्पन्न आनन्द शतगुण अधिक होता है †। चित्त की अतिशय उत्कर्षता होते ही साधक फिर अपने साथ ब्रह्म वस्तु का कोई भेद नहीं समझता। सब लोकों का सब प्रकार का

* यह आनन्द प्रकृत निरुपाधिक आनन्द नहीं। यह ब्रह्म की शक्ति संवलित अवस्था है। इसलिये ही निरुपाधिक आनन्द का इस आनन्दमय कोष के पुच्छरूप से निर्देश किया गया है।

† इस स्थल में, श्रुति में आनन्द की अभिव्यक्ति पर मीमांसा की गई है। इस भूलोक की अपेक्षा अन्य भी क्रमोन्नत कितने ही लोक हैं। उन लोकों में क्रमोन्नत जीव और देवता निवास करते हैं। जो लोग उत्तम विज्ञान और उत्तम कर्मानुष्ठान द्वारा 'गन्धर्व, लोक में जाते हैं वे वहाँ पर भूलोक से सौगुने अधिक आनन्द का उपभोग करते हैं। गन्धर्व लोक, भूलोकापेक्षा उन्नत लोक है। वहांके अधिवासी सूक्ष्मदेहेन्द्रिय सम्पन्न हैं, उनकी गतिका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। सुख दुःख और ग्रीष्मादि द्वन्द्वसहिष्णुता इनमें बड़े परिणाम की है। इससे भिन्न पितृ लोक है

आनन्द उस एक निरतिशय 'रस' स्वरूप ब्रह्ममें ही एकीभूत हो रहा है। उस प्रस्रवण से ही नानाभाँति के सुख-दुःखादि विविध-आकारों में व्यक्त होकर सब लोकों में अनेक प्रकार से फैले पड़े हैं। ये सब सुख-दुःखादि उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म-वस्तु से पृथक् (स्वतन्त्र) कोई वस्तु नहीं हैं। जो यथार्थ ब्रह्मवेत्ता हैं, वे इस निरतिशय आनन्द को पाने में समर्थ होते हैं।

उत्कृष्ट और निकृष्ट उपाधियों में एक ही ब्रह्म-सत्ता अनुस्यूत हो रही है। अभिव्यक्त पदार्थों में सूर्य ही सर्वोत्कृष्ट है। इस सूर्य मण्डल में जो ब्रह्म-सत्ता अनुप्रविष्ट है, आध्यात्मिक इन्द्रियों में भी वही ब्रह्मसत्ता अनुप्रविष्ट है। उपाधि के भेद से, उपाधि मध्यगतसत्ताका भेद प्रतीत होता है। किन्तु स्वरूपतः ब्रह्म-सत्तामें कोई भेद नहीं। प्रकृत तत्त्वदर्शी सारी उपाधियों उत्कृष्ट और निकृष्ट सकल पदार्थोंमें उस एक ब्रह्म-सत्ता का ही अनुसन्धान करते हैं, ब्रह्म-सत्ता ही देखते हैं। वे किसी भी पदार्थ को उस सत्ता से भिन्न नहीं जानते। वे समझते हैं कि किसी भी पदार्थ की स्वतन्त्र, स्वाधीन सत्ता नहीं है। ब्रह्म-सत्ता में ही पदार्थों की सत्ता है। वे किसी स्थूल पदार्थ को भी अपनी अन्नमय देह से स्वतन्त्र नहीं समझते। अपने प्राणमय कोष से "स्वतन्त्र" कहकर, बाह्य जड़-पदार्थ-शक्तियों का अनुभव नहीं करते। उन्हें ज्ञात हो गया है कि मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों से कोई

जो कल्पान्तस्थायी है। इस लोक में आनन्द की अभिव्यक्ति, गन्धर्वलोकापेक्षा सौ गुनी अधिक है। इस लोक से भी उन्नत अन्य लोक हैं। 'आजानलोक, एवं तदपेक्षा समुन्नत 'कर्मदेवलोक, है। जो लोग स्मार्त कर्मानुष्ठान में नियुक्त रहकर चित्त की पवित्रता बढ़ाते हैं, वे आजानलोक में गमन करते हैं। पितृलोकापेक्षा इस स्थान के जीव शतगुण उन्नत हैं एवं वहाँ का आनन्द भी शतगुण उत्कृष्ट है। वैदिक कर्मानुष्ठानकारी कर्मदेवलोक को जाते हैं। इस लोक का आनन्द आजान लोक से सौगुना बड़ा है। इससे ऊंचा देवलोक है। इसमें कर्मदेवलोकसे भी सौगुना अधिक आनन्द है। यह देवलोक बहुविध है। ये सकल लोक क्रमोन्नत रूप से अभिव्यक्त हो रहे हैं। सर्वापेक्षा श्रेष्ठ प्रजापति लोक वा ब्रह्म-लोक है। यह उत्कृष्टतम लोक है। इस लोक में आनन्द की अभिव्यक्ति निरतिशय है। जो साधक वैषयिक सुख की कामना नहीं करते, उसके बदले केवल ब्रह्मप्राप्ति ही जिनका लक्ष्य है, जिनकी कामना ब्रह्मलोक में निबद्ध है, वे पूर्वोक्त गन्धर्वलोकादि के अधिकारी होते हैं। चित्त जितना ही शुद्ध होता जाता है, उतना ही वे ब्रह्मलोक की ओर बढ़ते जाते हैं। ब्रह्मनिष्ठा, निष्पापता वैषयिक-कामना-शून्यता-ये तीन इसके साधन हैं। ऐसे साधक ही अन्त में सुदृढ़ अद्वैतानन्द के अधिकारी हुआ करते हैं।

भी वस्तु स्वतन्त्र नहीं है। एक ही शक्ति भीतर और बाहर नाना रूप धारण कर बिखरी पड़ी है। उसकी भी ब्रह्म-सत्ता से व्यतीत स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, नहीं है।

ब्रह्म-सत्ता से कोई भी वस्तु भिन्न नहीं, स्वतन्त्र नहीं, ऐसे ही बोधका नाम 'विद्या, है। ब्रह्म-सत्ता से स्वतन्त्र जो वस्तुओं का बोध होता है सो अविद्या का प्रभाव है *। अविद्या नाश होने पर यह भेद-बुद्धि चली जाती है, सर्वत्र ब्रह्मही ब्रह्म दीखने लगता है। फिर भेद-बोध, विशेषत्व-बोध किञ्चित् भी नहीं रह जाता। ब्रह्म-सत्ता से 'ईश्वर, भिन्न है या 'जीव' भिन्न वस्तु है ये अविद्याग्रसितों की बातें हैं। वास्तव में ईश्वर या जीव कोई भी ब्रह्मसत्ता से भिन्न नहीं होसकता। एक ही सत्ता सर्वत्र अनुप्रविष्ट है। किसी की भी उससे स्वतन्त्र-सत्ता नहीं है।

प्रकृत तत्वदर्शी लोग जाग्रत् अवस्था में किसी वस्तुको स्वतन्त्र नहीं समझते अज्ञानी ही जाग्रदवस्था में पदार्थ राशि को स्वतन्त्र समझा करते हैं। किन्तु सुषुप्ति में सभी ब्रह्म स्वरूप को ही प्राप्त हुआ करते हैं। इसलिये सुषुप्तिकाल में क्या अज्ञ क्या विद्वान् किसीको भी भेद-बुद्धि, विशेषत्व बोध नहीं रहता। सुषुप्ति में आत्मा से व्यतिरिक्त रूप में -आत्म सत्ता से पृथक् रूप में-कोई भी ज्ञान नहीं रहता। अतएव, सुषुप्ति की अवस्था ही आत्म-स्वरूप प्राप्ति की अवस्था है और यही स्वाभाविक अवस्था है। यही अविकारी, निर्विशेष अवस्था है। क्योंकि जो विकारी अवस्था है, वह अन्य के आधीन है, वह किसी क्रिया द्वारा विकृत है। जिसका स्वरूप दूसरे के आधीन है, वह कभी भी प्रकृत स्वरूप नहीं हो सकता सत्ता ही यथार्थ वस्तु है। इसकी स्वरूप विच्युति कदापि नहीं होती। यह सर्वदा ही स्वतन्त्र है, किसी के भी आधीन नहीं। यह अविकारी नित्य है। सुषुप्ति में, इस आत्म-सत्ता के सहित एकीभूत होकर, जीव अवस्थान करता है।

ब्रह्म-सत्ता ही सर्वत्र अनुप्रविष्ट हो रही है। वही सबका अधिष्ठान है। सर्वत्र इस अधिष्ठान सत्ता वा कारण-सत्ता का बोध होना अति आवश्यक है। अन्नमय प्राणमय प्रभृति कोषों में एक ही आनन्द-स्वरूप ब्रह्म-सत्ता अनुप्रविष्ट हो रही है। यही ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। † परन्तु ब्रह्म-सत्ता को स्वत-

---

* "स्वाभाविक्या अविद्यया'''नामरूपोपाधि दृष्टिरेव भवति स्वाभाविकी, तदासर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारोऽस्ति । अयं वस्त्वन्तरास्तित्वाभिनिवेशस्तु विवेकिनां नास्ति,"- बृहदारण्यकभाष्य, २।४।१३ १४ "अविद्या आत्मनोऽन्यत् वस्त्वन्तरं प्रत्युपस्थापय,, ४।३।२०।२१

† इस प्रकार ही, जगत् के होते भी असंख्य नाम रूपों के रहते भी ब्रह्म सत्ता की अद्वितीयता अटूट बनी रहती है। क्योंकि ब्रह्मसत्ता स्वतन्त्र रहकर ही सब पदार्थों में अनुस्यूत है। सब विकारों में ही वह 'सत्ता, अनुगत हो रही है। इस सत्ता को विकारी मानकर, विकारों द्वारा वह सत्ता 'संसृष्ट, है ऐसा बोध करना ही अज्ञानता का कारण है। 'स्वरूपेण अकल्पितस्य संसृष्ट रूपेण कल्पितत्वमिष्टम्, आनन्दगिरि (माण्डूक्य कारिका)

सत्ता को हम सर्वदा ही भूल जाते हैं। हम बाह्य पदार्थों को ही आत्मा मानते रहते हैं, उन्हें छोड़ कर आत्मा की सत्ता स्वतन्त्र है, सो बात हम भूल जाते हैं। देह इन्द्रिय प्रभृतिकी ही स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता है,-उनके सिवाय और आत्मा कहाँ है? —हम नित्य ऐसा ही बोध करते हैं। इसी का नाम अविद्या, है। इनके भीतर आत्म—सत्ता ही अनुप्रविष्ट है, उस आत्मसत्ता से भिन्न इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है—यह सत्य हमें भासित ही नहीं होता। अस्तु, आवश्यकता इसी बात की है कि, हम कारण-सत्ता को सारे कार्यों में ओतप्रोत समझें। और सर्वत्र आत्मसत्ता का दर्शन करना सीखें। सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन करने पर, फिर किसी भी वस्तु से हमें भय नहीं लगेगा। कारण कि, द्वितीय सत्ता की प्रतीति ही भयप्रदा हुआ करती है। जो महात्मा सर्वदा सर्वत्र अपने आपको ही पाते हैं, वे अवश्य ही निःशंक, निर्भय, आनन्दमग्न रहते हैं, इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं। वे ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जाते हैं।

ब्रह्मानन्द के सम्बन्ध में दो प्राचीन कथन तुम्हें सुनाते हैं-

'ब्रह्म—सकल कल्पनाओं का अधिष्ठान है, सब प्रकार की क्रियाओं का बीज है, सर्वविध विशेषत्व-वर्जित असाधारण—स्वरूप है। जिसका विशेषत्व है, उसी की सत्ता या अस्तित्व तो समझ में आता है। तब क्या ब्रह्म-वस्तु शून्य पदार्थ है? नहीं। वह सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप है। इस ब्रह्म को भूल कर अज्ञानान्ध जीव, नाम-रूपों के ही स्वतंत्र स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास स्थापन कर लेते हैं। यह नहीं समझते कि, ये तो उस ब्रह्म की सत्ता द्वारा ही सत्ता-विशिष्ट हैं। इनकी निजी कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं, इनमें जो महती सत्ता अनुस्यूत है, वही यथार्थ में सत् है,—उसी का वास्तविक अस्तित्व है। ब्रह्म सत्ता ही प्रकृत सत्ता है। सब को इस नित्य सत्ता पर ही भलीभाँति अपना पूर्ण विश्वास स्थापित करना चाहिये। जो लोग ब्रह्म के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, वे ही वर्णाश्रमादि धर्ममार्ग के ऊपर भी संदेह रखते एवं सामाजिक विशृङ्खला साधन करते और सत् मार्ग से परिभ्रष्ट हो जाया करते हैं। ब्रह्म-सत्ता के विश्वासी कदापि सुपथ से परिच्युत नहीं होते। ब्रह्म सर्व प्रकार के विशेषत्व से शून्य होकर भी, 'सत्' है। वह साधारण ज्ञान-स्वरूप है, साधारण शक्ति स्वरूप और अनन्त है।

कर्मेन्द्रिय,—ब्रह्म-वस्तु इन्द्रियों के अगम्य है*। और ब्रह्मानन्द के अनुभवी भय-शोक से रहित हो जाते हैं। वे इस परमानन्द-स्वरूप ब्रह्म-वस्तु से स्वतंत्र किसी तत्व को नहीं जानते। 'मैंने पापाचरण किया है, मैंने भ्रष्ट आचरण किया है।'—ऐसे अनुताप ऐसे साधक के चित्त में पीड़ा प्रकट नहीं कर सकते। क्योंकि साधक पुण्य और पाप को भी ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं समझता। पुण्य और पाप का निजी कोई स्वतंत्र स्वरूप नहीं, अद्वैत आनन्दस्वरूप ब्रह्म—सत्ता में ही इनकी सत्ता है अतएव ये साधक पुण्य और पापको भी आत्मभाव सेही देखते हैं।† ऐसे साधक सर्वत्र अद्वैत आत्मभाव स्थापित कर देते हैं। सर्वत्र एक आत्म-सत्ता का ही अनुभव सुदृढ़ हो जाता है।

हे सौम्य! यह हमने तुम्हारे लिये पञ्च—कोषके विवरण सहित ब्रह्म के स्वरूप एवं अस्तित्व का वर्णन कर दिया। तुम अपने हृदय में इन उपदेशों को भली भांति धारण करो।

यह कह कर आचार्य महोदय नीरव हो रहे। और शिष्य अपने को कृतार्थ मानने लगा।

—o—
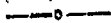
तैत्तिरीय उपनिषद् में "पञ्चकोष" की बात आलोचित हुई है श्रुतिने इस शरीर को पांच कोषों में विभक्त कर लिया है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, इन चारों कोषों को लेकर शरीर गठित है। इनके अतिरिक्त एक आनन्दमय कोष है।

इस शरीर में दो प्रधान अंश है। एक स्थूलांश और दूसरा सूक्ष्मांश है। स्थूलांश ही अन्नमय कोष है। अन्न पान द्वारा उपचित एवं परिपुष्ट देह व देहावयवों को लेकर ही अन्नमय कोष है। यह अन्नमय कोष ही अन्य कोषों का स्थूल भूतात्मक आधार है। अन्य सब कोष सूक्ष्मांश को लेकर हैं। शुक्र शोणित संयोगसे यह शरीर उत्पन्न होता है। शिर, पाणि, पादादि अवयव विशिष्ट स्थूल देह ही अन्नमय कोष नाम से सुप्रसिद्ध है। यह प्रधानतः अन्न पानादि विकार से उत्पन्न और पुष्ट होने से उक्त नाम का अधिकारी हुआ है। अन्न (खाद्यद्रव्य) प्राणी द्वारा भुक्त होकर रसादि रूप से परिणत होता है एवँ अन्त में शुक्र और शोणित के आकार में

*वाणी सर्वप्रकार अभिधेय की प्रकाशक है। जो कुछ अभिधेय वा वक्तव्य विषय है, वाणी ही उसको प्रकाशित करती है। और यावतीय विज्ञानों का प्रकाशक मन है किन्तु ये दोनों, ब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। ब्रह्म ही इनका प्रकाशक है।

† छान्दोग्य उपनिषद् में भी अविकल ऐसा ही निर्देश है। "ननु सर्वात्मत्वे दुःख-सम्बन्धोऽपि स्यादिति चेन्न। दुःखस्यापि आत्मत्वोपगमात् अवरोधः इत्यादि (८।१२।४।५।)

परिणाम को प्राप्त होता है। शिशु शरीर इस अन्नपान द्वारा ही क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होता है। इस कोष में जल और पृथिवी का अंश ही प्रधान है।

इस अन्नमय कोष के भीतर एवं इस के आश्रय में प्राणमय कोष अवस्थित है यह प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, इस पांच प्रकार में विभक्त होकर देह की सब प्रकार की क्रिया के निर्वाह का मूल रूप हो रहा है। नाना प्रकार के कार्यभेद से एक ही शक्तिके विविध नाम हो जाते हैं। दैहिक समुदय चेष्टा के मूल में यह प्राणशक्ति अवस्थित है। यह प्राणशक्ति न होती तो एक ओर जैसे निःश्वास प्रश्वास लेना असम्भव हो जाता, वैसे ही इधर कथन, ग्रहण, आदान, त्याग, विसर्जन प्रभृति दैहिक कोई काम न बन सकता। यह प्राणशक्ति ही इन्द्रिय गोलकों का (अन्नांश द्वारा) निर्माण कर उन गोलकों के आश्रय में भिन्न भिन्न इन्द्रियों के दर्शन श्रवणादि व्यापारों का निर्वाह करती है। समस्त ऐन्द्रियिक क्रिया एवं रस रुधिरादि की चलनात्मक क्रिया के मूल में प्राणशक्ति का अस्तित्व है। सुषुप्ति काल में इस प्राणशक्ति में ही सब इन्द्रियों की क्रिया विलीन हो जाती है। और फिर जागने पर उस प्राणशक्ति से ही सब ऐन्द्रियिक क्रिया विभक्त हो पड़तीहै यह विषय समझाने के अभिप्राय से किसी किसी उपनिषद् में प्राण तथा अन्यान्य इन्द्रियोंके विवाद की कथा पाई जाती है। चक्षु, कर्णादि इन्द्रियों के न रहने पर भी देह रक्षा हो सकती है किन्तु प्राणशक्ति के अभाव में देहरक्षा असम्भव है। उस आख्यायिका में यही तत्व प्रदर्शित हुआ है। ऐन्द्रियिक और दैहिक यावतीय क्रिया का मूल कारण एव आश्रय यह प्राणशक्ति ही है।

हमारी इन्द्रियों के सन्मुख कोई विषय उपस्थित होनेपर एक एक इन्द्रियद्वारा जो सब शब्द स्पर्श रूप रसादि विज्ञानलब्ध होता है उस को इन्द्रियां असंकीर्ण रूप से मन के निकट अर्पण करती हैं। युगपदुपस्थित असंकीर्ण इन राशि राशि अनुभूतियों के Sensations मध्य में मन ही एक श्रेणीबद्ध शृङ्खला स्थापन कर देता है नहीं तो संकीर्ण भाव से पृथक् पृथक् रूप में हमारा विषय विज्ञान Perceptions उत्पन्न ही नहीं हो सकता। पाश्चात्य मनोविज्ञान का Attention बहुत कुछ इस 'मन' के अनुरूप है। मन ही सम्पूर्ण इन्द्रियों में श्रेष्ठ इन्द्रिय है। जर्मन दार्शनिक महामति केण्ट Kant जिसे Understanding कहते हैं, यह 'मन' अधिकांश में वही तत्व है।

इस मन के अतिरिक्त सूक्ष्मतर और एक शक्ति है। जिस का नाम बुद्धि है। यही श्रुति का विज्ञानमय कोष है। अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान ही 'विज्ञान"

या "बुद्धि" नाम से परिचित है। बुद्धिवृत्ति की प्रधानता से यह कोष "विज्ञानमय" कहा गया है। मन ने देश काल में विभक्त कर जो उपलब्धियाँ उपस्थित की हैं विज्ञान वा बुद्धि उनको 'जाति" के अन्तर्गत कर के 'यह गो है, यह वृक्ष है, इत्याकार से' निश्चय करती है। विचारशक्ति के judgment इस बुद्धि द्वारा ही अन्त में यह अमुक वस्तु है यह अमुक पदार्थ है इस भांति विषयबोध वा पदार्थ वियोग लब्ध होता है। मन जैसे व्यक्तिगत श्रेणी विभाग करता है बुद्धि तैसे जातिगत श्रेणी विभाग करती है, तब हमारा विषय विज्ञान सुसिद्ध होता है। और लज्जा भय, क्रोध, वासना, दुःख, स्मृति प्रभृति धर्म बुद्धि की ही विविध वृत्तियां वा क्रियाएं हैं। मन एवं बुद्धि उभय को एकत्र "अन्तःकरण कहते हैं एकही अन्तःकरण के कार्य भेद से दो नाम मन और बुद्धि हैं। इन्द्रियाँ अन्तःकरण की ही विषयोपरक्त वृत्तियों के सिवा अन्य कुछ नहीं, विषयमात्र ही इन्द्रियमार्ग से उपस्थित होकर इन्द्रियों की विशेष २ क्रिया को उद्रिक्त करता है। अन्तःकरण के उस सब क्रिया के ऊपर प्रतिक्रिया करते ही हमारा विषय विज्ञान जन्मता है। अतएव अन्तःकरण ही समस्त विशेष२ विज्ञानों का साधारण आश्रय वा आधार है।

इस के सिवा सुषुप्ति के समय जीव को अन्य एक प्रकार की अनुभूति होती है। गाढ़ निद्रा से उठने पर जीव की स्मृति में एक साधारण सुखानुभूति अस्पष्ट रूप से उद्रिक्त हुआ करती है नहीं तो निद्रोत्थित व्यक्ति को "बड़े सुख से सो रहा था" ऐसा एक बोध नहीं हो सकता था। इस के द्वारा ही श्रुति 'आनन्दमय" कोष के अस्तित्व का अनुमान करती है। हमारा सारा सुख दुःख हर्ष विषादादि का भोग इस आनन्दमय कोष का ही अंश है।

आत्म चैतन्य के अधिष्ठानवश ही ये सब कोष अपना अपना काम करते हैं। आत्मा के अधिष्ठान बिना ये न तो क्रिया कर सकते और न विज्ञानादि उत्पन्न कर सकते थे। ये कोष ब्रह्म की स्वरूपोपलब्धि के द्वार हैं।

चतुर्थ परिच्छेद ।

(भार्गवी विद्या)

पुराकाल में एक दिन भृगु नामक एक बालक ने पिता श्री वरुणदेव की सेवा में उपस्थित होकर, बड़े विनीत भाव से जिज्ञासा की—

"भगवन्! मुझे ब्रह्म-विद्या विषयक उपदेश प्रदान करने की कृपा करें।"

महर्षि वरुण पुत्र का आग्रह समझ कर कहने लगे—"वत्स! यह शरीर तदन्तर्वर्ती यावतीय क्रिया निर्वाहक प्राणशक्ति एवं चक्षु, कर्ण, मन, वाक्य, प्रभृति ज्ञान साधक इन्द्रियां-ये सभी आत्मोपलब्धि के द्वार हैं। इनके साहाय्य से इनका साक्षीस्वरूप ब्रह्म पदार्थ जाना जा सकता है। समुद्भयभूत ब्रह्म चैतन्य से ही अभिव्यक्त हुए हैं ब्रह्म चैतन्य में ही सब भूत स्थिति करते हैं एवं प्रलयकाल में भूतवर्ग उस ब्रह्म चैतन्य में ही शक्तिमात्ररूप से विलीन होकर अवस्थान करेंगे।* उत्पत्ति स्थिति और प्रलय इस त्रिविध अवस्था में ही भूतवर्ग जिस का अवलम्बन कर रहते हैं, जिसे छोड़ इनका अवस्थान सम्भव नहीं, वही ब्रह्म है। यही ब्रह्म का लक्षण है। यह ब्रह्म वस्तु ही जाननी होगी। शरीर, (अन्न) प्राण एवं चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा उस ब्रह्म पदार्थ को जान सकते हैं। पुत्र! इस लक्षण द्वारा तुम ब्रह्म पदार्थ को जाननेकी चेष्टा करो।"

पुत्र भृगु, पिता के इन वाक्यों को श्रवण कर विचारने लगा कि,-पिता जी ने साक्षात् सम्बन्ध से तो ब्रह्म के स्वरूपका कीर्त्तन किया नहीं अन्न प्राणादि द्वारा योग से ही पिता जी ने ब्रह्म का लक्षण निर्देश किया है। सुतरां साधन-विशेष के द्वारा-इन्द्रिय और मन की एकाग्रता द्वारा-तपश्चर्या द्वारा-ब्रह्म-विज्ञान लाभ करना होगा, यही पिता जी का हृदयगत अभिप्राय जान पड़ता है। मन ही मन भृगु ने ऐसा आन्दोलन कर, इन्द्रियवर्ग की एकाग्रता साधनपूर्वक, निरन्तर ध्यान करना आरम्भ कर दिया। कुछ दिन इस प्रकार तपश्चर्या करते २ भृगु ने 'अन्न; को ब्रह्म

---

* "प्रलीयमानमपि चेदं जगत् शक्त्यवशेषमेव प्रलीयते' शक्तिमूलमेव च प्रभवति, इतरथा आकस्मिकत्वप्रसंगात्,, । वेदान्तभाष्य १ । ३ । ३०

समझ लिया । क्षिति आदि पञ्चभूत ही इस स्थूल देह के कारण हैं । क्षित्यादि पञ्च-भूतों का समष्टि रूप से * 'अन्न, कहा जाता है । इस अन्न का दूसरा नाम विराट् है । जितना कुछ भौतिक पदार्थ है, सब ही इस अन्न से उत्पन्न, अन्न को अवलम्बन कर अवस्थित है और प्रलय में इस अन्न में ही लीन होजायगा । सुतरां वरुणकथित ब्रह्म का लक्षण इस अन्न में ही प्रयुक्त होसकता है । अतएव भृगु ने अन्न को ही ब्रह्म मान लिया ।

किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् भृगु के अन्तःकरण में संशय उपस्थित हुआ । बहुत सोचने पश्चात् भृगु की समझ में आया कि, यह अन्न वा विराट् भी तो मूल वस्तु नहीं, यह भी उत्पन्न वस्तु है । अन्न का भी तो उत्पत्ति बीज देखा जाता है । स्थूल भूतमात्र तो सूक्ष्म-शक्ति से ही प्रादुर्भाव हुआ करता है । जो व्यक्त, स्थूल अवस्था है-वह तो अव्यक्त-सूक्ष्म अवस्था की ही परिणति है । यह विचार कर भृगु ने फिर एक दिन पिता वरुण से अपना संशय निवेदन किया, तब वरुणदेव ने फिर आज्ञा दी कि-

"वत्स ! तुम पुनः इन्द्रियों को व चित्त को एकाग्र करते हुए ध्यान, योग द्वारा प्रकृत सत्य के अनुसन्धान में लग जाओ । अवश्य ब्रह्म-तत्व समझ में आजा-यगा" । बालक भृगु पिता की आज्ञानुसार वही करने लगे । एकाग्र होकर नियत भावना करने लगे । कुछ समय ऐसे आचरण के अनन्तर भृगु के ध्यान में आया कि,-"प्राण-शक्ति" ही ब्रह्म पदार्थ है । भृगु ने सोचा कि जो स्थूल भूत वा 'अन्न, है वह प्राणशक्ति से ही उत्पन्न है, वह प्राणशक्ति की ही परिणति है । अन्न व जड़ीय आधार-प्राणशक्ति के ही घनीभवन का फल है । प्राणशक्ति ज्यों २ तेज, प्रकाश आदि के आकार से क्षयित वा विकीर्ण होती रहती है,-त्यों २ उसका आधार भी (अ-ग्रांश) घनीभूत होता है । इस घनीभवन से ही 'जल, उत्पन्न होता है एवं यह जल तेजशक्ति द्वारा परिपक्व होते २ कठिन 'पृथिवी' रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार प्राणशक्ति की क्रिया से ही स्थूल भूत उत्पन्न हुआ करते हैं † । समष्टिभाव में इस प्राणशक्ति का 'हिरण्यगर्भ, नाम से निर्देश किया जाता है । क्योंकि यही

---

* पञ्च-कोष-विद्या में-'अन्न, 'प्राणादि' का जो विवरण पाया जाता है, वह आध्या-त्मिक है, वह व्यष्टिरूप से दिया गया है । भार्गवी विद्या में उपदिष्ट 'अन्न' प्राणादिसम-ष्टिरूप से उक्त हुआ है । पाठक यह न भूलें ।

† "कारणं क्रियाशक्तिलक्ष्यं हिरण्यगर्भ-संकल्पाध्यवसायशक्तिविशिष्टतया च मनोविज्ञानशब्दलक्ष्यं ब्रह्मेति व्यजानात्"-टीकाकार ज्ञानामृत ।

यावतीय विज्ञानों का मूल बीज है। प्राणीराज्य में भी मन और बुद्धि इस प्राणशक्ति से ही विकाशित हुए हैं *। शक्ति की क्रिया होने के लिये, उसका जड़ीय (भौतिक) आश्रय आवश्यक है, फिर यह जड़ीय आश्रय भी-शक्ति की ही परिणति है, शक्तिके ही घनीभवन का फल है †। अतएव देह का अन्न एवं देहस्थ प्राणशक्ति को अन्नाद् कहा जाता है। और जड़ीय आधार शक्ति का ही रूपान्तर होने से; देह को अन्नाद् एवं प्राण को अन्न भी कह सकते हैं। फलतः प्राणशक्ति और प्राणशक्ति का आधार अन्न—ये दोनों ही परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। किसी को छोड़कर किसी की कल्पना नहीं की जा सकती। इस भांति तेज को अन्नादि एवं जल को अन्न कहा जा सकता है। शक्ति जितना ही तेज के आकार में विकीर्ण होकर क्षयित हुआ करती है, उसका जड़ीय अंश भी पहले जलीय भाव से संहत होता रहता है। अतएव तेज एवं जल-दोनों परस्पर अपेक्षा रखते हैं, एक को छोड़कर दूसरे की क्रिया सम्भव नहीं। इसी प्रकार पृथिवी अन्न एवं आकाश (भूताकाश) ‡ अन्नाद् कहाता है। तात्पर्य यह कि प्राणशक्ति के क्रियाविकाश से ही पञ्चभूत वा अन्न उत्पन्न हुआ है, यह प्राणशक्तिके आश्रयमें ही वर्तमान है और प्रलय समय यह प्राण शक्ति रूप से ही परिणत होगा। वरुण कथित ब्रह्म का लक्षण प्राणशक्ति में प्रयुक्त हो सकता है, सुतरां भृगु ने प्राण को ही ब्रह्म मान लिया-ध्यान योग से इसी सत्य का हृदय में अनुभव किया।

---

* क्योंकि प्राणशक्ति ही जब चक्षु आदि गोलकों में इन्द्रियादि शक्ति रूप से विकाशित होती है, तब उसके द्वारा विविध विज्ञानों का विकाश होता है। बाहर जो तेज, आलोकादि रूप से व्यक्त है, वही प्राणी शरीर में इन्द्रिय रूप से प्रकाशित है। 'सर्वविषयविशेषाणामेव स्वात्मविशेषप्रकाशकत्वेन संस्थानान्तराणि करणानि' बृहदारण्यके शङ्करः २। ४। ११। व्यष्टि भाव से प्राण-शक्ति ही पहले देह में अभिव्यक्त होती है एवं रस रुधिरादि को चालना करके देह और देहावयवों का गठन करती है। देहमें प्राण ही इन्द्रियोंका परिचालक है। निषेककालादारभ्य गर्भं पुष्यति प्राणः। नाप्राणं शुक्रं विरोहतीति प्रथमो वृत्तिलाभः प्राणस्य" वृ० भा० ६। १। १। अपानिति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा"-अथर्ववेद ११। २। २४।

† 'प्राणो वाह्यभूताभ्यां नामरूपाभ्यां मर्त्याभ्यां छन्नः"-प्राणेनात्मना नामरूपात्मकं जगत् व्याप्तम्-ऐ० आ० भाष्य। "अन्तःप्राण उपष्टंभकः प्रकाशकोऽमृतः बाह्यश्च कार्यलक्षणः (अन्नः) अप्रकाशकः मर्त्यः" वृ० भा०। "अन्नेन हि दामस्थानीयेन प्राणोबद्धः तच्चान्नं प्राणस्य स्थिति-कारणं भवति" ऐतरेयभाष्य।

‡ प्राण क्रिया (वायु) विशिष्ट आकाश को ही भूताकाश बोलते हैं।

परन्तु कुछ दिनों के बीतने पर भृगु के अन्तःकरण में फिर संशय उपस्थित होगया। भृगु ने देखा कि मन के संकल्प किये बिना इन्द्रियादि कोई भी शरीर में कोई क्रिया नहीं कर सकता। और मन का संकल्प, बुद्धि की स्थिर निश्चयता पर निर्भर है 'जब भृगु ने अपना संशय फिर पिता जी के निकट प्रकट किया तब पुनः रपि वरुणदेव ने यही आज्ञा दी कि, तप करो, मन को शुद्ध और एकाग्र करो और ध्यान योग द्वारा मुख्य ब्रह्मानन्द का अन्वेषण करो। भृगु जी फिर भी तपश्चर्यामें प्रवृत्त होगये। नियत मननशील भृगु जी के चित्त में अन्त में यह सत्य उदित हुआ कि, व्यष्टि रूप से दैहिक चेष्टा और इन्द्रियादि की यावतीय क्रिया मन के संकल्पाधीन हैं, और मन का संकल्प बुद्धि की विज्ञान की स्थिर निश्चयता पर ही एकांत निर्भर रहता है। समष्टिरूप में इस मन और विज्ञान को-ब्रह्म का 'संकल्प, वा इच्छाशक्ति कहा जाता है। सृष्टि के पहिले ज्ञानघन संकल्प से ही विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। उस ऐसी कामना या संकल्प ने प्राणरूप से-अनुकम्पनरूप से-वाक्रूप से अभिव्यक्त होकर, सब पदार्थों को गढ़ डाला है। अतएव प्राणशक्ति-आनन्दस्वरुप ब्रह्म के ही संकल्प, से अभिव्यक्त है। और इस संकल्प के आश्रय में ही प्राणशक्ति अवस्थान करती है एवं अन्त में ब्रह्म संकल्प में ही विलीन होजायगी। ब्रह्म का यह लक्षण देखकर भृगु संकल्प को ही ब्रह्म मानने लगे।

किन्तु कुछ काल व्यतीत होजाने पर भृगु का चित्त फिर भी सन्देह दोला में चपल होने लगा। पिता के आदेश से भृगु फिर तपश्चर्या में प्रवृत्त हुए। तप के प्रभाव से उनका चित्त अब प्रकृत ब्रह्मधारण में समर्थ होगया। भृगु ने समझा कि संकल्प और अध्यवसाय-'आनन्द, के ऊपर ही निर्भर हैं। अतएव आनन्द ही ब्रह्म है। मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म ही-आनन्दब्रह्म है। मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म के संकल्प से ही यह विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। और प्रलय में यह विश्व उस मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म में ही विलीन हो जायगा *। अतएव आनन्द को ही भृगु ने ब्रह्म निश्चय किया। भृगु ने यह भी समझ लिया कि, जो विशेष सत्ता है, उसके अन्तराल में निर्विशेष-सत्ता निश्चय ही है। इस प्रकार भृगु को सर्व

---

* 'स्वातन्त्र्ये सति सर्वैः प्रार्थ्यमानतया आनन्दशब्दवाच्यं 'माया विशिष्टं ब्रह्मेति विज्ञाय, विशिष्टस्य विशिष्टान्तरत्वानुपपत्तेः कारणोपलक्षितं विशुद्धानन्दं' ब्रह्मेति विज्ञातवान्' टीकाकार ज्ञानामृत यति।

साक्षी, निरूपाधिक आनन्द स्वरूप ब्रह्म वस्तु का ज्ञान हो गया *। क्रम-सूक्ष्म प्रणाली का अवलम्बन कर, भृगु ने निरूपाधिक ब्रह्मतत्वको भलीभांति समझ लिया।

जो मनुष्य इस विद्या का हृदयमें अनुभव कर सकता है, उसके निकट 'अन्न, और 'अन्नाद, का तत्व अपरिज्ञात नहीं रहता। जो जिसका पोषण करता है, वही उसका अन्न है एवं जो उस अन्न द्वारा पुष्ट होता है जो उस अन्न के आश्रय में परिपुष्ट होता है वही उस अन्न का 'अन्नाद, है, अन्न अन्नाद में प्रतिष्ठित है अन्नाद भी अन्न में प्रतिष्ठित है। दोनों दोनों के आश्रय हैं परस्पर दोनों उपकारक हैं। आधार (अन्न) व्यतीत, शक्ति की कल्पना नहीं की जाती, एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकता †। अर्थात् शक्ति जितना ही वायु, तेज, आलोकादिरूप से क्षयित (विकीर्ण) होती है, उतना ही उसका जड़ांश-घनीभूत होते होते अन्त में कठिन पार्थिव-भाव में संहत होता है। इसलिये शक्ति और अन्न दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। एक को छोड़कर दूसरा नहीं रह सकता, क्रिया नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि अन्न अन्नाद में प्रतिष्ठित है एवं अन्नाद अन्न में प्रतिष्ठित है। यह अन्नांश ही देह के अवयव गढ़ डालता है एवं प्राणांश उस देहाश्रयमें रहकर, चक्षु कर्णादि इन्द्रियाकारसे विकाशित होकर क्रिया करता है।

इस कारण अन्न की निन्दा न करना, अन्न को परित्याग नहीं करना, घर में अतिथि उपस्थित हो तो उसको बहुत अन्न देना चाहिये। सब काल में, सब अवस्था में ही अन्नदान कर्त्तव्य है। अन्नदान करने से अपनी भी अन्नप्राप्ति सिद्ध होती है।

ब्रह्म क्षेम रूप (प्राप्त द्रव्य के रक्षण रूप) से वाक्य में प्रतिष्ठित हो रहा है। योग (अप्राप्त द्रव्य की प्राप्ति) और क्षेम उभयरूप से ब्रह्म ही प्राण और अपान में अवस्थित हो रहा है ‡। ब्रह्म ही हस्तद्वय में कर्मरूप से अवस्थित है। ब्रह्म ही पदद्वय में गमनशक्तिरूप से एवं पायु में विसर्जन क्रिया-रूप से अवस्थित हो रहा है। यही ब्रह्म का 'आध्यात्मिक, विकाश है।

---

* निर्विशेष-सत्ता ही सृष्टि के प्राक्काल में सविशेष होती है अभिव्यक्ति की उन्मुख अवस्था धारण करती है। इस विशेष आकार का ही नाम 'अव्यक्त शक्ति, है यही मायाशक्ति है। यह उस पूर्ण साधारण शक्तिस्वरूप ब्रह्म की ही एक विशेषावस्था मात्र है। किन्तु विशेष एक अवस्था धारण कर लेनेसे वस्तु, अन्य कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं हो पड़ती, वह जो कुछ पहले था, अब भी वही है। अतएव परमार्थ दर्शी की दृष्टि में सर्वत्र एक ब्रह्म-सत्ता ही है। द्वितीयखण्ड की अवतरणिका देखो।

† अन्न—Matter, प्राण वा अन्नाद—Motion।

‡ पशु प्रभृति द्रव्य मनुष्य का ऐश्वर्य सूचित करते हैं। इसलिये पशुको "यश" कहा गया है।

वृष्टि से अन्न जन्मता और अन्न से जीव की तृप्ति होता है। सुतरां ब्रह्म ही तृप्तिरूप से वृष्टि में ठहर रहा है। और ब्रह्म ही बल रूप से विद्युत् में विराजमान है ब्रह्म ही यशरूप से पशुवर्ग में अवस्थान करता है *। यह नक्षत्र मण्डल में ज्योतिरूप है। ब्रह्म ही सर्वव्यापक आकाश रूप से अवस्थित है। यही ब्रह्म का "आधिदैविक" विकाश है।

ब्रह्म की महान् रूप से समस्त भोग्य वस्तु के केन्द्ररूप से † वृहत् रूप से, भावना करके उपासना कर्तव्य है। जो लोग उसे जिस भाव से, जिस गुण विशिष्ट रूप से, भावना करते हैं, वे वही हो जाते हैं, वे वही पाते हैं।

ब्रह्म की 'परिमद, रूप से-संहर्तारूप से उपासना करना। वृष्टि, विद्युत्, चन्द्रमा आदित्य और अग्नि ये पांच देवता, वायु वा प्राण शक्ति में विलीन होकर ध्वंस प्राप्त हुआ करते हैं।

वायु वा प्राण-स्पन्दन ही तेजादिका लयस्थान है। तेज, आलोक प्रभृति स्पन्दन सेही प्रकट है, स्पन्दनमें ही विलीन होता है। अतएव आकाश ही उक्त पाँच देवताओं का लयस्थान है।† ब्रह्म इस स्पन्दन द्वारा ही सारी वस्तुओं का संहार कर्ता है। इस प्रकार आकाश में ब्रह्मदृष्टि कर उपासना करना चाहिये।

इस भांति क्या आध्यात्मिक, क्या अधिदैविक सभी कार्यों के भीतर अनुप्रविष्ट ब्रह्मसत्ता का अनुसन्धान करना उचित है। सूर्यमण्डल में जो सत्ता अनुप्रविष्ट है, वही सत्ता अपनी इन्द्रियों में भी अनुप्रविष्ट है। उभय सत्ता एक वा अभिन्न है। यों सर्वत्र एकमात्र ब्रह्मसत्ता का बोध सुदृढ होने से जीवन्मुक्त हुआ जा सकता है। ऐसा साधक सकललोकों में विचरण करने में समर्थ हो जाता है। सकल लोकों में सकल पदार्थों का ब्रह्म के ही ऐश्वर्यरूप से अनुभव करता हुआ विचरण करता है। "मैं ही अन्न हूं, मैं ही अन्नाद हूँ मैं ही निरञ्जन आत्मा हूँ" इस प्रकार गान करता हुआ ऐसा साधक महा आनन्द से लोकलोकान्तरों में अद्वैत सत्ता का अनुभव करके विचरण करता है। मैं ही अन्न और अन्नाद का संहनन करता हूँ मेरे ही प्रयोजन साधनार्थ अन्न और अन्नाद एकत्रित होकर विविध लोकों में विविध देहों को बनाता है साधक इस भांति गान करते करते किसी भी वस्तुको

* मूल में है "नमः इति उपासीत। नाम्यन्ते इति कामाः भोग्यविषयाः। नम्यन्ते प्रह्वी भवन्ति अस्मै कामाः इति "नमः,,। भाष्यकार।

† आकाश वायु वा स्पन्दन से स्वतंत्र नहीं। "वायुराकाशेन अन्न इति आकाशः परिमरः। आकाशं वाय्वात्मानं ब्रह्मणः परिसरइत्युपासीत" भाष्यकार।

आत्मातिरिक्त स्वतन्त्र प्रयोजन विशिष्ट नहीं समझना * ऐसा साधक इस भाँति गीति का उच्चारण करता है कि मैं ही मूर्तामूर्तात्मक इस जगत् की आदि में सर्व प्रथम स्पन्दन रूप से अभिव्यक्त हुआ था। मैं ही देवताओं का अन्तवर्ती हिरण्यगर्भ हूं। मैं ही अमृत की नाभि हूं। मैं ही अन्न हूं. मैं ही अन्नाद हूं। यह त्रिभुवन मैं ही हूं। इस विश्व में मेरे सिवाय दूसरी वस्तु नहीं है। मेरा सत्य सर्वत्र अनुप्रविष्ट है। किसी भी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं अतएव मेरे सिवाय कोई वस्तु नहीं। यह जो अन्न और अन्नाद है इस का एक व्यावहारिक सत्ता प्रतीत होती है सही किन्तु "परमार्थ सत्ता व्यतीत वह स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं। परमार्थतः वे अन्न और अन्नाद कोई सत्य नहीं। कारण कि कार्यवर्ग की स्वतन्त्रता ही नहीं ब्रह्म से अतिरिक्त सभी पदार्थ 'असत्' असत्य हैं। मैं ही समस्त विश्व को ग्रास करता हूं। मैं आदित्य ज्योतिः स्वरूप सकल वस्तुओं का अवभासक हूं। मैं ही अद्वय ब्रह्म वस्तु हूं" साधक सब लोकों में इच्छानुसार भ्रमण कर के इस प्रकार सभी वस्तुओं को ब्रह्मसत्ता से अभिव्यक्त रूप में अनुभव करता हुआ नित्यानन्द में निमग्न होकर मुक्त हो जाता है।

यही उपनिषद् है। यही ब्रह्म विद्या है।

॥ ओम् तत्सत् ॥

हमने इस अध्याय में ब्रह्म के सम्बन्ध में जो उपदेश पाए हैं यहां पर उन की एक अति संक्षिप्त सूची लिखी जाती है।

१—ब्रह्म सत्य. स्वरूप, ज्ञान, स्वरूप और अनन्त स्वरूप है।

(क) सत्य ज्ञान आदि शब्द लक्षण द्वारा ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान कराते हैं। जगत् में प्रकट सत्ता और विज्ञान द्वारा हम एक अखंड सत्ता और अखंड ज्ञान का आभास पाते हैं।

---

* जो संहत हैं जिस के अवयव समूह एकत्र मिलित होकर एक ही प्रयोजन साधन करते हैं, समझना होगा कि उनका निजका कोई प्रयोजन नहीं। वे दूसरे के प्रयोजनार्थ ही क्रियाशील हैं। वेदान्त की यह भी एक प्रधान युक्ति है। मूल में लिखा है "श्लोककृत्" श्लोक शब्द का अर्थ है "कार्य-कारणात्मक देह" शङ्कर।

* अमृत अविनाशी कारण सत्ता। नाभि शब्द से यह तात्पर्य सूचितवेता है कि जो अविनश्वर कारण सत्ता हम में है वही सत्ता सब पदार्थों में ओतप्रोत है।

[२] ब्रह्म सत्य-स्वरूप है। जगत्कारण कहा जाने से ही ब्रह्म सत्य है। उस की सत्ता सब पदार्थों में अनुस्यूत हो रही है।

[क] मायाशक्ति ब्रह्म-सत्ता से 'स्वतन्त्र' कोई वस्तु नहीं। स्वतन्त्र नहीं है, इसीसे माया के होने भी ब्रह्म में सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नहीं आ सकता, उसके अद्वितीयत्व का व्याघात नहीं होता, उसके स्वतन्त्रत्व की हानि नहीं होती।

[ख] ब्रह्म, इस मायाशक्ति के योग से ही विश्वाकार से अभिव्यक्त है। सत् और असत्, सूक्ष्म और स्थूल, अन्न और अन्नाद रूप से मायाशक्ति का विकाश होता है। ये दो अंश ही जगत् को गढ़ डालते हैं।

[ग] अभिव्यक्तिके पूर्व, अभिव्यक्ति के पश्चात् एवं प्रलयमें, किसी भी अवस्था में 'नाम-रूप' ब्रह्म-स्वरूप को परित्याग नहीं करता किसी भी दशा में 'नाम रूप' ब्रह्म-सत्ता से स्वतन्त्र वस्तु नहीं।

[३] मनुष्य देह के 'पञ्च-कोष' का विवरण।

[४] स्थूल वस्तु का अवलम्बन कर क्रमशः सूक्ष्म में जाते जाते, अन्त में सबके साक्षी परम सूक्ष्मतर ब्रह्म का बोध होजाता है।

[५] ब्रह्म-सत्ता ही पांच कोषों में अनुप्रविष्ट है।

[६] अन्न और अन्नाद का तत्व-निर्णय।

[क] अव्यक्तशक्ति सूक्ष्म स्पन्दन रूप से व्यक्त होकर क्रिया करती हुई, अन्न और अन्नाद रूप से विकसित होती है।

[ख] अन्न और अन्नाद ने मिलित रूप से, जगत् के आधिदैविक और आध्यात्मिक पदार्थों को बनाया है।

[ग] अन्न और अन्नाद दोनों स्पन्दनशक्ति से 'स्वतन्त्र' नहीं हैं। और अव्यक्त शक्ति से स्पन्दन क्रिया भी "स्वतन्त्र" नहीं है।

[घ] अव्यक्तशक्ति निर्विशेष ब्रह्म-सत्ता से "स्वतन्त्र" नहीं है।

[७] एक अद्वय ब्रह्म-सत्ता ही सर्वत्र अनुस्यूत हो रही है। सुतरां किसी वस्तु की भी निजी स्वाधीन सत्ता नहीं है। अतएव ब्रह्म-सत्ता के सिवा अन्य कोई वस्तु ही नहीं है।

[८] जीवन्मुक्त का ब्रह्मानुभव।

इति शुभम्।

ग्रन्थ
समाप्त

उपनिषद् का उपदेश.

(तीन खण्डों में)

इस समय संसार के सभी शिक्षित इस बातको सहर्ष स्वीकार करते हैं कि भारत देश के अमूल्य धन उपनिषद् ग्रन्थोंमें जितनी तत्वपूर्ण बातें लिखी गयी हैं उतनी समस्त संसार की किसी भी भाषा में नहीं है। हमारी प्यारी भाषा में उपनिषद् ग्रन्थों को कई विद्वानोंने सटीक छापा है इनके द्वारा हिन्दी का बहुत कुछ उपकार भी हुआ है। तथापि सत्यता के अनुरोध से कहना पड़ता है कि इन पुस्तकों से तत्वपिपासु व्यक्तियों को जैसा लाभ पहुँचना चाहिये नहीं पहुँचा है। क्योंकि किसी भी संस्करण में न तो शङ्करभाष्य का मर्म ही खोला गया है और न श्रुतिके दार्शनिक एवं धर्म मत की धारा प्रवाह समालोचना ही की गई है उसी कमी को दूर करने के लिये यह ग्रन्थरत्न प्रकाशित किया गया है। पं० कोकिलेश्वर भट्टाचार्य विद्यारत्न एम० ए० उपनिषदोंके बड़े अच्छे ज्ञाता हैं आपने एक सौ आठ उपनिषदों के सारभूत १० उपनिषदों पर बङ्गला में उपनिषदेर उपदेश नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ तीन खण्डोंमें लिखा है यह पुस्तक उसी का अनुवाद है। अनुवादक हैं सुप्रसिद्ध पं० नन्दकिशोर जी शुक्ल वाणीभूषण। जैसा ही उत्तम मूल ग्रन्थ है वैसा ही सुन्दर अनुवाद हुआ है। इसके तीनों खण्ड छपकर तैयार हैं। पहिले खण्डमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक दूसरे में कठ और मुण्डक और इस तीसरे खण्ड में ईश केन प्रश्न माण्डूक्य तैत्तिरीय और ऐतरेय नामक छः उपनिषदों का अनुवाद है। तीनों खण्डों के प्रारम्भ में एक २ विस्तृत अवतरणिका भी दी गई है जिसमें अद्वैतवाद पर उठने वाले आक्षेपों का समाधान है साथ ही दार्शनिक मत की आलोचना है। मूल्य प्रथम खण्ड का १॥) द्वितीय का १।) और तृतीय का १॥।) है।

पता--मैनेजर ब्रह्मप्रेस इटावा